स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास की शिल्पविधि का विकास

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की डी० फिल्० उपाधि-हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)
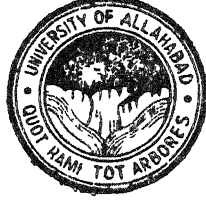
—: प्रस्तुति :—

दीपक प्रकाश त्यागी

वरिष्ठ शोध अध्येता

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

—: निर्देशन :—

डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

श्रद्धेय गुरुवर प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र को, जिन्होने 'लोचन अनंत उघारिया, अनंत दिखावनहार' से साक्षात्कार कराया एव अपने अनुजद्वय 'विकास', 'विवेक' को, जिनसे मुझे विवेक एवं विकास दोनों ही प्राप्त हुआ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में बहुमूल्य निर्देशन प्रदान करने वाले एव मेरे मानस मे शोध दृष्टि पल्लवित-पुष्पित करने वाले पूज्य प्रोफेसर सत्य प्रकाश मिश्र का ऋणी हूँ जिनसे पग-पग पर मार्गदर्शन प्राप्त कर इस शोधकार्य को सम्पन्न करने मे समर्थ हो सका। गुरु जी के इस ऋण पर आभार प्रकट करना मेरी मूढता ही होगी, क्योकि कबीर के शब्दो मे, 'क्या लै गुरू सतोखिए, हौस रही मन माहि'। आदरणीय प्रो० मीरा श्रीवास्तव का आभारी हूँ, जिन्होने विभागाध्यक्ष के रूप मे इस विषय पर कार्य करने की सारगर्भित अनुमति दी थी। वर्तमान अध्यक्ष प्रो० मालती तिवारी के प्रति भी कृतत्र हूँ, जिनके आदेशानुसार यह प्रबन्ध प्रस्तुत हो रहा है। प्रो० राजेन्द्र कुमार, डॉ० गिरिजा राय एव डॉ० कृष्णचन्द्र लाल (अध्यक्ष, गो० वि० वि०) ने समय-समय पर अपने विचार एव ज्ञान से मुझे समृद्ध किया उन्हे धन्यवाद देकर उनके महत्त्व को कम नहीं करना चाहता। डॉ० सुरेन्द्र दुबे, डॉ० रामदरश राय (रीडर, हिन्दी विभाग, गो० वि० गो०) डॉ० सूर्यनाथ पाण्डेय (रीडर, ही० रा० पी० जी० कालेज, संत कबीरनगर) के प्रति भी नतमस्तक हूँ। राजेन्द्र चतुर्वेदी, सुशील शाही, जितेन्द्र श्रीवास्तव, प्रणयकृष्ण, सूर्य नारायण, अनिल सिंह, बोधिसत्व, अखिलेश प्रताप सिह जैसे मित्रों के प्रति आभार ज्ञापन मात्र औपचारिकता होगी। आभरी हूँ शिव कुमार सहाय दम्पत्ति एवं श्रीमती सावित्री त्रिपाठी दम्पत्ति का, जिन्होने इलाहाबाद मे मुझे अभिवावकत्व दिया। पूज्य पिता डॉ० ओम प्रकाश सिह (रीडर, भूगोल विभाग) एवं माता श्रीमती कमला सिह के स्नेहसिक्त आर्शीवाद के बिना कुछ भी सम्भव नही था। छोटे भाई विकास एव विवेक इस मधुर बेला मे सहयोग के लिए उल्लेखनीय हैं। अन्त मे शिवा कम्प्यूटर वालो ने अथक परिश्रम से कम्पोजिग किया, इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

—: अनुक्रम :—

अध्याय - 1

भूमिका

(क) हिन्दी उपन्यास का उदय

(ख) हिन्दी उपन्यास का शिल्प

अध्याय : एक

(i) हिन्दी उपन्यास का उदय

(क) उपन्यास का स्वरूप

उपन्यास का उदय पूँजीवादी सभ्यता की देन है। 'पूँजीवादी सभ्यता ने ससार की कल्पनाप्रधान सस्कृति को जो भेटे दी है, उनमे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है उपन्यास।' 1 उपन्यास आधुनिक युग की जटिल वास्तविकता के चित्रण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम है, इसीलिए टामस मन ने कला रूप के लिहाज से इसे 'शुद्ध कविता' (अर्थात् भावनाप्रवणता) को स्थानापन्न करने वाली 'आलोचना' बताते हुए कहा है कि 'उपन्यास का महाकाव्य से वही सम्बन्ध है जो 'सचेतन सर्जनात्मकता' का अचेतन सर्जनात्मकता से होता है—जहाँ महाकाव्य अपनी आद्य-आख्यानात्मकता के द्वारा जीवन-समग्र को सरल रूप मे प्रस्तुत करता है, वहाँ उपन्यास मे आधुनिक ससार का आलोचनात्मक चित्र होता है।' 2 आज के जीवन का उसकी समग्रता मे चित्रण उपन्यास मे ही सभव है, अतः लारेस का यह कथन युक्तिपूर्ण है, 'उपन्यास जीवन का भास्वरग्रन्थ है। पुस्तके जीवन नही है। वे ईश्वर की प्रकम्पनमात्र है। लेकिन उपन्यास एक प्रकम्पन के रूप मे सम्पूर्ण मानव को जीवमान बना सकता है। कविता, दर्शन, विज्ञान या अन्य कोई भी पुस्तक प्रकम्पन जो कर पाते है उनसे वह उच्चतर है।' 3 जीवन मूल्यो का सक्रमण, समाज के नये सम्बन्धो की निर्मिति, उन्के बीच उठते हुए अनेक प्रश्नो को भौतिक या वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने की आकुलता, नवीन भौतिक सत्यो के बीच बनती हुई मानव-चरित्र की नई दिशाये, समाजिक विडम्बनाओ की त्रासदी, ये सारी बाते उपन्यास विधा की उत्पत्ति का कारण है। मैनेजर पाण्डेय की धारणा से पूरी तरह सहमत होते हुए कहा जा सकता है, 'उपन्यास के लिए यथार्थ की खोज का मतलब किसी स्थिर, स्थायी एव जडी भूत तथ्यात्मक यथार्थ की खोज नही है। यथार्थ स्थिर और स्थायी होता भी नही है, वह इतिहास प्रक्रिया का हिस्सा होता है, इसीलिए उपन्यास मे यथार्थ की खोज का मतलब है यथार्थ के गतिशील रूप की पहचान और उसकी सम्भावनाओं की तलाश।' 4

उपन्यास यथार्थ के निरन्तर अन्वेषण और रूप सम्बन्धी निरन्तर आविष्कार के कारण ही विगत तीन सौ वर्षो से यूरोप मे और लगभग सवा सौ वर्षो से भारत मे निरन्तर अपनी सामाजिक अर्थवत्ता और कलात्मक महत्त्व अक्षुण्ण रखे हुए है। उसका लक्ष्य अपने पाठक समुदाय से कुछ कहना है, उनसे सवाद स्थापित करना है, उन्हे दृष्टि देना है, केवल भाषिक चमत्कार दिखाना नही। उपन्यास विभिन्न समाजो, राष्ट्रीय सन्दर्भो, समुदायो और वर्गो की अस्मिताओ की पहचान और अभिव्यक्ति का सर्वाधिक सशक्त माध्यम साबित हुआ है। मैनेजर पाण्डेय के शब्द है, 'अगर मनुष्य की भाषिक चेतना उसकी

---

1 Ralph Fox The novel and the people, Page 53
2 The Art of the Novel in the Creative Vision - Ed by H M Block and T H Salinger, Page 94
3 Selected Literary Criticism D H Lawrence, Page 105
[Ed by Anthony Beal - Why the Novel Matters]
4 हस जनवरी 1999, पृष्ठ 14

सामाजिक चेतना का द्योतक है या जैसा कि कुछ लोग कहते है, भाषा मनुष्य की परिभाषा है, तो उपन्यास मे सामाजिक चेतना की व्यापकता और मनुष्य की परिभाषा की समग्रता दूसरे साहित्य रूपो से अधिक होती है।'[1]

ऑयन व्हाट ने यथार्थ के दो पहलू उपन्यासकार के लिए महत्त्वपूर्ण स्वीकार किये है—चरित्र चित्रण, पृष्ठभूमि चित्रण। इनकी मान्यता है—'उपन्यास विधा अन्य विधाओ तथा कथासाहित्य के पिछले रूपो से कितनी भिन्न है, यह इस बात से प्रकट होता है कि पात्रो के चरित्र-चित्रण और उनके परिवेश को सूक्ष्मता से प्रस्तुत करने मे कितना ध्यान दिया गया है।'[2] इसीलिए आयन व्हाट लिखते है कि उपन्यासकार का मुख्य कार्य मानवीय अनुभवो को निष्ठापूर्वक ईमानदारी से व्यक्त करना है। पूर्वस्थापित परम्पराओ पर ध्यान देना उसकी सफलता के लिए हानिकारक हो सकता है। इस प्रकार उपन्यास की सफलता के लिए दो बाते आवश्यक है—

1 रूढियो का अभाव

2 परम्परागत कथानक की उपेक्षा

उपन्यास एक प्रकार से सत्य की खोज और अयथार्थ का ध्वस करने का साहित्यिक अवदान है। मनुष्य-जीवन के यथार्थ का चित्र देने की आकाक्षा रखने वाली इस विधा ने मनोरजन के लिए परम्परागत साधन के रूप में कथा तत्त्व को स्वीकार किया, परन्तु मनुष्य-चरित्र के माध्यम से जीवन के विविध रूपो का उद्घाटन करना ही उसकी प्रमुख आकाक्षा रही है। इसीलिए प्रेमचन्द उपन्यास को 'मानव-चरित्र का चित्र' मानते है और मानव चरित्र के रहस्यो का उद्घाटन ही, उनके अनुसार, उपन्यास का सर्वप्रमुख लक्ष्य है—''मै उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यो को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।''[3] मानव चरित्र के उद्घाटन के लिए उपन्यास मे उन अनेक परिस्थितियो का चित्रण अनिवार्य हो जाता है, जिनमे मानव अपनी ग्रन्थियो तथा मानसिक ऊहापोह को निरावृत्त करे। इन परिस्थितियो को घटनाओ के माध्यम से ही प्रस्तुत किया जा सकता है। अत· उपन्यास घटनाओ के माध्यम से ही चरित्र का उन्मेष करने वाली कथा है।

उपन्यास को जीवन चरित्र के अत्यधिक निकट मानते हुए और भविष्य मे उपन्यास और जीवन-चरित्र के पूर्ण साम्य मे विश्वास रखते हुए भी, प्रेमचन्द को वास्तविक चरित्र का कल्पना शून्य, यथावत् चित्रण स्वीकार्य नही है। उनकी मान्यता है—''कथा साहित्य मे सम्प्रति काल्पनिक घटनाओ को यथार्थवृत्त करने का प्रयत्न किया जाता है, भविष्य मे यथार्थ पर कल्पना का आलेप करना होगा, ताकि वह कथा प्रतीत हो।''[4] यथार्थ के साथ कल्पना और कल्पना के साथ यथार्थ का यही सयोग कला है और प्रेमचन्द ने कलावादी न होते हुए भी कला की अवहेलना कहीं नही की है। इन दोनो अवधारणाओ को उन्होने बहुधा 'आदर्श' और 'यथार्थ' के माध्यम से प्रस्तुत किया है—

> ''यथार्थवाद यदि हमारी ऑखे खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान मे पहुॅचा देता है इसलिए वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते है, जहॉ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो ''[5]

---

1 हस, जनवरी 99, पृष्ठ 15
2 उपन्यास का उदय, पृष्ठ 12
3 कुछ विचार, पृष्ठ 47
4 कुछ विचार, पृष्ट 69
5 साहित्य का उद्देश्य, पृष्ठ 64

उपन्यास के विषय-चयन मे प्रेमचन्द ने लेखक की रूढि-मुक्ति मौलिक दृष्टि पर बल दिया है। उन्होने इस सन्दर्भ मे वाल्टर बेसेट की इस युक्ति का सशक्त समर्थन किया है—

> ''उपन्यासकार को अपनी सामग्री पर आले पर रखी हुई पुस्तको से नहीं, उन मनुष्यो के जीवन से लेनी चाहिए जो उसे नित्य ही चारो तरफ मिलते रहते है। मुझे विश्वास है कि अधिकाश लोग अपनी ऑखो से काम नही लेते।''[1]

प्रेमचन्द के अनुसार आदर्श उपन्यासकार वह है जो रचना के पश्चात् प्रेमचन्द के समान तटस्थ हो जाये और पात्र स्वय ही मुखर होकर चरित्र-विषयक सूचनाए तथा कथा को गति दे। कथोप-कथन का आधिक्य उपन्यासकार के लिए श्रेयस्कर है—

> ''उपन्यास मे वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाये, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा।[2]

किन्तु कथोपकथन के लिए कथोपकथन का समर्थन नही किया जा सकता। उपन्यास का साध्य चरित्र है। उनकी धारणा थी कि निकट भविष्य मे उपन्यास 'मानव चरित्र' के और और अधिक निकट आ जाएगा, अतः उपन्यास के पात्र यथार्थ जीवन के समीप होना चाहिए। डॉ० देवराज के अनुसार—

> '' उपन्यासकार का जीवन के विस्तार और गहराइयो से कितना घनिष्ट परिचय है—जीवन के भीतर घुसकर वह तत्सम्बन्धी वास्तविकताओ का आकलन करता है ।''[3]

इस प्रकार आधुनिकता प्रतिबद्ध यह विधा उन नवीनताओ, नई परिस्थितियो, नवसमस्याओ का साक्षात्कार कर समाज को नवीन व्यवस्था तथा सामजस्य देने का प्रयत्न करती है। डॉ० देवराज ने स्वीकार किया—

> ''उपन्यासकार अपनी विद्वता से नही, मानव-जीवन तथा चरित्र के प्रति अपनी सहज सूक्ष्म विश्लेषणात्मक दृष्टि से ही पाठक को प्रभावित कर सकता है।''[4]

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी चरित्र को महत्त्वपूर्ण स्थान देनेके साथ ही घटना पर भी बल दिया। इनके अनुसार—

> ''उपन्यास के रचना-कौशल, घटना-विन्यास का चातुर्य और तथ्यात्मक जगत् की समस्याओ में सीधे घुसने वाली भेदक निजी दृष्टि-इन तीन गुणों के कारण उपन्यास आज इतना लोकप्रिय साहित्याग बन गया है।''

उपन्यास के उद्देश्य के सम्बन्ध मे प्रेमचन्द का अपना, नितात निजी दृष्टिकोण है। वे चरित्रो को उपन्यास से पृथक नही करते। उपन्यास की सफलता भी चरित्रो की सफलता पर ही आश्रित है। इसीलिए प्रेमचन्द उपन्यास के तीन उद्देश्य स्वीकार करते है—

---

1 साहित्य का उद्देश्य, पृष्ठ 64

2 कुछ विचार, पृष्ठ 67

3 साहित्य चिन्तन, पृष्ठ 150

4 साहित्य और सस्कृति, पृष्ठ 63

1 मानव हृदय के रहस्यो का उद्घाटन

2 व्यक्ति का परिष्कार

3 सम्प्रेषण

आचार्य शुक्ल के अनुसार भी उपन्यास का सामाजिक परिवेश से गहरा जडाव है। उनके शब्द है—

''वर्तमान जगत् मे उपन्यासो की बडी शक्ति है। समाज जो रूप पकड रहा है उसके भिन्न भिन वर्गो मे जो प्रवृत्तियॉ उत्पन्न हो रही है, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नही करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते है। लोक या किसी जन समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ और चिंत्य परिस्थितियॉ खडी होती रहती है उनको गोचर रूप मे सामने लाना और कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासो का काम है।''[1]

किन्तु आचार्य शुक्ल की इस परिभाषा मे अनेक विसगतियॉ है, जिसे स्वीकार नही किया जा सकता। यह उपन्यास को गम्भीरता के परिवेश से आबद्ध कर देती है, जो अनुचित है। उपन्यास जहॉ मानवीय जीवन का चित्रण करते है, जीवन को गति एव दिशा प्रदान करते है तथा प्रेरणा का स्वरूप उपस्थित करते है, वही उनमे औपन्यासिक रस की अर्थात् आनन्द तत्त्व भी विद्यमान रहता है, जिसे राजेश्वर गुरू ने 'कथा रस' कहा है। दर्शन, मनोविज्ञान आदि गूढ विषयो की व्याख्या करना उपन्यास का कार्य नही है हेनरी जेम्स के अनुसार—

"A novel is its, broadest definition a personal a direct impression of life "[2]

इस प्रकार उपन्यास मे मूलत जीवन की आलोचना रहती है। डॉ० हल्बर्ट जे० मुल्लर ने लिखा है—

"The novel is typically a representation of human experience whether liberal oi ideal and thei fore in evitably a comment upon life "[3]

क्योकि उपन्यास मूलत: मानवीय अनुभव की अभिव्यक्ति करते है, चाहे वे आदर्शवादी हो या यथार्थवादी। 'इरा बोल्फर्ट' के अनुसार' उपन्यास जीये जाने वाले मानव जीवन की भाषा में विचारो का गद्य अनुवाद है। यह अनुवाद इतनी कुशलता से किया जाना चाहिए, जिससे पाठक स्वय अपने ही सम्बन्ध में अधिक से अधिक जान सके। इनके शब्द है—

"They aie prose translations of ideas into language of human life being lived the translation must be made with such aie accuracy as to increase the readers knowledge of his our self "[4]

राजेन्द्र यादव की धारणा है कि उपन्यास मे चित्रित व्यक्ति अपने सम्पूर्ण सन्दर्भ-परिवेश के साथ चित्रित होना चाहिए। प्रत्येक चरित्र अपने सही परिवेश मे ही प्रमाणिक हो सकता है, अपने परिवेश से निकलकर किन्ही अन्य परिस्थितियो मे वह

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 293

2 द आर्ट ऑफ फिक्शन-हेनरी जेम्स

3 माडर्न फिक्शन-ए स्टडीज ऑफ वैल्यूज—डॉ० हरबर्ट जे० मुल्लर, पृष्ठ 14

4 ह्वॉट इज ए नॉवेल एड ह्वॉट इज इट गुड फॉर, पृष्ठ 8 इरा बोल्फर्ट

पूर्णत अस्वाभाविक हो जाता है। अत. उसे उसकी समग्रता मे ही चित्रित किया जाना चाहिये। डा० धर्मवीर भारती उपन्यास की परिधि बहुत अधिक विस्तृत मानते है। उनका विचार है कि मानव-जीवन को उसके समग्र विस्तार मे चित्रित करने की जितनी क्षमता उपन्यास मे है, अन्य विधाओ मे नही है। इसीलिए अन्य विधाओ की तुलना मे अधिक लचीली एव सर्वसमावेशी विधा है। डॉ० धर्मवीर भारती के शब्द है—

> ''कविता और नाटक, दोनो की अपेक्षा मानव-जीवन के चित्रण के लिए उपन्यास का क्षेत्र कही अधिक विस्तृत है। गीतिकाव्यो के पुजीभूत भाव सत्य, दुखात नाटको के चिरतन सघर्ष और करुणा, गीति कथाओ की गति और प्रवहमानता, मुक्तको का उक्ति वैचित्र्य और नीति सत्य-इन सभी पुराने साहित्य-रूपो की शिल्पगत और वस्तुगत विशेषताओ को उपन्यास ने अपने व्यापक प्रसार मे ग्रहण किया था।'' [1]

पुराने साहित्य रूप ही नही आधुनिक साहित्य की विधाये भी उपन्यास के विकास मे उल्लेख्य है। आत्मकथा, जीवनी, डायरी, सस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज जैसी विधाओ ने उपन्यास को नया तेवर दिया है।

डॉ० धर्मवीर भारती के अनुसार उपन्यास का प्राणतत्त्व, साहित्य के समान, उसकी मानवीयता मे है। उपन्यास, समग्र मानवता के परिप्रेक्ष्य मे, अपनी विशिष्टता बनाये रखते हुए मनुष्य की अपने आपको उपलब्ध कराने की प्रक्रिया है। किन्तु व्यक्ति के चित्रण मे यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि उसकी वाह्य परिस्थितियो की अपेक्षा उसका अन्तर्जगत् अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योकि वह उसके युग की प्रतिध्वनि है। इनके शब्द है—

> ''प्रत्येक पात्र के अन्तर्जगत् मे दिखाई देने वाली उथल-पुथल उस युग के ढॉचे मे होने वाली उथल-पुथल पर एक कमेंट्री, एक व्याख्या होती है। अन्तर्जगत् के माध्यम से प्रस्तुत की जाने वाली यह व्याख्या, यह जीवन दर्शन ही किसी भी कलाकृति को महान बनाती है।'' [2]

अत उपन्यास मे लेखक व्यक्ति के माध्यम से, सामान्य मानवता से उस व्यक्ति-विशेष के युग तक की यात्रा प्रस्तुत करता है। अज्ञेय घोषणा करते है कि- 'अपने उपन्यासो मे मै स्वय हूँ।'' [3] यशपाल अपने उपन्यासो मे 'समाजधारा और विचारधारा के आधार मे तारतम्य प्रकट करने' [4] की बात स्वीकारते है तो निर्मल वर्मा 'कृति और कृतिकार के सम्बन्ध मे तटस्थता' [5] को अधिक महत्त्व देते है। हेनरी जेम्स के विचार से, 'उपन्यास अपनी व्यापक परिभाषा मे जिन्दगी का वैयक्तिक और सीधा प्रभाव है।' [6]

उपन्यास के सम्बन्ध मे विभिन्न उपन्यासकारो द्वारा व्यक्त उपर्युक्त विचारो से उपन्यास की कोई निश्चित परिभाषा भले ही न बनती हो, पर इनसे उपन्यास के परिवर्तनशील स्वरूप तथा जीवन के साथ इसके गहरे सम्बन्ध का पता तो चल ही जाता

---

1 मानव मूल्य और साहित्य, पृष्ठ 163 —डॉ० धर्मवीर भारती

2 मानव मूल्य और साहित्य, पृष्ठ 165 —डॉ० धर्मवीर भारती

3 शेखर एक जीवनी की भूमिका —अज्ञेय

4 साहित्य सदेश— 'आधुनिक उपन्यास' अक 1956, पृष्ठ 74

5 हिन्दी कहानी · अपनी जवानी —स० इन्द्रनाथ मदान पृष्ठ 38

6 नयी कहानी . सन्दर्भ और प्रकृति-देवी शकर अवस्थी, भूमिका, पृष्ठ 21

है, चाहे वह व्यक्ति का जीवन हो या समाज का अथवा स्वय उपन्यासकार का ही जीवन क्यो न हो। इसलिए कहा जा सकता है कि उपन्यास विधा की सबसे सही परिभाषा 'उपन्यास का इतिहास' ही है। हिन्दी मे 'परीक्षागुरू' और 'चन्द्रकान्ता' से लेकर 'शेखर एक जीवनी', 'गोदान', 'त्यागपत्र', 'मैला ऑचल', 'रागदरबारी', 'सूखा बरगद', 'रात का रिपोर्टर', 'दीवार मे एक खिडकी रहती थी'. 'बेदखल', 'विश्रामपुर का सत' तक या उससे भी आगे की विकासयात्रा उपन्यास के कथ्य और शिल्प विधान मे कितने परिवर्तनो को रेखाकित कर गयी है, उन सब को समेटकर ही उपन्यास की कोई परिभाषा बनायी जा सकती है। 'उपन्यास कभी व्यष्टि की ओर झुका है, कभी समष्टि की ओर कभी अछूते अचलो मे बैठकर परती-परिकथा लिखता रहा है, तो कभी आईना बनकर शहर मे घूमता रहा है, कभी व्यक्ति के अन्तर्मन की गहरी गुफा में प्रवेश कर उसके अवचेतन की कुठाओ की पडताल की है, तो कभी व्यापक समाज के 'झूठा सच' को पहचानने की कोशिश की है। कथाए गढी भी गई है और कथाहीन कथा भी रची गयी है, नायक बनाया भी गया है और नायक हटाया भी गया है।' [1]

वस्तुत: उपन्यास युग के नये मुहावरे की तलाश मे भटकता रहा है, वास्तव की पहचान के लिए नये-नये दृष्टिकोण अपनाता रहा है और युग के यथार्थ को सम्प्रेषित करने के लिए एक से एक नये शिल्पो का प्रयोग करता रहा है। इसलिए यह नि:सकोच कहा जा सकता है कि ''आज उपन्यास को किसी निश्चित परिभाषा मे बाधना कठिन हो रहा है, किसी चौखटे मे फिट करना मुश्किल हो रहा है। इसे आज के जटिल और वास्तव को पकडना है, उजागर करना है या पेश करना है—इस बारे मे गहरा मतभेद पाया जाता है। अगर इसे पुराने ढॉचे को तोडने की छूट नही मिलती, अपना मुहावरा खोजने की अनुमति नही मिलती, नयी भाषा को तलाशने का अवसर नही मिलता, नये प्रयोग करने की स्वतत्रता नही मिलती, तो यह आज के वास्तव को अभिव्यक्ति देने से रह सकता है।'' [2]

---

1 हिन्दी के आचलिक उपन्यासो की शिल्प विधि-डॉ० जहावर सिह, पृष्ठ 48

2 हिन्दी उपन्यास . एक नई दृष्टि —इन्द्रनाथ मदान, पृष्ठ 82

(ख) हिन्दी उपन्यास : उद्भव व विकास

'उपन्यास' हिन्दी मे नवीन प्रचलित शब्द है, जो 19वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे बगाल से आया। इस बगला शब्द का पर्यायवाची अग्रेजी शब्द 'नावेल' है जो इटालियन 'नोवेला' से लिया गया है। इटली मे 15 वी शताब्दी मे,तब तक प्रचलित कहानियो की शैली और स्वरूप से भिन्न, नये ढग की छोटी या बडी कहानियो को लोग 'नोवेला' कहने लगे थे। बोकाशियो की सुप्रसिद्ध रचना 'देकामेरो' की कहानियो को 'नोवेला' ही कहा जाता था। हिन्दी साहित्य मे सर्वप्रथम् 1875 ई० मे 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' मे अपूर्ण रूप से प्रकाशित 'मालती' शीर्षक गद्यकथा के लिए उपन्यास पद का प्रयोग मिलता है। इसके बाद प० बालकृष्ण भट्ट ने 1879 ई० में'हिन्दी प्रदीप' मे अधूरी ही प्रकाशित अपनी रचना 'रहस्यकथा' को उपन्यास की सज्ञा दी। 1880 ई० मे देवकीनदन त्रिपाठी ने अपनी रचना 'अमृत चरित्र' को एक 'नवीन उपन्यास' और राधाकृष्णदास ने अपनी कृति 'नि:स्सहाय हिन्दू' को 'शुद्ध उपन्यास' कहा।

आधुनिक उपन्यास का वास्तविक विकास तो यूरोप के सास्कृतिक जागरण के साथ होता है, जिसमे इटली सर्वप्रथम है। सामन्ती प्रथा के ह्रास और नवोत्थित व्यापारी वर्ग की उन्नति का वह युग था। इटली के प्रारम्भिक उपन्यासो मे प्रेम और साहस की नैतिक एव पौराणिक कहानियॉ होती थी, जिनमे पतित स्त्रियो, दुराचारी पादरियो, असभ्य किसानो और कुलीन घरो के सामन्तो को पात्र बनाया जाता था। बोकेशियो की व्यग्य एव विनोदपूर्ण रचना 'डी केमरॉन' (1948) प्रारम्भिक युग की विश्वविख्यात रचना है। इसके बाद स्पेन के लेखक सरवंते ने 17 वी शताब्दी के आरम्भ मे 'डॉन क्विजोट' (1605) की रचना की, जिसने उपन्यास साहित्य मे एक क्राति मचा दी। तदन्तर लगभग एक शताब्दी के प्रयोगो के बाद फ्रास मे रेबेले का आगमन हुआ जिसने 'गरगन्तुआ' लिखा और उसके बाद फ्रास मे रोमानी और यथार्थवादी उपन्यासो की रचना होती रही। इन सब देशो के उपन्यास साहित्य की परम्परा ने अग्रेजी उपन्यास के उद्भव की रूपरेखा तैयार की। पूँजीवादी सभ्यता के उदय ने यथार्थवाद को एक प्रणाली के रूप मे विकसित कर उपन्यास को नया तेवर दिया।

18 शब्दाब्दी मे अग्रेजी उपन्यास के विकास के साथ ही 'उपन्यास' आधुनिक अर्थ मे अपनी प्रौढता को प्राप्त हुआ। वैसे तो इग्लैण्ड में 16वी शताब्दी के अन्त मे ही उपन्यासो की रचना प्रारम्भ हो चुकी थी और 18 वी शताब्दी से पहले सर फिलिप सिडनी का 'आर्केडिया' जॉन बुनियन का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस', डैनियल डैफो का 'रबिन्सन क्रूसो' और 'मॉलफ्लैण्डर्स' तथा जोनाथन स्विफ्ट का 'गुलीवर्स ट्रेवल्स' प्रकाशित हो चुके थे। इन उपन्यासो की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इन्होने अन्योक्ति विधान द्वारा मानव-जीवन के यथार्थ का चित्रण करके आधुनिक उपन्यास के विकास के लिए एक समृद्ध परम्परा तैयार कर दी थी। इस परम्परा की भूमि पर आधुनिक उपन्यास का इग्लैण्ड मे, तत्पश्चात् फ्रास और रूस मे प्रौढतम् विकास हुआ। 18वी एव 19वी शताब्दी के इग्लैण्ड मे सैम्युअल रिचर्डसन् (पामेला), स्मॉलैट (रोडेरिक रैण्डम) फील्डिग (टॉम जोन्स, अमीलिया) जैसी औपन्यासिक प्रतिभाओ, उपन्यास ने कला को सिद्धान्त एव सरचना दोनो ही स्तरो पर समृद्ध किया। इसके बाद इग्लैण्ड मे स्टर्न, गोल्डस्मिथ, जेन आस्टिन, वाल्टर स्कॉट, चार्ल्स डिकेन्स, इलियट (एडमवीड) आदि अनेक उपन्यासकार हुए। फ्रास मे वाल्तेयर, विक्टर ह्यूगो, बालजाक, स्टेन्टाल, जार्जसेण्ड, जोला, फ्लाबेयर और अनातोले फ्रान्स जर्मनी मे गेटे, रूस मे पुश्किन, तुर्गनेव, द्वायत्सोवस्की, तॉलस्ताय जैसी प्रतिभाओ ने उपन्यास साहित्य को नूतन आयाम दिया। गोर्की ने तो रूसी उपन्यास की विकासधारा को एक नया मोड दिया। वह एक ऐसे जीवन के चित्रण की ओर प्रवृत्त हुआ, जिसका आत्मिक शक्ति स्रोत अभी तक अक्षुण्ण था। जिसके भीतर जीवन के सहज, स्वाभाविक और स्वस्थ-

विकास की अनन्त सम्भावनाये अभी तक निहित थी-भले ही उस जीवन का तात्कालिक रूप एकदम अनगढ एव प्रकट रूप मे जड रहा हो।

भारत मे उपन्यास के उदय के लिए अनेक कारक परिस्थितियाँ—सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक- थी। ब्रिटिश पूर्व भारत की आर्थिक प्रणाली का मुख्य आधार ग्राम था। प्रत्येक गॉव एक आर्थिक ईकाई थी। चार्ल्स मेटकाफ ने लिखा है—

> ''गॉव छोटे-छोटे गणतत्र थे। उनकी अपनी आवश्यकताए गॉव मे ही पूरी हो जाती थी। बाहरी दुनिया से उनका कोई सम्बन्ध नही था। एक के बाद दूसरा राजवश, एक के बाद दूसरा उलट फेर हुआ, हिन्दू-पठान, मुगल, सिक्ख, मराठो के राज्य बने और बिगडे पर गॉव वैसे के वैसे बने रहे।''[1]

कहना न होगा कि अग्रेजी राज्य की स्थापना ने देश की सामाजिक -आर्थिक व्यवस्था को विघटित कर दिया। अग्रेजो ने सामतवादी व्यवस्था के स्थान पर पूँजीवादी सभ्यता को जन्म दिया, जिसके गर्भ से महाजनी सभ्यता पैदा हुई। 'कवि वचन सुधा' मे भारतेन्दु जी अग्रेजो की आर्थिक मानसिकता के सन्दर्भ मे लिखते है—

> ''चाहे कैसे भी द्रव्य एकत्र किया हो, अन्त मे सब जायेगा विलायत मे, क्यो कि हमारी शोभा की सब वस्तुएँ वहॉ से आवेगी, कपडा, झाड-फानूस, खिलौने, कागज और पुस्तक इत्यादि सब वस्तुए विलायत से आवेगी। उसके बदले यहॉ से द्रव्य जायेगा तो परिणाम यह होगा कि चाहे किसी उपाय से द्रव्य लो अन्त मे तुम्हारे देश से निकल जायेगा।''

इसीलिए भारतेन्दु जी 'भारत दुर्दशा' नाटक मे लिखते है—

> 'रो अहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
> हा हा । भारत दुर्दशा न देखी जाई ।।,[2]

अग्रेजो ने जमीदारो एव बडे-बडे जोतदारो का ऐसा समाज खडा किया, जो उनकी आखिरी विदाई के समय तक उनकी सहायता करता रहा। लार्ड कार्नवालिस ने 1793 ई० मे बगाल बिहार, उडीसा मे जमींदारी प्रथा लागू की, जो बाद मे बम्बई, म०प्र०, उ०प्र० के कुछ इलाको मे भी जारी की गई। 1820 ई० मे सर टामस मुनरो ने इस्तमरारी बन्दोबस्त लागू करके जमीन को व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप मे बदल दिया। फलत: जमीन का व्यावसायिककरण आरम्भ हुआ। पहले कृषि का उत्पादन गॉव मे रह जाता था, किन्तु अब बाजारो मे जाने लगा। रुपये के चलन से भी व्यावसायिकता मे वृद्धि हुई, पर किसान दिन प्रतिदिन कुचक्र मे फॅसता गया। उन्हे एक ओर सरकारी मालगुजारी अदा करने की परेशानी रहती थी, दूसरी ओर महाजन की ऋण अदायगी की। इन परिस्थितियो ने नये सामाजिक सम्बन्धो को जन्म दिया। सामूहिक खेती के नष्ट होने के कारण सम्बन्धो की रागात्मकता टूटने लगी, पारस्परिक सम्बन्ध जटिल हुए। ऐसी स्थिति मे नई सस्थाओ का जन्म हुआ और पचायतो के स्थान पर कचहरियॉ स्थापित की गयी। इनकी स्थिति को भारतेन्दु ने इस रूप मे देखा—

---

1 आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास —डॉ० बच्चन सिह, पृष्ठ 24

2 भारतेन्दु युग और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ —डॉ० राम विलास शर्मा, पृष्ठ 71

नई नई नित तान सुनावै।
अपने जाल मे जगत फँसावै॥
नित नित हमे करै बल सून।
क्यों सखि सज्जन नहि कानून॥ [1]

पुरानी अर्थ व्यवस्था के स्थान पर जिस नई अर्थव्यवस्था का अग्रेजो ने प्रसार किया, उससे अनजाने ही, ऐतिहासिक विकास की ओर अग्रसर हुआ। गावो की जड़ता टूटी, गॉव एव नगर एक दूसरे के सम्पर्क मे आने के लिए बाध्य हुए। एक घेरे मे बॅधी हुई अर्थव्यवस्था राष्ट्रोन्मुख हो चली। जाति प्रथा को भी धक्का लगा। जाति आर्थिक वर्गों में बदलने लगी, किन्तु जाति प्रथा की जडता को तोडा नही जा सका। आर्थिक वर्गो का उदय तो हुआ, पर जातीय उच्चता की भावना विलीन न हो सकी। जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है—

> ''हिन्दुस्तान पर पश्चिमी सस्कृति का आघात, एक गतिशील समाज और आधुनिक चेतना का एक ऐसे गतिहीन समाज पर आघात था, जो मध्यकालीन विचारधारा से बधा हुआ था।''[2]

अग्रेजी राज्य की स्थापना और आर्थिक परिवर्तनो के सन्दर्भ मे जीवन की नई समस्याएँ पैदा हुई। इन समस्याओ से जूझने के लिए नये दृष्टिकोण की आवश्यकता पडी, जिसे अग्रेजो की नई शिक्षा प्रणाली ने पूरा किया। डॉ० बच्चन सिह के अनुसार—

> ''आधुनिक शिक्षा पद्धति का समारम्भ एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है। आधुनिक होने की दिशा मे यह एक गत्यात्मक प्रयत्न माना जायेगा।''[3]

आधुनिक शिक्षा प्रणाली के निर्माण मे तीन शक्तियो का योगदान है—

1 ईसाई मिशनरी
2 अग्रेजी सरकार
3 व्यक्तिगत प्रयास

ब्रिटिश राज्य की स्थापना के पूर्व ईसाई मिशन दक्षिण भारत मे धर्म-प्रचार के कार्य मे लगे हुए थे, किन्तु 1813 ई० के चार्टर ऐक्ट से ईसाई मिशनरियो को नई चेतना मिली। इस ऐक्ट के बाद आने वालो मे अलेक्जेडर डफ उल्लेख्य है, जो धर्म प्रचार का कार्य अग्रेजी शिक्षा के प्रसार द्वारा करना चाहता था। इस सबके होते हुए भी मिशनरियो के अपने काम ने भी भारतीय भाषाओ को गद्य शैली दी। कैरे, बाउन, नेवलिन, स्किनर, वैले आदि ने भारतीय भाषाओ मे बाइबिल का अनुवाद किया। भारतीय धर्म-पुराण आदि को भी उन्होने विवरणात्मक गद्य मे प्रस्तुत किया। स्त्री शिक्षा के प्रसार मे भी इनका योगदान है।

---

1 भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ —डॉ० राम विलास शर्मा, पृष्ठ 70
2 हिन्दुस्तान की कहानी —जवाहरलाल नेहरू, पृष्ठ 357
3 आधुकि हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ० बच्चन सिह पृष्ठ 28

सरकारी प्रयास के अन्तर्गत सर्वप्रथम वारेन हेस्टिंग्स उल्लेखनीय है, जिसने मुसलमानो के तुष्टीकरण के लिए कलकत्ता मदरसा, 1780 ई० मे खोला। इसी प्रकार सन् 1791 मे बनारस के रेजीडेन्ट ने 1791 ई० मे सस्कृत कालेज की नीव डाली। कलकत्ता का फोर्ट विलियम कालेज, 1801 ई० मे मुख्यत· कम्पनी के सिविल सर्वेट्स को अग्रेजी शिक्षा देने के लिए खोला गया। किन्तु यहॉ के अध्यापको ने देशी भाषा मे पाठ्य पुस्तके, कोश, और व्याकरण तैयार करने का भी काम किया। गिलक्राइस्ट, कैप्टेन विलियम प्राइस, लल्लू लाल, सदल मिश्र ने अपनी-अपनी सीमाओं मे हिन्दी को खडा होने की परिस्थितियॉ दी। राजाराम मोहन राय ने भी प्राच्य शिक्षा के स्थान पर मैकाले की नई शिक्षा नीति को अपना समर्थन दिया। उनका विचार था कि व्याकरण की बारीकियो और अद्वैत-वेदान्त, मीमासा, न्याय को कठस्थ करने मे नवयुवको के एक दर्जन वर्ष नष्ट करना अच्छा नही है।

किन्तु इसमे सन्देह नही कि शिक्षा के सन्दर्भ मे अग्रेजो की मानसिकता कलुषित थी। प० बालकृष्ण भट्ट एक निबन्ध मे लिखते है—

> ''इन दिनो की वर्तमान शिक्षा का फल यह होता है कि देशत्व का अभाव दिन-दिन बढता जा रहा है और क्यो ऐसा न हो जब बालको की बाल्य अवस्था से ही उनके मन मे बैठाया जाता है कि आर्य लोग वास्तव मे यहॉ के असली पुराने बाशिन्दे न थे वरन कही बाहर से आये यहॉ बस गये थे। स्वदेशाभिमान को नष्ट कर देने की कैसी अच्छी युक्ति है।''[1]

अग्रेजो को अपने दफ्तरो के लिए देशी बाबुओ की आवश्यकता थी, जिससे उनका व्यवसाय और प्रशासन निर्बाध गति से चल सके। 'कवि वचन सुधा' मे भारतेन्दु जी अग्रेजी शिक्षा का रहस्य बताते हुए लिखा है—

> ''अग्रेज लोग केवल हम लोगो को उसी शिक्षा का उपदेश करते है, जिसमे किसी प्रकार की शिल्पादिक कोई कला न हो,केवल पडित मात्र बन जाय।''[2]

इतना ही नहीं'कवि वचन सुधा' मे प्रकाशित अपने एक लेख 'क्या हमारे देशबान्धव अब भी सचेत न होगे' मे अग्रेजी शिक्षा पर टिप्पणी करते है—

> ''अग्रेजो ने हम लोगो को विद्यामृत पिलाया और उससे हमारे देश-बान्धवो को बहुत लाभ हुए। इसे हम लोग अमान्य नही करते, परन्तु उन्ही के कहने के अनुसार हिन्दुस्तान की बृद्धि का समय आने वाला है, सो तो एक तरफ रहा पर प्रतिदिन मूर्खता, दुर्भिक्षता और दैन्य प्राप्त होता जाता है। अग्रेजो ने उनको अपनी विद्या की रुचि लगाकर राजनीति मे उनके चित्त का आकर्षण किया और सच्ची विद्या उन्हे न दिया और यही कारण है कि हम लोग इनकी माया से मोहित हो गये और हम लोगो को अपनी हानि दृष्ट न पडी।''[3]

---

1 बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबन्ध —स० डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र की भूमिका से

2 भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याए —डॉ० राम विलास शर्मा, पृष्ठ 71

3 वही, पृष्ठ 72

इसीलिए कालान्तर मे अग्रेजी शिक्षा से लोगो का मोहभग हुआ। तभी तो एक तरफ जहॉ हिन्दू पुनरुत्थान आन्दोलन चला, वही दूसरी तरफ नवजागरण का स्वर भी सुनाई पडने लगा। प्रेस के आविष्कार के कारण सास्कृतिक , सामाजिक राजनीतिक, धार्मिक विचारो के प्रचार-प्रसार को न केवल एक माध्यम मिला, वरन् समाचार पत्रो के माध्यम से विचार-विनिमय भी होने लगा। ये पत्रिकाये एक ओर जनतान्त्रिक भावनाओ का पोषण कर रही थी, तो दूसरी ओर सामाजिक रूढियो पर आघात करते हुए राष्ट्र निर्माण मे योग दे रहा थी। ब्रह्मसमाज प्रार्थना समाज, आर्य समाज जैसी सस्थाए इसी समय पुराने धर्म को नये समाज के अनुरूप ढालने का प्रयास कर रही थी। ब्रह्मसमाज ने राजाराम मोहन राय के नेतृत्व मे अनेको सामाजिक कुरीतियो परप्रहार किया, जाति प्रथा को उन्होने अमानवीय और राष्ट्रीयता विरोधी कहा। सती प्रथा के खिलाफ जहॉ आन्दोलन चलाया, वही विधवा विवाह, स्त्री पुरुष के समान अधिकार का भी समर्थन किया। रानाडे ने 'प्रार्थना समाज' के माध्यम से मनुष्य की समानता पर जोर दिया। वे जाति-प्रथा के विरूद्ध और अन्तर्जातीय विवाह के पक्षधर थे। वे भारतीय सस्कृति को नवीन वैज्ञानिक विचार-प्रणाली के अनुरूप ढालने की कोशिश कर रहे थे। विवेकानद ने भी रामकृष्ण मिशन के माध्यम से समाज को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। उन्होने लिखा है—

> ''दुनिया के सभी दूसरे राष्ट्रो से हमारा अलगाव ही हमारे पतन का कारण है और शेष दुनिया की धारा मे समा जाना ही इसका एक मात्र समाधान है। गति जीवन का चिन्ह है।''[1]

विवेकानन्द ने जाति-प्रथा, कर्मकाड, पूजा-पाठ और अधविश्वास पर आधारित हिन्दू धर्म की कडी आलोचना की। उनके शब्द है—

> ''हमारे सामने खतरा यह है कि हमारा धर्म रसोईघर मे न बद हो जाए। हम अर्थात् हममें से अधिकाश न वेदान्ती है, न पौराणिक और न ही तात्रिक। हम केवल 'हमे मत छुओ' के समर्थक है। हमारा ईश्वर भोजन के बर्तन मे है और हमारा धर्म यह है कि 'हम पवित्र हैं, हमे छूना मत।'[2]

आध्यात्मिक स्तर पर उन्होने मनुष्य-मनुष्य की समता, एकता, बधुत्व और स्वतत्रता की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया। उन्होने कहा—

> ''मेरा ईश्वर दु:खी मानव है, मेरा ईश्वर पीडित मानव है, मेरा ईश्वर हर जाति का निर्धन मनुष्य है।''[3]

कहना न होगा कि पश्चिम की भौतिकता से चमत्कृत देशवासियो को पहली बार यह अहसास हुआ कि हमारी अपनी परम्परा मे भी कुछ ऐसी वस्तुए है, जिन्हे दुनियॉ के सामने गौरवपूर्ण ढग से रखा जा सकता है। स्वामी दयानद सरस्वती ने आर्य समाज के लिए वेदो को आधार माना। वे वेदो को शाश्वत और अपौरुषेय मानतेथे। इन्होने सामाजिक और नैतिक मूल्यो को देखते हुए एक आचार-सहिता बनाई। इसमे जाति-भेद, मनुष्य-मनुष्य या स्त्री पुरुष मे असमानता के लिए कोई स्थान नही था। वैदिक धर्म के व्याख्याता होने के बावजूद ये पाश्चात्य शिक्षा के समर्थक थे। अपने हिन्दूवादी दृष्टिकोण के बावजूद आर्य समाज

---

1 आधुनिक भारत —डॉ० बिपिन चन्द्र, पृष्ठ 153

2 वही, पृष्ठ, 153

3 आधुनिक भारत —डॉ० बिपिन चन्द्र, पृष्ठ 154

ने राष्ट्रीय विचारधारा को आगे बढाने मे आश्चर्यजनक योगदान किया। उत्तर भारत के आचार विचार रहन-सहन, साहित्य-सस्कृति पर आर्य समाज का गहरा प्रभाव पडा। गद्य की भाषा के परिष्कार मे भी इस आन्दोलन का अभूतपूर्व योग है। छुआछूत पर जितना प्रबल आघात इस आन्दोलन ने किया, उतना और किसी ने नही किया।

इस्लाम धर्म मे व्याप्त कुरीतियो एव जडताओ के उन्मूलन के लिए मिर्जा गुलाम अहमद के 'अहमदिया आन्दोलन' एव सैयद अहमद खॉ के 'अलीगढ आन्दोलन' ने उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह कर भारतीय सभ्यता एव सस्कृति को प्रभावित किया।

स्पष्ट है कि अग्रेजो ने इस देश मे नई अर्थव्यवस्था, औद्योगिकता, सचार-सुविधा, प्रेस आदि को अपने निजी स्वार्थो के लिए स्थापित किया, फिर भी इससे देश का हित हुआ। एक जड व्यवस्था से छूटकर देश को नूतन गत्यात्मकता का अनुभव हुआ, परम्पराये टूटने लगी। नूतन परिवेश मे, ऐतिहासिक मॉग के फलस्वरूप, लोग अपने को नये ढग से ढालने लगे। अग्रेजो की प्रशासनिक और आर्थिक नीतियो के फलस्वरूप भारत मे मध्यवर्ग का उदय हुआ, जो कालान्तर मे उपन्यास के उदय के लिए जिम्मेदार हुआ। यह मध्यवर्ग सरकारी मुलाजियो, शिक्षको, व्यावसायिक प्रतिष्ठानो के कर्मचारियो तथा छोटे-छोटे व्यावसायिओ के समूह के रूप मे निर्मित हुआ। न चाहकर भी शासन प्रबन्ध मे अग्रेजो को भारतीयो की सहायता लेनी पडी और इसके लिए उन्हे शिक्षा का प्रसार करना पडा। नये शिक्षित वर्ग के बीच शेक्सपीयर, डीफो, जानसन, स्कॉट, लिटन की रचनाये लोकप्रिय हो रही थी। बर्टनकृत 'अरेबियन नाइट्स' और जी डब्ल्यू० एम० रेनल्ड के घटनाप्रधान उपन्यास इस काल के भारतीय अग्रेजी पाठको के बीच बहुत लोकप्रिय हुए। धीरे-धीरे समाज का शिक्षित वर्ग अग्रेजी नावेल से परिचित हुआ, जो भारतीय साहित्य के लिए सर्वथा नया साहित्य रूप था।

भारतीय उपन्यास का उदय 19वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे ही सम्भव हो पाया, यद्यपि इसके लिए परिस्थितियॉ पिछले पचास वर्षो से निर्मित होती आ रही थी। इसके उदय की पृष्ठभूमि बगाल मे पहले तैयार हुई। 'आलालेर घरेर दुलाल' (टेकचन्द ठाकुर), 'नवबाबू विलास' (1825 भवानीचरण बन्द्योपाध्याय), 'अगुरीय विनिमय' (1862, भूदेव मुखर्जी) के रूप मे बग्लासाहित्य मे उपन्यास का उदय हुआ, लेकिन इसे स्वस्थ स्वरूप बमिक चन्द्र चट्टोपाध्याय ने दिया। 1865 मे बकिम बाबू ने पहला उपन्यास 'दुर्गेश नन्दिनी' लिखा और एक साल के बाद 'कपाल कुण्डला' फिर तीन साल के अन्तराल के बाद 'मृणालिनी'। नामवर सिह का कथन है—

> ''तथाकथित 'अग्रेजी ढग के नावेल' का तिरस्कार करके ही बकिमचन्द्र के रोमास धर्मी उपन्यासो ने भारतीय राष्ट्र और भारतीय उपन्यास की अपनी पहचान बनाने मे पहल की।'' [1]

बकिम बाबू ने अपने ऐतिहासिक एव सामाजिक दोनो ही प्रकार के उपन्यासो द्वारा अपने समय की जिन्दगी को केन्द्र में रखा, पर उनकी दृष्टि मुख्यत: मानवीय सम्बन्धो और सामाजिक समस्याओ के गम्भीर चित्रण पर केन्द्रित रहती है। बकिम बाबू के बाद रवीन्द्र नाथ टैगोर ने 'गोरा' और 'घरे-बाइरे' में अंतर्जीवन और वाह्य जीवन के व्यापक सत्यो के रासायनिक मिश्रण और समन्वय द्वारा विश्व उपन्यास साहित्य को एक नवीन और महत्त्वपूर्ण मोड दिया। विशुद्ध औपन्यासिक कला और औपन्यासिक

---

1 'अग्रेजी ढग का नावेल और भारतीय उपन्यास' —डॉ० नामवर सिह, पृष्ठ 7, साखी, प्रवेशाक-स केदारनाथ सिह

रस के स्तर पर शरतचन्द्र ने रवीन्द्र युगीन उपन्यासो से प्रगति की। इनके लेखन से उपन्यास मे चरित्रगत वैचित्र्य उभर उठा और रोमाचक घटनाओ का स्थान सामान्य जीवन की आकस्मिक वाह्य घटनाओं अथवा केवल शारीरिक भगिमा या मानसिक उत्तेजना ने ले लिया। 'देवदास', 'चरित्रहीन', 'श्रीकान्त', 'गृहदाह', '**पथेरदावी**' ने अपने-अपने स्तर पर हिन्दी उपन्यास को कथ्य एव शिल्प दोनो ही स्तरों पर समृद्ध किया।

स्पष्ट है कि बगला उपन्यास ने हिन्दी उपन्यास के उदय मे जहाँ प्रेरणा का काम किया, वही हिन्दी के उपन्यासकारो ने बगला उपन्यासो का अनुवाद करके भी प्रेरक शक्ति अर्जित की। बाबू गदाधर सिह ने बग विजेता और दुर्गेश नदिनी का अनुवाद किया। बाबू राधाकृष्णदास, कार्तिक प्रसाद खत्री बाबू रामकृष्ण वर्मा ने बगला के उपन्यासो के अनुवाद की जो परम्परा चलाई, वह बहुत दिन तक चलती रही। भारतेन्दु युगीन हिन्दी उपन्यासो पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—

> ''नाटको और निबन्धो की ओर विशेष झुकाव रहने पर भी बग-भाषा की देखा-देखी नये ढग के उपन्यासो की ओर ध्यान जा चुका था। इस समय तक बग भाषा मे बहुत से अच्छे उपन्यास निकल चुके थे। अत· साहित्य के इस विभाग की शून्यता शीघ्र हटाने के लिए उनके अनुवाद आवश्यक प्रतीत हुए।''[1]

इसके अतिरिक्त यदि प्रारम्भिक उपन्यासो पर ध्यान दिया जाय तो उनमे बीज रूप से भारत का प्राचीन कथा साहित्य भी प्रेरक तत्त्व के रूप मे दिखाई पडती है। किशोरी लाल गोस्वामी के 'पुनर्जन्म या सौतिया दाह' (1907) मे सुशीला और सुन्दरी का चरित्र 'वासवदत्ता' और 'रत्नावली' के आदर्श पर ढाला गया है। प० देवी प्रसाद शर्मा उपाध्याय 'सुन्दर सरोजिनी' उपन्यास की कहानी मध्ययुगीन प्रेमाख्यानो के आदर्श पर बुनी गयी है, जिसमे नायक-नायिका के बीच प्रेमोदय का आधार स्वप्न दर्शन माना गया है। ठाकुर जगमोहन सिह का 'श्यामास्वप्न' संस्कृत 'कथा' के आदर्श पर रची गयी एक प्रेमकहानी है। वस्तुत प्रारम्भिक उपन्यासकारो का कथा रचना सस्कार अग्रेजी 'नावेल' और बगला उपन्यास के साथ ही सस्कृत की कथा-आख्यायिका तथा हिन्दी की मध्ययुगीन प्रेम-कहानियो के सम्मिलित प्रभाव से निर्मित हुआ था। यह भी सच है कि क्रमश हिन्दी उपन्यास प्राचीन सस्कारो से युक्त होता गया और अब पूर्णत अग्रेजी का 'नावेल' हो गया है।

हिन्दी उपन्यास के उद्भवकालीन वातावरण पर दृष्टि डाले तो साहित्य मुख्यत दो प्रकार की प्रवृत्तियो से परिचालित है। एक प्रवृत्ति मनोरंजन की थी, दूसरी सामाजिक जागरण की। ऐय्यारी-तिलिस्मी, जासूसी एव चित्र-विचित्र रहस्यमय वासना-परक प्रणयचित्रो से युक्त दोनो ही प्रकार के उपन्यास मनोरजन की प्रवृत्ति से ही परिचालित थे। सामाजिक जागरण की प्रेरणा से परिचालि उपन्यास उपदेशप्रधान और सुधारवादी थे। इनमे से कुछ सनातन धर्म की प्राचीन परम्परा के पोषण मे प्रवृत्त थे और कुछ नवीन बौद्धिक जागरण का स्वागत करते हुए नये सुधारो का समर्थन कर रहे थे। शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास की एक क्षीण धारा भी दिखाई देती है। किन्तु इन ऐतिहासिक उपन्यासो की मुख्य प्रवृत्ति इतिहास से हटकर प्रणयकथाओ, विलासलीलाओ, रहस्यमय प्रसगो तथा कौतूहलवर्द्धक घटनाचक्रो की कल्पना मे लीन हो जाती है।

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास —आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 249

मनोरजनप्रधान उपन्यास, सामाजिक जागरण के उपन्यास एव ऐतिहासिक उपन्यास के रूप मे किया गया यह वर्गीकरण तत्कालीन मन स्थिति को समझने मे सहायक होते हुए भी कृतियो के विवेचन मे सुविधाजनक नही है। मनोरजन का तत्त्व न्यूनाधिक हर युग के कथा-साहित्य का प्रेरक रहा है। प्रेमचन्द पूर्व सामाजिक जागरण से प्रेरित उपन्यास भी मनोरजन के तत्त्व से सर्वथा रहित नही है। यहॉ तक कि प्रेमचन्द ने भी आत्मपरिष्कार के साथ-साथ मनोरजन को साहित्य का मुख्य उद्देश्य स्वीकार किया है। उनके शब्द है—

> ''हमारा प्राचीन साहित्य केवल मनोरजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरजन के साथ आत्मपरिष्कार भी था''।[1]

इसलिए विषय की दृष्टि से इसे तीन वर्गो मे रखा जा सकता है—

1 सामाजिक —घटना प्रधान, चरित्र प्रधान और भाव प्रधान

2 ऐतिहासिक —शुद्ध ऐतिहासिक, ऐतिहासिक रोमान्स

3 घटना प्रधान शुद्ध मनोरजक—ऐय्यारी-तिलिस्मी, जासूसी, साहसिक एव चित्र-विचित्र घटनात्मक

सामाजिक— हिन्दी साहित्य का प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' इस बात का दस्तावेज है कि हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ सामाजिक यथार्थ की पहचान से होता है। लाला श्रीनिवास दास का 1882 ई० मे प्रकाशित यह उपन्यास, जिसे आचार्य शुक्ल ने 'प्रथम अग्रेजी ढग का मौलिक उपन्यास' कहा, 'अपनी भाषा मे नयी चाल की पुस्तक'[2] है। लेखक ने नयी चाल को समझाते हुए लिखा है—

> ''अपनी भाषा मे अब तक वार्ता रूपी जो पुस्तके लिखी गयी है उनमे अक्सर नायक, नायिका वगैरह का हाल ठेठ से सिलसिलेवार लिखा गया है ''जैसे कोई राजा, बादशाह, सेठ-साहूकार का लडका था। उसके मन मे इस बात से यह रुचि हुई और उसका यह परिणाम निकला'' ऐसा सिलसिला कुछ भी नही मालूम होता। लाला मदन मोहन एक अग्रेजी सौदागर की दुकान मे अस्बाब देख रहे है। लाला ब्रजकिशोर, मुशी चुन्नीलाल और मास्टर शिम्भूदयाल उनके साथ है। इनमें मदन मोहन कौन, ब्रजकिशोर कौन, चुन्नीलाल कौन और शिम्भूदयाल कौन है? इनका स्वभाव कैसा है? परस्पर सम्बन्ध कैसा है? हर एक की हालत क्या है? यहॉ इस समय किसलिए इकट्ठे हुए है? ये बाते पहले से कुछ भी नही बतायी गयी। हॉ, पढने वाले धैर्य से सब पुस्तक पढ लेगे, तो अपने-अपने मौके पर सब भेद खुलता चला जायेगा और आदि से अत तक सब मेल मिल जायेगा।''[3]

स्पष्ट है कि इस नाटकीय आरम्भ को ही लाला श्री निवास दास ने 'नयी चाल' कहा है। रचना की 'नयी चाल' की प्रेरणा उन्हे अग्रेजी उपन्यास से मिली, जिसे उन्होने स्वय ही स्वीकार किया है—

---

1 प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —स० डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, (निबन्ध) उपन्यास, पृष्ठ 82

2 परीक्षा गुरु —लाला श्रीनिवास दास, की भूमिका से।

3 'परीक्षा गुरु' की भूमिका से

''मुझको महाभारतादि सस्कृत, गुलिस्तॉ वगैरह फारसी के साथ ही स्पेक्टेटर, लार्डबेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कपूर आदि के पुराने लेखो और स्त्रीबोध आदि के वर्तमान रिसालो सै बडी सहायता मिली है। [1]

इस तकनीकि नवीनता की दृष्टि से निश्चय ही परीक्षा गुरू हिन्दी का प्रथम अग्रेजी ढग का मौलिक उपन्यास है। इस उपन्यास मे दिल्ली के एक कल्पित रईस लाला मदनमोहन का स्वाभाविक चित्र उतारा गया है। लाला मदन मोहन रईस आदमी है। उनका जीवन झूठे खुशामदियो के बीच भोग-विलास मे व्यतीत होता है। उनके मित्र लाला ब्रजकिशोर हैं। इनके रूप मे लेखक ने भारतीय नवजागरण के एक प्रतिनिधि चरित्र को प्रस्तुत किया है। उसमे ज्ञान की अकूत पिपासा है। शास्त्रो और आचार ग्रथो का उसने गभीरतापूर्वक अध्ययन ही नही किया है, भरसक वह उन्हे अपने जीवन मे उतारने का प्रयास भी करता है। उनके उद्धरण और सन्दर्भ देकर वह मदनमोहन को सही रास्ते पर लाने का प्रयास करते हुए एक तरह से पाठक-वर्ग को भी इस सबका लाभ पहुॅचा रहा होता है। विदेशो के अनेक दार्शनिको एव चिन्तको का अध्ययन भी उसने किया है और समस्त ज्ञान का उपयोग वह अपने और दूसरो के जीवन को सार्थक बनाने के लिए करता है। चापलूसो के चक्कर मे फॅसे मदन मोहन को सही रास्ते पर ले आता है। लेखक के अनुसार ''जो बात सौ बार समझाने से समझ मे नही आती, वह एक बार की परीक्षा से मन मे बैठ जाती है और इसी वास्ते लोग परीक्षा को गुरू मानते है।'' [2]

परीक्षा गुरू का महत्त्व यदि एक ओर बहुत निजी और वास्तविक लगने वाले घटना प्रसगो के बीच कथा के विकास की दृष्टि से है तो दूसरी ओर मानवीय व्यवहार की विविधता और विस्तार मे भी है। अनेक जातियो, वर्गो और धर्मो के पात्रो के माध्यम से इसकी कथा बुनी गई है। वकील, व्यापारी, दलाल, हाकिम, वेश्याये, ठेकेदार, सम्पादक आदि विभिन्न पेशे एव व्यवसायो के लोगो से बसा यह एक वास्तविक समाज है। इसी विस्तृत समाज के बीच लेखक अच्छे-बुरे की पहचान पर बल देता है। डॉ० विजयशकर मल्ल ने परीक्षा गुरू के महत्त्व पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—

''परीक्षा गुरू अपने समकालीन मध्यवर्गीय समाज और देश-दशा का विस्तृत परिचय देता है। एक नये मध्यवर्गीय व्यापारी की स्थिति का चित्रण करने वाले इस उपन्यास में इस वर्ग की पुरानी और नई पीढी का वैषम्य साकेतिक ढग से अच्छे रूप में दिखलाया गया है। नायक मदन मोहन नवशिक्षित मध्यम वर्ग की कमजोरियो का मूर्तिमान रूप है। झूठी सम्मान-भावना, अकर्मण्यता, अग्रेजो की नकल आदि मे वह एकदम मध्यवर्गीय कमजोरियो का पुजीभूत रूप है।'' [3]

इस काल के सामाजिक उपन्यासो मे एक ओर यदि सनातन धर्म और आर्यसमाज के सघर्ष को अकित किया गया है, वही अधिकतर उपन्यासो मे आर्यसमाज की प्रगतिशील भूमिका के प्रभाव मे स्त्री की शिक्षा, विधवाओ की स्थिति और पाश्चात्य शिक्षा और सस्कृति के दुष्प्रभावो को उद्घाटित किया गया है। 'देवरानी जेठानी की कहानी' की भूमिका मे प०

---

1 'परीक्षा गुरु' की भूमिका से

2 'परीक्षा गुरु' की भूमिका से

3 आलोचना, अक्टूबर, पृष्ठ 54, 67

गौरीदत्त ने इस तथ्य पर जोर दिया है कि 'स्त्रियो को पढने-पढाने के लिए जितनी पुस्तके लिखी गई है, अपने-अपने ढग से वे सब अच्छी होने पर भी उसने इसे भिन्न और नए रग-ढग से लिखा है।'[1] लेखक ने यह दिखाने की कोशिश भी की है कि एक ही काम को पढी-लिखी और बेपढी स्त्री के करने मे क्या और कैसा अन्तर होता है। इसी प्रकार 'भाग्यवती' की भूमिका मे भी श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भारत खण्ड की स्त्रियो को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो', को अपनी रचना के उददेश्य के रूप मे प्रस्तुत किया है। ''मै निश्चय करता हूँ कि इस ग्रथ के पढने से लोक परलोक विहित-अविहित, योग्य-अयोग्य सर्व प्रकार के व्यवहारो का ज्ञान हो जायेगा। और चाहे यह अनछुई और कल्पित कहानी और अनुत्पन्न पुरुषो के उपदेश है, परन्तु पढनहार को सब ऐसे प्रतीत होगे कि जैसे प्रत्यक्ष खडे होते और सामने बैठे शिक्षा करते है।''[2] अपने इसी घोषित उद्देश्य के फलस्वरूप लेखक नायिका भाग्यवती के चरित्र मे सद्व्यवहार और सेवा के महत्त्व पर विशेष बल देता है। एक शिक्षित और गुणवती स्त्री अपने मायके और ससुराल दोनो ही परिवारो मे कैसे उजाला कर सकती है, भाग्यवती के चरित्र द्वारा लेखक इस तथ्य पर बल देता है। अपनी शिक्षा के कारण ही वह अनेक प्रकार की सामाजिक कुरीतियो, पाखण्ड और अधविश्वासो से स्वय भी बचती है और दूसरो को भी बचाती है। 'भाग्यवती' मे एक दोहे की सहायता से लेखक इसे स्पष्ट करते है—

विद्या बन्धु विदेश मे, विद्या विपत सहाय।
जो नारी विद्यावती, सो कैसे दु:ख पाय॥
राजभाग सुखरूप धन, विपत समय तज जॉह।
इक विद्या विपता समय, तजे न नर की बॉह।[3]

प० गौरीदत्त की तरह प० श्रद्धाराम फिल्लौरी भी अग्रेजी शासन और व्यवस्था की प्रशसा करते है। अपनी नायिका द्वारा वे उसके 'चतुर और प्रजावत्सल' रूप की प्रशसा करवाते है।

भारतेन्दु-युग के लेखको का मुख्य अन्तर्विरोध ब्रिटिश राज के उत्साहपूर्ण सहयोग और अपने देश की सास्कृतिक विरासत के द्वन्द्व के रूप मे देखा जा सकता है। बालकृष्ण भट्ट ने इसी तथ्य की ओर सकेत करते हुए 'हिन्दी प्रदीप' मे लिखा था—

> ''राजभक्ति और प्रजा का हित दोनो का साथ कैसे निभ सकता है? जैसे हॅसना और गाल का फुलाना, बहुरी चबाना और शहनाई का बजाना एक सग नही हो सकता ऐसे ही यह भी असभव और दुर्धट है राजभक्ति का फल पहले देखने मे बडा मीठा है पर परिणाम मे महामन्दकारी और रूखा है।''[4]

बालकृष्ण भट्ट अपने 'नूतन ब्रह्मचारी' (1886) और 'सौ अजान एक सुजान' (1892) नामक उपन्यासो मे वे ब्रिटिश प्रभाव के प्रतिपक्ष के रूप मे भारतीय आदर्शो और परम्परा को प्रतिष्ठित करते दिखाई देते है। 'नूतन ब्रह्मचारी' मे महाराष्ट्रीय ब्राह्मण बिट्ठल राव के पुत्र ब्रह्मचारी विनायक के सरल व्यवहार के प्रभाव से डाकुओ के सरदार का हृदय परिवर्तन दिखाया गया है। यह विद्यार्थियो को चारित्रिक शिक्षा देने के लिए लिखा गया है। लेखक के अनुसार—

---

1 'देवरानी जेठानी की कहानी' की भूमिका से
2 भाग्यवती —श्रद्धाराम फिल्लौरी की भूमिका से
3 भाग्यवती से
4 'बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबन्ध —स० डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र' की भूमिका से।

"शिक्षा विभाग मे जिस तरह की पाठ्य पुस्तके प्रचलित है उन्हे थोडा ही पढने से मालूम हो सकता है कि बालको पर इसका क्या परिणाम होगा। हमारी इस पुस्तक के पढने से पाठको को अवश्य मालूम हो जायेगा कि बालको के पढाने के लिए यह कितनी शिक्षाप्रद है और शिक्षा विभाग मे जारी होने से हमारे कोमल बुद्धि वाले बालको को कितनी उपकारी हो सकती है।" [1]

'सौ अजान एक सुजान' पर 'परीक्षा गुरु' का प्रभाव स्पप्ट है। उपन्यास की घटनाये भिन्न है लेकिन उसका लक्ष्य और ढॉचा वही है। इसमे भी प० चन्द्रशेखर नामक एक सदाचारी और विद्वान अध्यापक, सेठ हीराचद के पुत्र रूपचद के असामयिक निधन के बाद उसके कुसगत और दुर्गुणो मे फॅसे पुत्रो को सुमार्ग पर लाता है। ये दोनो ही वर्णन प्रधान उपन्यास है और किसी भी कलात्मक उपलब्धि की अपेक्षा अत्यन्त स्थूल ढग से चरित्र निर्माण को ही अपना लक्ष्य मानकर चलते है।

मेहता लज्जाराम शर्मा वैचारिक स्तर पर सनातन हिदू दृष्टि के समर्थक उपन्यासकार है, जो समाज मे तीव्रगति से विकसित अग्रेजी सभ्यता और शिक्षा के दुष्प्रभावो को अकित करके भारतीय सस्कृति और सस्कारो को प्रतिपक्ष के रूप प्रस्तुत करते है। 'धूर्त रसिकलाल' (1899) मे रसिकलाल नामक एक धूर्त व्यक्ति के मित्रघात और विश्वासघात की कहानी है। 'स्वतत्र रमा और परतत्र लक्ष्मी' (1899) रमा और लक्ष्मी नामक दो बहनो को आमने-सामने रखकर पश्चिमी और भारतीय जीवन पद्धतियो की तुलनात्मक समीक्षा मे प्रवृत्त होता है। 'आदर्श दम्पत्ति' (1904) मे वे स्त्री की सामाजिक असुरक्षा को अकित करते है। 'सुशीला विधवा' (1907) मे भारतीय समाज मे विधवा की दयनीय स्थिति का चित्रण है, जिसे चाहते हुए भी पुनर्विवाह का अधिकार नही है। 'बिगडे का सुधार अथवा सती सुखदेवी' भी अपने नाम के अनुरूप, अग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवक वनमाली के बहुविध स्खलन और नैतिक विचलन को केन्द्र मे रखकर अन्तत अपनी पतिव्रता पत्नी द्वारा उसके सुधार की कहानी है। 'आदर्श हिन्दू' (1915) मे लेखक हिन्दू के लिए तीर्थयात्रा के महत्त्व का प्रतिपादन करता है। अपने इस उपन्यास मे इन्होने आर्य समाज के सुधारवादी कार्यक्रमो की आलोचना करके सनातनी हिन्दू दृष्टि और कर्म की मर्यादा का बखान करता है। अपने इस उपन्यास मे लेखक ने भारतीय समाज मे तेजी से विकसित होने वाले मध्यवर्ग के अनेक द्वन्द्व और अन्तर्विरोधो को विश्वसनीय रूप मे प्रस्तुत किया है।

किशोरी लाल गोस्वामी भी वैचारिक स्तर पर सनातन हिन्दू धर्म के अनुकूल है। इनके सामाजिक उपन्यासो मे 'त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी' (1890 ई०), 'लीलावती वा आदर्श सती' (1901 ई०) 'राजकुमारी' (1902 ई०) 'चपला वा नव्य समाज' (1903 ई०), 'पुनर्जन्म वा सौतिया दाह' (1907 ई०), 'माधवी माधव वा मदन मोहिनी' (1909 ई०), 'अँगूठी का नगीना' (1918 ई०) आदि प्रसिद्ध है। इनके प्राय: सभी उपन्यास स्त्री प्रधान है और उनमे प्रेम के विविध रूपो का चित्रण मिलता है। उन्होने जहॉ एक ओर सती-साध्वी देवियो के आदर्श प्रेम का चित्रण किया है, वही दूसरी ओर साली बहनोई के अवैध प्रेम, विधवाओ के व्यभिचार, वेश्याओ के कुत्सित जीवन, देवदासियो की विलास-लीला आदि का भी सजीव अकन किया है।

इस परम्परागत सनातन हिन्दू दृष्टि से भिन्न साम्प्रदायिक सद्भाव की दृष्टि से राधाकृष्णदास का 'नि.सहाय हिन्दू' इस कालावधि का एक उल्लेखनीय उपन्यास है। भाग्यवती की तरह यह भी अपने लिखे जाने के लगभग नौ वर्ष बाद प्रकाशित

---

1 नूतन ब्रह्मचारी की भूमिका से

हुआ। हिन्दू मुस्लिम सौहार्द्र की दृष्टि से उल्लेखनीय इस रचना मे गोवध की समस्या केन्द्र मे है। लेकिन इसका प्रशसनीय पक्ष यह है कि यह किसी रूढ हिन्दू या धार्मिक दृष्टि के उत्साहपूर्ण समर्थन से मुक्त है।

स्पष्ट है कि हिन्दी उपन्यास का यह विकास काल गहरे नैतिक आग्रहो और दबावो का काल है। इसीलिए ऐसा लगता है कि प्रेम को उपन्यास के लिए लगभग एक वर्जित क्षेत्र माना जाता था। युवा मानसिकता को दीक्षित करके सस्कारो का निर्माण ही इस काल के सामाजिक उपन्यासो का एकमात्र लक्ष्य था। ऐसी स्थिति मे ठाकुर जगमोहन सिह का 'श्यामा स्वप्न' (1888) ब्रजनदन सहाय के 'राजेन्द्र-मालती' और 'सौन्दर्योपासक' (1912) तथा अयोध्या सिह उपाध्याय 'हरिऔध' के 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (1899) और 'अधखिला फूल' (1907) आदि इस वर्जित क्षेत्र मे प्रवेश के आरभिक महत्त्वपूर्ण प्रयास है।

ठाकुर जगमोहन सिह का 'श्यामा स्वप्न' श्यामसुन्दर नामक एक क्षत्रिय युवक और श्यामा नामक एक ब्राह्मण लडकी के प्रेम को केन्द्र मे रखकर विकसित होता है। पडोस का साहचर्य भाव ही अनजाने ही उनके मन मे प्रेम बनकर समा जाता है। छोटी-बडी बाधाओ के बीच, श्यामा की छोटी बहन की मध्यस्थता और सहयोग से यह प्रेम काफी दूर तक जा पहुँचता है। आत्महत्या की धमकी देकर वह श्यामा को अपने और निकट ले आता है जिसकी परिणति अन्ततः श्यामा के गर्भवती हो जाने मे होती है। लेकिन सामाजिक रूढियॉ इस अतर्जातीय विवाह की अनुमति नही देती। प्रगाढ प्रेमानुभूति और सामाजिक रूढियो का द्वन्द्व उपन्यास मे गहरी करुणा के साथ अकित है।

'श्यामा स्वप्न' की परम्परा की विस्तार की दृष्टि से ब्रजनदन सहाय का 'सौन्दर्योपासक' अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ दृष्टि का सूचक है। इसका नायक अपने ही विवाह के समय अपनी साली के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उससे प्रेम करने लगता है। प्रेम की इस असफलता की गहरी कसक को लेखक गहरी सवेदना के साथ अकित कर सका है। दोनो ही प्रेमी अपने-अपने ढग से इस पीडा को झेलते-भुगतते है। सौन्दर्योपासक की पत्नी भी इस दु खद व्यापार मे शामिल हो जाती है। साली और पत्नी दोनो ही अकाल मृत्यु को प्राप्त करते है और शोक मनाने के लिए सौन्दर्योपासक कथानायक बचा रहता है। प्रेम की सूक्ष्म तरगो और ससार की कटुता के प्रति नायक की हार्दिक और भावावेगपूर्ण प्रतिक्रियाओ मे ही उपन्यास विकसित होता है।

'ठेठ हिन्दी का ठाठ' का महत्त्व उसकी प्रेमकथा मे निहित है। इस उपन्यास की कहानी एक गॉव को केन्द्र मे रखकर विकसित होती है। देवबाला नामक किशोरी के देवनदन नामक किशोर से हुए प्रेमानुभव के रूप मे ही कहानी को बुना गया है। उदात्त एव आदर्श प्रेम के बलिदान पूर्ण समापन को लेखक ने गहरी करुणा के साथ अकित किया है। पति के चारित्रिक स्खलन और सारे दुर्व्यवहार के बावजूद देवबाला एक आदर्श एव सयमशील हिन्दू स्त्री की मर्यादा का पालन करती है। इसी प्रकार हरिऔध जी के दूसरे उपन्यास 'अधखिला फूल' मे भी एक हिन्दू स्त्री के आदर्श रूप को प्रस्तुत करते हुए सामाजिक अधविश्वासो की आलोचना की गयी है।

इन सामाजिक उपन्यासो के ऐतिहासिक महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी कहा जा सकता है कि इनमे समाज के बुनियादी सत्यो की पकड नही है। इसीलिए ये उपन्यास यथार्थ की सश्लिष्टता और चरित्रो की मनोवैज्ञानिक गहनता से अछूते है। नैतिकतामूलक उपदेशवादिता उपन्यास के शिल्प को कमजोर करती है।

ऐतिहासिक— अग्रेजी के आलोचक लेस्सली स्टीफन ने ऐतिहासिक उपन्यास को एक वर्णसकर रचना के रूप में परिभाषित किया था, क्योकि वह दो परस्पर विरोधी चीजो—इतिहास और कल्पना—के मेल से बनता है। लेकिन इस सबके बावजूद ऐतिहासिक उपन्यास, 'उपन्यास' विधा की यात्रा का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

किशोरीलाल गोस्वामी ने यद्यपि कि सामाजिक, तिलिस्मी-जासूसी उपन्यास भी प्रचुर मात्रा में लिखे, किन्तु उनकी मुख्य पहचान एक ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप मे ही स्वीकृत है। अपने ऐतिहासिक उपन्यासो के सबध मे अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है, "हमने अपने बनाये उपन्यासो मे ऐतिहासिक घटना को गौण और अपनी कल्पना को मुख्य रखा है और कही-कही तो कल्पना के आगे इतिहास को दूर से नमस्कार कर दिया है।" वस्तुत इतिहास के प्रति यह अगभीर दृष्टि ही उनके ऐतिहासिक उपन्यासो को गम्भीरता से लिये जाने के लिए प्रमुख बाधक तत्व है। उन्होने अपने उपन्यासो के लिए इतिहास का जो कालखड चुना है वह मुख्यत मुस्लिम और राजपूत काल से सम्बद्ध है, किन्तु उन्होने ऐतिहासिक घटनाओ की व्याख्या 'हिन्दू-दृष्टिकोण' से अधिक की है जिसमे यत्र-तत्र मुसलमानो से बदला लेने की उनकी इच्छा और प्रवृत्ति को भी देखा जा सकता है। वे राजपूती शौर्य और स्त्री की गरिमा को मुसलमानो के अत्याचारी और नृशसता के विरोध मे खडा करते है। उनके प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासो मे 'प्रणयिनी-परिणय' (1890 ई०) 'हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी' (1890 ई०) 'लवगलता वा आदर्शबाला' (1890 ई०) 'तारा वा छात्रकुल कमलिनी' (1902 ई०) 'सुलताना रजिया बेगम वा रगमहल मे हलाहल' (1904), और 'सोना और सुगन्ध वा पन्नाबाई' (1911 ई०), 'लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा' (1917 ई०) आदि उल्लेखनीय है। किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यासो के इन दोहरे शीर्षको को देखकर ही इतिहास और अपनी रचनावस्तु के प्रति उनकी दृष्टि को समझा जा सकता है। इन उपन्यासो मे अभिप्रेत काल के समाज का यथार्थबोध नही प्राप्त होता। डॉ० रामदरश मिश्र के शब्द है—

> "इनमे उस काल की जटिल सामाजिक स्थितियो, मानव-मन की आकाक्षाओ, प्रश्नो, व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्धो का तो सूक्ष्म निरीक्षण नही प्राप्त होता, सामान्य ऐतिहासिक तथ्यो का निर्वाह भी नही लक्षित होता। कल्पना और इतिहास का समन्वय भी दृष्टिगत नही होता।" [1]

इन उपन्यासो मे रोमाचकारी घटनाओ की सृष्टि कर इन्हे जहॉ एक ओर मनोरजक बनाया गया है, वही उपदेश का स्वर भी सुनाई पडता है। किशोरी लाल गोस्वामी के 'तारा' उपन्यास मे रानी चन्द्रावली अपने भाई से कहती है—"भारतवर्ष के भाग्य विपर्यय का प्रत्यक्ष इतिहास ऑखो के आगे नाच रहा है, तोभी स्वार्थ से अधे होकर तुमने यवनो पर अधविश्वास कर लिया है। भाई जागो मोह-निद्रा को छोड सनातन धर्म और क्षत्रिय कुल की गौरवता पर दृष्टि डालो।" [2] इतिहास के प्रति गभीर और किसी सीमा तक वस्तुनिष्ठ दृष्टि अपनाने के कारण मेहता लज्जाराम शर्मा कृत 'जुझार तेजा (1914) और ब्रजनदन सहाय कृत 'लाल चीन' (1916) मिश्र बन्धुओं का 'वीरमणि' अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय उपन्यास है, जिन्होने हिन्दी मे, ऐतिहासिक उपन्यास के उस आरम्भिक दौर में भी, एक साहित्य रूप के तौर पर, उसकी सभावनाओ का सकेत सफलतापूर्वक किया है। आगे चलकर वृन्दावन लाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रागेय राघव, शिव प्रसाद मिश्र ने ऐतिहासिक उपन्यास को सशक्त रूप से नई पहचान दी।

---

1 हिन्दी उपन्यास —डॉ० रामदरश मिश्र

2 तारा —किशोरी लाल गोस्वामी

घटना प्रधान शुद्ध मनोरजक उपन्यास— इसके अन्तर्गत शुद्ध मनोरजन को लेकर लिखे गये उपन्यास—'तिलिस्मी-ऐय्यारी' एव 'जासूसी' उपन्यास आते है जो घटना बहुलता से ओत-प्रोत है। वैसे तो घटनात्मकता सामाजिक, ऐतिहासिक उपन्यासो मे भी दिखाई पडती है, किन्तु तिलिस्मी ऐय्यारी, जासूसी उपन्यास घटनावैचित्र्य के लिए ही रचा गया। आचार्य शुक्ल के शब्दो मे—"इन उपन्यासो का लक्ष्य केवल घटना वैचित्र्य रहा, रससचार, भाव-विभूति या चरित्र-चित्रण नही। ये वास्तव मे घटना प्रधान कथानक या किस्से है, जिनमे जीवन के विविध पक्षो के चित्रण का कोई प्रयत्न नही।" विस्मय जन्य आनन्द की सृष्टि करना ही तो इन उपन्यासो का लक्ष्य होता है। ऐसे उपन्यास रचना पर खीझ कर प्रेमचन्द ने कहा था—

"साहित्यकार का काम केवल पाठको का मन बहलाना नही है। यह तो भाटो और मदारियो, विदूषको और मसखरो का काम है। साहित्यकार का पद इससे कही ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममे सद्भावो का सचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। [1]

तिलिस्मी-ऐय्यारी— 'तिलिस्म' अरबी मे ग्रीक भाषा से आया शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ हे—अद्भुत और आश्चर्यजनक कल्पना। 'ऐय्यार' का अर्थ होता है, चालक, वेग से चलने वाला या दूर तक दौडने वाला। खत्री जी के अनुसार, "ऐयार उसको कहते है जो हर एक फन जानता हो। शक्ल बदलना और दौडना उनका मुख्य कार्य है।" [2] तिलिस्मी उपन्यासो मे ऐय्यारो का उल्लेख होता है, क्योकि इन्ही पर नायक की सम्पूर्ण कार्यशक्ति केन्द्रित होती है।

हिन्दी मे तिलिस्मी ऐय्यारी उपन्यास का प्रारम्भ देवकीनदन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' से होता है, जो 'तिलिस्म-होशरूबा' के पैटर्न पर आधारित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "पहले मौलिक उपन्यास लेखक जिनके उपन्यासो की सर्वसाधारण मे धूम हुई, काशी के बाबू देवकीनदन खत्री थे।" [3] चन्द्रकान्ता के अभूतपूर्व स्वागत के बाद खत्री जी ने राजकुमारी से महारानी बनी चन्द्रकान्ता के पुत्रो की कथा के माध्यम से इसी कथा शृखला को 'चन्द्रकान्ता सन्तति' (1894-1905) के चौबीस भागो से पूर्ण किया। इसके बाद इसी शृखला को अपने ऐय्यार पात्र भूतनाथ को केन्द्र मे रखकर 'भूतनाथ' लिखा, जिसे उनके पुत्र ने पूरा किया। 'नरेन्द्र मोहनी' (1893), 'कुसुम कुमारी' (1898), 'वीरेन्द्रवीर अर्थात् कटोरा भर खून' (1895) और 'काजर की कोठडी' (1902) आदि उपन्यास भी उन्होने लिखा।

'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' हिन्दी उपन्यास के नवस्फुटित यथार्थवादी रुझान के प्रति उदासीन रहकर उपन्यास की एक नवीन धारा का प्रवर्तन करता है। उसका वैचारिक आधार बहुत क्षीण है। मध्यकालीन पद्यकथाओ के ढग पर ही उसमे प्रेम-सम्बन्धो के विकास को अकित किया गया है। 'चन्द्रकान्ता' का महत्त्व एक ओर यदि उसकी असाधारण कल्पना शक्ति मे निहित है तो दूसरी ओर रहस्य को सुरक्षित रखने वाले कथा सगठन मे। एक अन्य उपलब्धि यह है कि तिलिस्मी कहानी मे भी वे अलौकिक चमत्कार और जादू-टोने के तत्त्वों का तिरस्कार करते है। इस उपन्यास मे बडा से बडा चमत्कार मानवीय बुद्धि का परिणाम है। इसी तथ्य को उपन्यास का एक पात्र सिद्धनाथ बाबा कहता है—

"जो काम आदमी के या ऐयारो के लिए नही होसकता, उसे मै भी नही कर सकता ।" [4]

---

1 प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —स० डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, 'उपन्यास' निबन्ध पृष्ठ 82।

2 चन्द्रकान्ता, पृष्ठ 2, फुटनोट

3 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 273

4 चन्द्रकान्ता-2, पृष्ठ 33

उत्सुकता को बढाने के लिए लेखक अपने कथासूत्र को चरम तक ले जाकर अधूरा छोडकर फिर दूसरा सूत्र उठा लेता है। कितने ही पृष्ठो के बाद, कभी-कभी तो पूरा एक खण्ड समाप्त हो जाने के बाद, उस छूटे हुए सूत्र को पुन उठाकर आगे बढता है। इस सन्दर्भ मे लेखक की स्मरण शक्ति अभिभूत करने की सामर्थ्य रखती है। यही कारण है कि तिलिस्मी उपन्यास इनके युग मे हरिकृष्ण जौहर (कुसुमलता, भयानक भ्रम, नारी पिशाच, मयमोहनी या मायामहल आदि), राम लाल वर्मा (पुतली महल), किशोरी लाल गोस्वामी ने (तिलस्मी शीशमहल) आदि लेखको ने भी लिखे, लेकिन इस विधा का जैसा सम्पूर्ण विकास और दोहन देवकीनदन खत्री ने किया, दूसरा कोई लेखक उसके आस-पास भी नही पहुँच सका।

देवकीनदन खत्री के उपन्यासो ने विशेषकर 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' ने एक विशाल पाठक वर्ग का निर्माण किया। इस दृष्टि से इसके प्रभाव को सक्रामक भी माना जा सकता है। आचार्य शुक्ल भी प्रकारान्तर से इसी तथ्य को स्पष्ट करते है—

> ''हिन्दी साहित्य के इतिहास मे बाबू देवकी नदन का स्मरण इस बात के लिए सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होने उत्पन्न किये उतने और किसी ग्रथकार ने नही। चन्द्रकान्ता पढने के लिए न जाने कितने उर्दूजीवी लोगो ने हिन्दी सीखी। चन्द्रकान्ता पढ चुकने पर वे 'चन्द्रकान्ता' की किस्म की कोई किताब ढूँढने मे परेशान रहते थे। शुरू-शुरू मे 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सतति' पढकर न जाने कितने नवयुवक हिन्दी के लेखक हो गये।'' [1]

उसकी इस लोकप्रियता का कारण यदि उपन्यास का कथा सगठन, रहस्य की भावना को बढाने और सुरक्षित रखने की उसकी कला थी, तो निजी तौर पर देखे गये जगलो, खण्डहरो और प्रकृति के अन्य रूपो का चित्रात्मक वर्णन भी था। भारतेन्दु युगीन साहित्य की दृष्टि मे यह एक नयी चीज थी। लेकिन सबसे अधिक महत्त्व इन उपन्यासो की भाषा और उसके क्रमिक विकास पर केन्द्रित लेखक की दृष्टि है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है—

> ''उन्होने ऐसी भाषा का व्यवहार किया है जिसे थोडी हिन्दी और थोडी उर्दू पढे लोग भी समझ ले। कुछ लोगो का यह समझना कि उन्होने राजा शिवप्रसाद वाली उस पिछली 'आमफहम' भाषा का बिल्कुल अनुसरण किया जो एकदम उर्दू की ओर झुक गयी थी, ठीक नही। कहना चाहे तो यो कह सकते है कि उन्होने साहित्यिक हिन्दी न लिखकर 'हिन्दुस्तानी' लिखी।'' [2]

जासूसी— इग्लैड मे कॉनन डायल, फ्रास मे मार्स लेब्लाक और अमेरिकी पो के जासूसी उपन्यासो ने हिन्दी मे जासूसी उपन्यास के उद्‌भव की परिस्थिति दी। 1898 मे गोपालराम गहमरी ने सर्वप्रथम बगला से 'हीरे का मोल' उपन्यास अनुदित कर प्रकाशित कराया। इसकी लोकप्रियता से उत्साहित होकर गहमरी जी ने सैकडो की सख्या मे जासूसी उपन्यास लिखे जिसमे 'गुप्तचर' (1899) 'बेकसूर की फॉसी' (1900), सिरकटी लाश (1900), 'डबल जासूस' (1900), 'जमुना का खून' (1901), 'खूनी की खोज' (1903), 'मेरी और मेरीना' (1905), 'रहस्य-विप्लव' (1905), 'भयकर भेद'

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 273

2 वही।

(1907) 'जासूस की डायरी' (1912), 'जासूस की बुद्धि' (1914) आदि उल्लेख है। गहमरी जी के इन जासूसी उपन्यासो का उद्देश्य भी देवकीनदन खत्री के उपन्यासो की तरह ही, पाठक वर्ग का मनोरजन था। इन उपन्यासो का मुख्य आकर्षण अपराधी की पहचान को अत तक सुरक्षित रखते हुए पाठको के कौतूहल को बनाये रखना था। प्रेमचन्द ने जासूसी उपन्यासो की शैली के सन्दर्भ मे लिखा है—

> ''जासूसी उपन्यासो के लेखक कोई घटना सोचकर एक कल्पित जासूस को उसके सुलझाने मे लगा देता है। ऐसी घटनाओ मे सर्वश्रेष्ठ गुण यह है कि उस घटना या रहस्य का खोलना जाहिरा असभव प्रतीत हो, पर लेखक जब उसे खोल दे तो पाठक को आश्चर्य हो कि मुझे यह बात क्यो नही सूझी, यह तो बिल्कुल साधारण बात थी।'' [1]

देवकीनदन खत्री की भॉति ही गहमरी जी अपने इन उपन्यासो की कथा भूमि के लिए अपने सुपरिचित स्थानो—गहमर, जमनियॉ, काशी, बम्बई आदि को ही चुनते है। इसी कारण उनके ब्यौरो मे प्रामाणिकता और विश्वसनीयता का पुट है। अपने हल्के-फुल्के और अगभीर रूप के बावजूद ये जासूसी उपन्यास अपने युग के सुधारवादी अग्रहो से मुक्त नही है। कर्मानुसार फल-प्राप्ति का दर्शन इनसे भी प्रस्फुटित होता था, क्योकि वास्तविक अपराधी को ढूॅढकर उसे उसके द्वारा दिये गये अपराध का दड दिलाना ही जासूस का काम था। भाषा के स्तर पर भी इसका लक्ष्य मानवीय चरित्र की सूक्ष्मताओ को पकडने की अपेक्षा कौतूहल को बनाये रखने मे निहित है। इसीलिए प्रेमचन्द जैसे सतर्क और यथार्थदर्शी लेखक को ये उपन्यास कत्तई पसद नही थे। उन्होने अपने 'उपन्यास का विषय' शीर्षक निबन्ध मे लिखा है—

> ''मगर आजकल कुकर्म, हत्या, चोरी, डाके से भरे उपन्यासो की बाढ सी आ गयी है। साहित्य के इतिहास मे ऐसा कोई समय न था जब ऐसे कुरुचिपूर्ण उपन्यासो की इतनी भरमार रही हो।'' [2]

कहना न होगा कि प्रेमचन्द का सकेत तिलिस्मी—जासूसी उपन्यासो के रचना विधान की ओर है। इसी निबन्ध मे आगे चलकर वे लिखते है—

> ''जिन्हें जगत् गति नही व्यापती वे जासूसी तिलस्मी चीजें लिखा करते हैं।'' [3]

लेकिन इस सीमित लक्ष्य के बावजूद भी क्षेत्रीय मुहावरो एव शब्दो के प्रयोग ने इसे नयी जीवतता दी है। रामलाल वर्मा ने 'चालाक चोर', 'जासूस के घर खून', 'जासूसी कुत्ता' आदि, किशोरी लाल गोस्वामी ने 'जिन्दे की लाश', जयरामदास गुप्ता ने 'लगडा खूनी' आदि लिखकर गहमरी जी की परम्परा को आगे बढाया।

हिन्दी उपन्यास के उद्‌भव और विकास का यह काल 1872 ई० से 1917 ई० तक माना जा सकता है। यह रचनात्मक ऊर्जा की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है, क्योकि हिन्दी उपन्यास आगे चलकर जिन दिशाओ मे फैलने या शिखरो को स्पर्श करने वाला था, उसके सकेत इस कालखण्ड के उपन्यासो मे बीज रूप मे ही सही विद्यमान है। सुधारवादी आन्दोलनो के

---

1 प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —स० डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र ('उपन्यास रचना' निबन्ध) पृष्ठ 76

2 साहित्य का उद्देश्य, पृष्ठ 59

3 साहित्य का उद्देश्य, पृष्ठ 59

कारण स्त्री की नियति, उसे शिक्षित करके सस्कारित करने की प्रवृत्ति इस दौर के सामाजिक उपन्यासो की प्रमुख विशेषता के रूप मे रेखाकित किया जा सकता। यात्रा वृत्तान्त और स्वप्न शैली के अपने प्रयोग के कारण प० अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तान्त' (1894) उपन्यास के शिल्प-तत्र के विकास की दृष्टि से उल्लेखनीय है। बाबू नबाब राय जो आगे चलकर 'प्रेमचद' के नाम से हिन्दी उपन्यास मे एक क्राति प्रस्तुत करने वाले थे, इसी कालखण्ड मे, उर्दू मे उपन्यास लेखन शुरू कर चुके थे। उनके उर्दू उपन्यास 'हमखुर्मा व हमसबाब' (1906) का अनुवाद 'प्रेमा अर्थात् दो सखियो का विवाह' नाम से 1907 मे हिन्दी मे प्रकाशित हुआ जिसे आलोचको ने प्रेमचन्द के मौलिक उपन्यासो मे शामिल करके विचार किया।

1918 मे 'सेवा सदन' के साथ हिन्दी उपन्यास मच पर आये प्रेमचन्द ने हिन्दी को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। ''भारतेन्दु युग के निबन्धो और उपन्यासो के पढने वाले बहुत थोडी सख्या मे थे। 'चन्द्रकान्ता' और 'तिलिस्म होशरूबा' के पढने वाले लाखो थे। प्रेमचन्द ने इन लाखो पाठको को 'सेवासदन' का पाठक बनाया, यह उनका युगान्तकारी काम था।'' [1] भारतीय समाज मे विधवा की नियति, अनमेल विवाह, दहेज और स्त्री शिक्षा के महत्त्व का प्रतिपादन—मोटे तौर पर यही से प्रेमचन्द अपनी रचनात्मक यात्रा शुरू करते है। कहना न होगा कि इस दृष्टि से वे पूर्व प्रेमचन्द युगीन परम्परा का ही विकास करते है। डॉ० राम विलास शर्मा ने तो भारतेन्दु युगीन उपन्यास की परम्परा के ही विकास की अगली कडी मानकर उनका मूल्याकन किया है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के अनुसार तो प्रेमचन्द को पूर्ववर्ती लेखको से प्रभावित मानना निराधार है, लेकिन यह भी सच है कि प्रेमचन्द को इस पहले से चली आती कथा-धारा से अलग करके देखना भी गलत है। इस प्राप्त और उपलब्ध कथाधारा को अपनी उपस्थिति से ऐसा आकार देते है कि वह एक नई उद्भावना जैसी लगने लगती है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के शब्द है—

> ''हिन्दी साहित्य का यह रूप उपन्यास जन्मना निम्न श्रेणी का होने पर भी कितना महत्त्वाकाक्षी था, यह इसी से पता चलता है कि जब वह मनोरजन का साधन बनकर लोकप्रिय हो रहा था, तभी वह सामाजिक जीवन के सत्य का वाहक बन सकने के लिए भी प्रयास कर रहा था, यद्यपि उसे पूर्णत. कृतकार्य होने के लिए तब तक प्रतीक्षा करनी पडी जब तक प्रेमचन्द ने उसका अछूतोद्धार नही कर दिया। [2]

प्रेमचन्द का महत्त्व यह है कि अपने पूर्ववर्ती लेखको से अपनी विषय वस्तु लेकर भी वे उसे उसी तरह से प्रस्तुत नही करते जैसे उनके ये पूर्ववर्ती लेखक करते थे। भारतेन्दुयुगीन लेखक सनातन हिदू आदर्शो के उत्साहपूर्ण समर्थन की झोंक में भारतीय समाज मे पुरुष के वर्चस्व को ही महत्त्व दे रहे थे। स्त्री के प्रति दृष्टि सामती थी, जो स्त्री की पराधीनता को ही उसके जीवन का सबसे बडा सत्य मानकर चलती थी। प्रेमचन्द के रूप मे अपने रूपान्तरण से पहले, 'रूठीरानी' मे ही प्रेमचन्द इस सामन्ती मूल्य दृष्टि पर गहरा आघात करते है। 'रूठी रानी' की नायिका स्त्री के प्रति समाज के दोहरे मानदण्डो के प्रयोग का सक्रिय विरोध करती है और इसके लिए अनुमान से कहीं अधिक मूल्य चुकाती है। अपनी इसी रचनात्मकता के दौर मे लिखित 'देवस्थान रहस्य', जो मूलत: ऊर्दू में 'असरारे मुआविद' के नाम से लिखा गया, मे प्रेमचन्द (मुशी नवाबराय के रूप

---

1 प्रेमचन्द्र और उनका युग —डॉ० राम विलास शर्मा, पृष्ठ 31
2 प्रेमचन्द्र और उनका युग —डॉ० राम विलास शर्मा, पृष्ठ 39

मे) मठो और मदिरो की चौखट पर मत्था नही टेकते, जैसा हिन्दू दृष्टि और भारतीय सस्कृति के नाम पर भारतेन्दुयुगीन लेखक कर रहे थे। डॉ० राम विलास शर्मा के शब्द है—

> ''धार्मिक पाखण्ड और वेश्यावृत्ति मे कितना निकट सबध है, प्रेमचन्द से छिपा नही है। कबीर की परम्परा को आगे बढाते हुए प्रेमचन्द मदिर के पुजारियो को बख्शते है और न मस्जिद के मौलवियो को।'' 1

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती लेखको ने उपन्यास को या तो शिक्षा और उपदेश के लिए अपनाया था या फिर मनोरजन के लिए। इस कालखण्ड के उपन्यास भले ही समाज सुधार के कुछ प्रमखु मुद्दो को अपनी विषय वस्तु के रूप मे उठाते दिखाई देते हो, लेकिन वे उस राजनीतिक समझ और चेतना का कोई प्रमाण नही जुटाते जैसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटको 'भारत-दुर्दशा' और 'अधेर नगरी' मे मिलता है या फिर बालकृष्ण भट्ट, भारतेन्दुबाबू के निबन्धो मे। प्रेमचन्द ही पहले लेखक थे जिन्होने एक सहविकसित कलारूप के तौर पर उपन्यास की प्रतिष्ठा और स्वीकार्यता की लडाई लडी। उन्होने उपन्यास को सामाजिक और राष्ट्रीय सवालो से जोडा और उसकी कलात्मकता का विकास किया। उन्होंने 'उद्देश्य' और 'मनोरंजन' की दो भिन्न धाराओ को मिलाकर एक किया। उन्होने उपन्यास को मनोरंजन से अलग किये बिना भी, मनोरजन की सीमा से मुक्त किया। उन्होने उपन्यास की पठनीयता, रोचकता को क्षति पहुँचाये बिना भी जीवन और समाज के व्यापक सन्दर्भ से जोडा। मानव-चरित्र के उद्घाटन से उपन्यास को जोड़कर एक ओर यदि उन्होने उपन्यास को इकहरे और स्थूल पात्रो से बचाकर उसमे सजीव मानव की प्रतिष्ठा की, तो वही मनोवैज्ञानिक उपन्यास के उदय की रूपरेखा तैयार की। उपन्यास मे मध्यवर्ग को महत्त्व देते हुए भी इससे बँधे नही। एक कृषि प्रधान देश के रूप मे भारत की पहचान को स्वीकृति देते हुए उन्होंने उपन्यास को बुनियादी वर्गो किसान और मजदूर से जोडा। डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र के शब्द है—

> ''प्रेमचन्द की दृष्टि मूलत: किसान केन्द्रित है, वही उनका मापदण्ड है। परतु इस मापदण्ड मे भी गरीब, दलित और मजदूर को वे भूलते नही है।'' 2

यही कारण है कि जितने वे भारतेन्दु युग की यथार्थवादी परम्परा का विकास करने वाले लेखक है, आनुपातिक रूप से उससे कही अधिक उसका अतिक्रमण करने वाले लेखक का उदाहरण है।

प्रेमचन्द के बाद जयशकर प्रसाद ने 'कंकाल', 'तितली', 'इरावती', विश्वभर नाथ शर्मा कौशिक ने 'माँ' और 'भिखारिणी' शिवपूजन सहाय ने 'देहाती दुनिया', सियाराम शरण गुप्त ने 'गोद' 'अतिम आकाक्षा' और 'नारी', वृन्दावनलाल वर्मा ने 'गढकुण्डार' आदि, चतुरसेन शास्त्री ने 'हृदय की परख', 'अमर अभिलाषा'; आदि के माध्यम से हिन्दी उपन्यास के विकास में योग दिया। इनमे विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक, विषयवस्तु एव भाषा दोनो ही दृष्टियो से प्रेमचन्द के सबसे निकट है। शिवपूजन सहाय के 'देहाती दुनिया' ने आचलिक उपन्यास के उद्भव को दिशा दी। 'देहाती दुनिया' का गॉव अपनी निर्धनता, अज्ञानता, रूढ़ियों एवं अंधविश्वासो की मार सहता हुआ भारत का एक प्रतिनिधि गॉव है। कथानक पर्याप्त असबद्ध

---

1 साहित्य तत्व और आलोचना, पृष्ठ 100

2 प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —स० डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, की भूमिका से

है, लेकिन व्यग्य और बिम्बो के मेल से बनी भाषा से चरित्राकन की जो पद्धति अपनाई गयी है, उससे ही उपन्यास को एक विशिष्ट पहचान मिलती है। डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव के शब्द है—

> '' 'देहाती दुनिया' को जिस अर्थ मे 'ठेठ देशज ठाठ का उपन्यास' कहा जा रहा है, वहभदेस विद्रूप को अपनी अतर्वस्तु मे खपा लेने की युक्ति जानता है। पाखण्ड या लोक रीति के नाम पर प्रचलित चरम विकृतियो का निर्मम उद्घाटन प्रगतिशील दृष्टि के अभाव मे असम्भव है।'' [1]

वृन्दावनलाल वर्मा एव चतुरसेन शास्त्री जैसे लेखको ने भले ही आगे चलकर अपनी मुख्य पहचान ऐतिहासिक और सास्कृतिक पृष्ठभूमि पर लिखे जाने वाले उपन्यास लेखक के रूप मे बनाई हो, लेकिन अपने उपन्यास लेखन की शुरुआत सामाजिक उपन्यासो से ही की थी, जिसकी पृष्ठभूमि मे प्रेमचन्द की प्रेरणा थी। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' और जैनेन्द्र कुमार, प्रेमचन्द की उपस्थिति के बावजूद, उनसे भिन्न और अलग राह की ओर बढ रहे थे। जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी व्यक्तिनिष्ठ यथार्थ को मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित कर रहे थे, तो 'उग्र' जी प्रेमचन्दीय सामाजिक यथार्थ को ही किचित भिन्न और उग्र रूप मे अभिव्यक्त करने के कारण ही 'घासलेटी' और 'प्रकृतिवादी' जैसी चिप्पियो द्वारा पहचाने जाकर उपहास और भर्त्सना का पात्र बन रहे थे। प्रेमचन्दीय विचारो और इच्छाओ की ओर से उदासीन होकर वृन्दावन लाल वर्मा का 'गढ कुण्डार' ऐतिहासिक उपन्यास को एक आश्चर्यजनक प्रौढता प्रदान करता दिखाई देता है। प्राचीन आदर्शो के नाम पर समूची जीवन परम्परा मे सॉस लेते पाखण्ड और आडम्बर को भगवती चरण वर्मा अपने 'चित्रलेखा' मे निर्ममतापूर्वक शब्द देते दिखाई देते है।

कहना न होगा कि प्रेमचन्द के काल मे ही उनके विरुद्ध आवाज उठने लगी थी। आरोप का मुख्य बिन्दु यह था कि उन्होने स्त्री-पुरुष सम्बन्धो और प्रेमानुभूति के प्रति उपेक्षा दिखाई। इस आरोप के समर्थन में मनोवैज्ञानिक उपन्यास के रूप मे एक ऐसा रचनात्मक विस्फोट दिखाई देता है, जिसने हिन्दी उपन्यास की सन्दर्भ और प्रकृति मे क्रान्तिकारी मोड पैदा किया। प्रेमचन्द के समय मे ही भगवती प्रसाद बाजपेयी ने प्रेम सम्बन्धो को लेकर अनेक उपन्यास लिखे। प्रेमचदयुगीन लेखको मे उषादेवी मित्रा ने नारी जीवन की अनेक समस्याओ पर नारी के रूप मे अनुभव करके उपन्यास रचे। प्रेम और कर्त्तव्य का द्वन्द्व उनके उपन्यासो की केन्द्रीय समस्या है, जिसमे अन्तत नारी त्याग, सेवा, ममता और करुणा आदि मानवीय गुणो का परिचय देती है। इनके उपन्यासो मे 'वचन का मोल', 'जीवन की मुस्कान', 'पिया' तथा 'पथचारी' आदि उल्लेख्य है। परिवार से सामाजिक आन्दोलनो की ओर आती भारतीय स्त्री की सक्रमणकालीन मनोदशाओ का अकन उषादेवी मित्रा ने पर्याप्त विश्वसनीय धरातल पर किया है।

स्पष्ट है कि प्रेमचन्द युग साधारण मनोविज्ञान और राष्ट्रीय जागृति का काल है, जिसमे सामाजिक कुरीतियो के निराकरण का प्रयत्न, पतन और पराजय के प्रति आदर्शो की स्थापना, उत्पीडित, शोषित और दु:खी मानवता के लिए हार्दिक सवेदना है। कथा मे इतिवृत्त, निश्चित घटना, कार्य व्यापारो का आधिक्य, रचना शैली की सोद्देश्यता, सरलता है, किन्तु सन् 1936 ई० के बाद हिन्दी उपन्यास एक नया मोड लेता है। प्रेमचन्द ने यथार्थ के स्वरूप का उद्घाटन करते हुए भी उसे आदर्शोन्मुख कर दिया। उनके शब्द हैं—

---

1 उपन्यास का पुर्नजन्म —परमानद श्रीवास्तव, पृष्ठ 21

"हम वही उपन्यास उच्च कोटि के समझते है जहाँ Realism और Idealism का समन्वय हो गया है। उसे आप Idealitic Realism कह सकते है। Idea को सजीव बनाने के लिए Realism का उपयोग होना चाहिये और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है।" [1]

प्रेमचन्द युग के अनेक लेखक, प्रेमचन्द द्वारा प्रस्तुत आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की अवधारणा का अतिक्रमण नही कर सके जबकि स्वय प्रेमचन्द गोदान मे कुछ सीमा तक चोट करते हुए दीख पडते है। प्रेमचन्द के पश्चात्, हिन्दी उपन्यास जिस सर्जनात्मक विस्फोट की सूचना देता है, उसका एक रूप यदि मनोवैज्ञानिक और प्रयोगशील उपन्यास के रूप मे दिखाई देता है, तो दूसरा सामाजिक उपन्यासो के रूप मे। इन सामाजिक उपन्यासो की एक धारा प्रगतिवादी या समाजवादी उपन्यासो की है, जो अपने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के कारण प्रेमचन्द के उपन्यासो की सामाजिक परम्परा मे आते हुए भी उससे अलग है। राहुल साकृत्यायन, यशपाल, नागार्जुन, रागेय राघव, अमृत राय, भैरव प्रसाद गुप्त और भीष्म साहनी आदि इस प्रगतिवादी धारा से जुडे लेखक है जो देश की स्वाधीनता के लगभग एक दशक पूर्व से स्वाधीन भारत मे भी जन विरोधी और पूँजीवादी नीतियो के विरुद्ध सार्थक हस्तक्षेप करते रहे है। दूसरी धारा उन उपन्यासो की है, जो सामाजिक जीवन के यथार्थ को तो लेते है, किन्तु उनकी दृष्टि मार्क्सवादी नही होती है। ये उपन्यास भी प्रेमचन्द के उपन्यासो से अलग है, यद्यपि उन्ही की परम्परा मे आते है। अलगाने वाला बिन्दु है यथार्थवादी दृष्टिकोण। ये उपन्यास वास्तव मे यथार्थवादी है, उनमे आदर्शोन्मुखता की परिणति नही जुडी है। इस धारा मे पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', निराला, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर अमृतलाल नागर और नरेश मेहता आदि उल्लेखनीय है। इन लेखको ने भले ही प्रेमचन्द के समान राजनैतिक विशिष्टता का परिचय न दिया हो, लेकिन अपने समाज के बहुवर्णी यथार्थ को पर्याप्त विश्वसनीयता के साथ अकित किया है। निराला एव भगवतीचरण वर्मा की स्थिति भिन्न किस्म की है। अपने समाज के प्रति निराला का दृष्टिकोण आलोचनात्मक है, सृजनात्मक कम। वे यथास्थितिवाद का विरोध करके सामाजिक परिवर्तन की मूल गामी आकांक्षा के साथ दिखाई देते है। प्रेमचन्द ने साहित्य और कला को मनोरजन के स्तर पर उठाकर जीवन और समाज के व्यापक सवालो से जोड़ा था। भगवती चरण वर्मा ने उपन्यास को फिर मनोरजन से जोडकर देखा—

"प्रगतिवाद मे राजनीतिक दर्शन और समाजशास्त्र को साहित्य का साक्ष्य माना गया है, आनन्द और मनोरजन को केवल साधन के रूप मे स्वीकार किया गया है। मेरे मत मे यही प्रगतिवाद की सबसे बडी कमजोरी है, क्योकि प्रगतिवाद मे, कला के मूल स्रोत को ही अस्वीकार करके साहित्य की महत्ता हरण कर ली गई है।" [2]

प्रेमचन्द और उनकी परम्परा के लेखको से भिन्न भगवती चरण वर्मा ने 'व्यक्ति' को एक पृथक आधारभूत सत्ता मानते हुए समाज से अलग और हटकर माना। व्यक्तिगत जीवन की समस्याओ प्रेम, नैतिकता, पाप-पुण्य आदि को ही सामाजिक समस्याओ के रूप मे अपने उपन्यास मे स्थान दिया। कहना न होगा कि प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास मे, सामाजिक यथार्थ के अकन मे, पर्याप्त वैविध्य दिखाई देता। उपन्यास मे आया यह परिवर्तन वस्तुतः उसके विकास का ही परिचायक है।

---

1 प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —स० डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, पृष्ठ 82, 'उपन्यास' निबन्ध

2 साहित्य की मान्यताएँ, पृष्ठ 26

मनोवैज्ञानिक उपन्यास फ्रायड के यौनवाद एव युग के मनोविश्लेषण के आलोक मे विकसित होने वाली उपन्यास की नवीनधारा है। हिन्दी उपन्यास मे प्रेमचन्द ने 'मानव-चरित्र' के अध्ययन पर बल दिया था, लेकिन उनके पात्रो का मनोविज्ञान जटिलताओ एव सूक्ष्म तनावो से काफी कुछ मुक्त है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासो ने मानवीय व्यवहार और अनुभव के सूक्ष्म स्तरो को उद्घाटित और अन्वेषित करने का प्रयास किया।

इलाचद्र जोशी से शुरु हुई यह आधुनिकता की यात्रा जैनेन्द्र, भगवती बाबू से होते हुए अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' मे अपना सर्वोत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करती है। "अपने भाषिक खुरदुरेपन के कारण तथा प्राय: निबन्धात्मक प्रविधि अपनाने के कारण जोशी के उपन्यासो की महत्ता एवं लोकप्रियता भले ही कम होती गई हो', किन्तु 'परदे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'सन्यासी' तथा 'जहाज का पक्षी' जैसे उपन्यास जिस मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को अपनाते हुए मानव-स्वभाव, चरित्र तथा व्यवहारो का जो उद्घाटन करते है, वह हिन्दी मे अद्वितीय तो है ही, इसकी तुलना ऑस्कर वाइल्ड के विख्यात उपन्यास 'पिक्चर ऑफ डोरियन ग्रे' जैसी कालजयी कृतियो से की जा सकती है, जिनकी अपनी परम्परा रही है।" [1] जोशी जी को प्राय: फ्रायडवादी लेखक के रूप मे स्वीकृति दी है। अपने को फ्रायड से प्रभावित मानते हुए भी वे इसे पूरी तरह सत्य नही मानते। इस सन्दर्भ मे उनकी टिप्पणी है, "मै फ्रायडवाद का समर्थक नही हूँ हालाकि मेरे आलोचको ने मेरी रचनाओ को फ्रायडवादी बनाकर बदनाम कर रखा है। फ्रॉयड का मनोविश्लेषण अवचेतना के बहुत ऊपरी स्तर को छूकर रह जाता है। और गहरे स्तरो के सम्बन्ध मे भी बडा भ्रम उत्पन्न करता है। पर चाहे फ्रॉयडवाद हो चाहे कोई दूसरा मनोविश्लेषणवाद। वह यदि आपके हाथ मे एक ऐसा अस्त्र देता है, जिससे आप बुर्जुआ मनोवृत्ति को चीरकर खण्ड-खण्ड करने मे सफलता प्राप्त कर सकते है, तब उसे अपनाने मे आपको क्यो आपत्ति होती है?" [2] कहना न होगा कि इलाचद्र जोशी जैसी उपन्यासकारो की कृतियॉ पुनर्परीक्षण की मॉग करती है। जैनेन्द्र ने यद्यपि की प्रेमचन्द की छत्रछाया मे ही लिखना प्रारम्भ किया था, किन्तु उनके उपन्यास सवेदना और शिल्प दोनों ही स्तरों पर प्रेमचन्द की विपरीत दिशा मे जाते दिखाई देते है। जैनेन्द्र के साथ हिन्दी उपन्यास एक नये युग और नये ससार मे प्रवेश करता है। एक तो उन्होने पहली बार मित्कथन तथा सक्षिप्तता की कला का उपयोग किया। अपने एक निबन्ध 'प्रेमचन्द का गोदान यदि मै लिखता' मे वे सबसे पहले प्रेमचन्द के वाग् - विस्फार का विरोध करते है। प्रेमचन्द के पात्रो की अनावश्यक वाचालता भी उन्हे शब्दो का अपव्यय लगती है। हिन्दी कथा साहित्य मे उन्होने पहली बार व्यक्तिगत सम्बन्धो को विश्लेषित करने की प्रक्रिया प्रारम्भ की। उनके उपन्यास व्यक्ति और परिवार पर केन्द्रित है इसलिए उनका बाह्य फलक सीमित है। वे आंतरिक चेतना के कथाकार के रूप मे सामने आते है, इसलिए इलाचद्र जोशी आदि के 'ऐकेडेमिक' मनोविज्ञान का उपयोग किये बगैर भी गहरे अर्थों मे मानवीय मनोविज्ञान के उपन्यास लेखक है। 'परख', 'सुनीता' आदि मे अत्यन्त सघन नैतिक द्वन्द्व मिलता है, किन्तु 'त्यागपत्र' अधिक साहसिक उपन्यास है और हिन्दी उपन्यास मे एक क्रान्तिकारी कदम भी। 'भाषा तथा प्रविधि की दृष्टि से तो यह उपन्यास आज तक एक चमत्कारिक उपलब्धि प्रतीत होता है। त्यागपत्र एक क्लासिक कृति है, जिसके साथ हिन्दी उपन्यास मे उस आधुनिकता का आरभ होता है, जिसे 20 वी सदी की आधुनिकता कह सकते है, जहॉ गहरे अर्थो मे प्रश्न तथा शका करने की गुजाइश शुरु होती है।' [3]

---

1 बहती नदी पर पडती धूप और छाव —डॉ० विजयमोहन सिह, पृष्ठ 4, इण्डिया टुडे, साहित्य वार्षिकी 2000

2 विवेचना, सस्करण 48, पृष्ठ 58

3 इण्डिया टुडे, साहित्य वार्षिकी 2000, पृष्ठ 10 —डॉ० विजय मोहन सिह का लेख

अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी', 'त्यागपत्र' से आगे की कृति है जो आधुनिकता के प्राय: सभी पक्षो को अपने मे समेट लेता है। वह शिक्षा, सस्कार, परपरा, आदर्श तथा उससे जुडे सारे प्रतिमानो को छिन्न-भिन्न कर देता है। इसी अर्थ मे वह विद्रोही है, क्योकि साहित्य मे पहली बार वह निषेध की शुरुआत करता है। ''शेखर मूलत विद्रोह का आख्यान है। 'शेखर' का विद्रोह सामान्यत. रोमाण्टिक प्रकार का है, पर उसमे राग के अतिरेक से अलग होने की चेष्टा भी दिखाई देती है।''[1] 'नदी के द्वीप' उपन्यास को अज्ञेय ने 'चार सवेदनाओ का अध्ययन' कहा है, जो स्पष्टतया उसके चार पात्रो—रेखा, भुवन, गौरा और चन्द्रमाधव की ओर सकेत है। उपन्यास एक प्रेमकथा के रूप मे लिखित है, लेकिन प्रेमकथा न तो सामान्य ईर्ष्या-द्वेष से परिचालित है और न उसमे आत्मत्याग या आत्मपीडन का परम्परागत रूप मिलता है। यहॉ प्रेम का रोमास बिल्कुल भिन्न प्रकृति का है जहॉ भावुकता को बौद्धिकता का आधार मिला है और राग मे भी एक खास तरह का सयम है। पर शरीर का उत्सव भाव भी यहॉ साथ-साथ उपस्थित है। ''इस तरह भावुकता, बौद्धिकता और देह का आकर्षण सब मिलकर 'नदी के द्वीप' की प्रणय सवेदना को एक विशिष्ट पर उदार रूप देते है। और यह रूपाकन सम्भव हुआ है प्रधानत उपन्यासकार की सवेदनशील और सुकुमार भाषा की सर्जनात्मक शक्ति द्वारा के द्वारा।'[2]

स्वतत्रतापूर्व प्रेमचन्दोत्तर युग के जैनेन्द्र, जोशी, अज्ञेय देवराज, भगवती बाबू, अश्क, अमृतलाल नागर, यशपाल जैसे अनेक लेखक स्वातत्र्योत्तर युग मे भी पूरी सक्रियता के साथ हिन्दी उपन्यास यात्रा मे उपस्थित है। जैनेन्द्र का 'दशार्क' (1985), इलाचद्र जोशी का 'जहाज का पछी' (1954) अज्ञेय का 'अपने अपने अजनबी', 'नदी के द्वीप' (1951), भगवतीचरण वर्मा का 'भूले बिसरे चित्र' (1959), 'सबहि नचावत राम गुसाई' (1970), अश्क का 'गिरती दीवारे' (1947), 'शहर मे घूमता आईना' (1963), अमृत लाल नागर का 'बूॅद और समुद्र' (1956) 'अमृत और विष' आदि स्वातत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मात्रा की महत्त्वपूर्ण कडियाँ है।

देश की स्वाधीनता एक ऐसी विभाजक रेखा है, जो समाज और साहित्य को देखने का सारा दृष्टिकोण ही बदल देती है। शुरु मे इस परिवर्तन की रेखाये स्पष्ट नही थी। लोगो को ऐसा भी अहसास हुआ कि 14 अगस्त की रात मे सोने और 15 अगस्त की सुबह उठने मे कही कुछ ऐसा नही था, जिसे मूल्यगत अन्तर का सकेत माना जा सके। ''बलवत सिह के 'काले कोस' के निसार की तरह जो लोग मर पिचकर पाकिस्तान गये थे, उन्हे एक सा ही आसमान देखकर हैरत हुई थी और कृष्णा सोबती की 'आजादी शम्मोजान' की तरह जो लोग यही रह गये थे, गली मे हुई सजावट और झडियो के बावजूद उनके लिए कमरे की उन्ही बोसीदा दीवारो और झिगली खाट पर वे ही पुराने और बीमार से ग्राहक थे, जिनके साथ उसे पहले की तरह ही वही सब कुछ करना था।''[3] स्वाधीन देश के प्रथम प्रधानमत्री नेहरू, भ्रष्टाचार और कालाबाजारी के विरुद्ध लम्बी चौड़ी घोषणाओं के बावजूद, तेजी से फैलती और पसरती इस हाहाकारी बाढ के आगे असहाय थे। राजनीति का अपराधीकरण एव अपराधी का राजनीतिकरण की स्थितियाँ माहौल को और प्रदूषित कर रही थी। 15 अगस्त 1948 को यशपाल ने विप्लव के अक मे फहरते हुए राष्ट्रीय झण्डे का चित्र देते हुए, जो लिखा वह प्रेमचन्द के गबन के देवीदीन की ही बात का—गद्दी पर जॉन की जगह गोविन्द बैठ गया था—विस्तार था, ''15 अगस्त 1948 के दिन और इसके बाद की पूरी इबारत इस प्रकार है

---

1 शेखर एक जीवनी विविध आयाम —स० रामकमल राय शेखर व्यक्तित्व का नया आयाम —डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का लेख।
2 अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या —डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 68
3 हिन्दी उपन्यास का विकास —मधुरेश, पृष्ठ 181

. पन्द्रह अगस्त के दिन राष्ट्र का तिरगा झण्डा उन सरकारी इमारतो पर फहरेगा जिनसे जनता के दमन के और सार्वजनिक अधिकारो को कुचलने के हुक्मनामे निकलते है। पन्द्रह अगस्त के दिन राष्ट्र का तिरगा झण्डा उन थानो और कोतवालियो पर फहरेगा जहाँ से रोटी की पुकार करने वाले निहत्थे किसानो और मजदूरो पर आक्रमण किया जाता है। पन्द्रह अगस्त के दिन राष्ट्र का तिरगा झण्डा उन जेलो पर फहरेगा जिनमे निरपराध राजनैतिक बन्दी सिसक रहे है, यह राजनैतिक बन्दी भूखी जनता के वही प्रतिनिधि है, जिन्होने ब्रिटिश दमन की चोट को सबसे आगे बढकर सहा था। पन्द्रह अगस्त के दिन इस झण्डे के नीचे जमीदारशाही सैकडो वर्षो तक निरीह जनता को लूटते रहने की वीरता के परिणाम मे अपनी आय से अधिक मुआवजे का आश्वासन पायेगी। पन्द्रह अगस्त के दिन राष्ट्रीय झण्डे की छत्र-छाया मे पूँजीपति शाही अपने मुनाफे की लूट पर राष्ट्रीय अधिकार को आँच न आने का आश्वासन पायेगी।'' [1]

यह एक मोहभग की स्थिति थी, जिसमे सबसे बडा योगदान देश विभाजन की त्रासदी का था। यह न केवल देश का विभाजन था, वरन् मूल्यो के विघटन का चर्मोत्कर्ष था। विभाजन ने साम्प्रदायिक विद्वेष, घृणा, अविश्वास एव मानवीयता के ह्रास की जो समस्या उत्पन्न की, उसमे सभी परम्परागत मूल्य ढह गये और एक नई स्थिति का उदय हुआ, जिसे हम आधुनिक व्यक्ति का आन्तरिक सकट भी कह सकते है। मनुष्य अपने पारिवारिक एव सामाजिक सम्बन्धो मे शरणार्थी बन गया और उसकी सारी प्रतिबद्धताये, एक-एककर खण्डित होती गयी। मूल्यो एव आस्थाओ के खण्डित होने से नया बुद्धिजीवी वर्ग पराजय की आत्मग्लानिपूर्ण असहाय अनुभूति में पूरी तरह टूट गया और आगजनी, बलात्कार, अपहरण एव हत्याओ का क्रम चलता रहा। इन स्थितियो को यशपाल ने 'झूठा सच', भीष्म साहनी ने 'तमस' मे पूरी बेबाकी के साथ प्रस्तुत किया है।

स्वाधीनता ने लोगो की आशाओं एव आकांक्षाओ को तोडा था और लगभग समूचे देश को हताशा और मोहभग की ऐसी अधी सुरंग मे धकेल दिया था, जिसमे घुटन-बेबसी और अधेरे के सिवा कुछ नही था। लेकिन इन सबके होते हुए भी उसने समाज की जडता को एक झटके से ही तोड दिया था और विभाजन की विभीषिका के बाद जब स्थिति सामान्य हुई तो ऐसा लगा कि हम एक पर्याप्त बदले हुए परिवेश मे है। शिक्षा और नौकरी की सम्भावनाओ ने और पजाबी समाज एव सस्कृति के अपेक्षाकृत खुलेपन एव वर्जनाहीनता ने उत्तर भारतीय समाज को भी गहराई से प्रभावित किया था। लडको की बेरोजगारी की तुलना मे लडकियो के लिए नौकरी के अवसर अधिक थे। इस कारण घर-परिवार एव समाज मे उनकी परम्परागत स्थिति मे अन्तर आना स्वाभाविक था। नौकरी की खोज में गाँव से शहर आने वाले युवको ने जिस नगरीय सभ्यता को जन्म दिया, उसने नये सामाजिक सास्कृतिक मूल्यो को पैदा किया। इन्ही मूल्यो ने स्वातत्र्योत्तर उपन्यास साहित्य की दिशा बदल दी। इन उपन्यासो में व्यक्ति एव समाज के सम्बन्धो का पुनर्मूल्याकन व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्ध सूत्रों को अन्वेषित करने की दृष्टि से हुआ। उपन्यासकारो का मुख्य लक्ष्य सामाजिक परिधि मे व्यक्ति को भयमुक्त एव आशंका रहित करके वह आत्मविश्वास देना था, जिससे व्यक्ति मे उस समर्थता का विकास हो सके, जिसके माध्यम से वह उन सकटो, अन्तर्विरोधो, उलझनो एव अवरोधो का साक्षात्कार कर सके, जो नित्य उसकी अनुभूतियो से, आस्थाओ से टकराकर उसे जर्जरित करती रहती है। स्वाधीनता के बाद का हिन्दी उपन्यास एक स्तर पर समकालीन जीवन के दूरव्यापी विस्तार को अपने भीतर समेटता

---

1 हिन्दी उपन्यास का विकास —मधुरेश, पृष्ठ 182

है, और दूसरे स्तर पर गहराई के आयाम मे कुण्ठित और खण्डित व्यक्तित्व की करुणा को अभिव्यजित करता है। कुल मिलाकर उसमे समकालीन जीवन के विविध रूपो की, विशेषकर पूर्ववर्ती युग की तुलना मे, पर्याप्त विविध झॉकी मिलती है, मनुष्य के कई एक परिचित-अपरिचित रूपो के, परिवेश, और उसके साथ सम्बन्ध के, मानवीय सम्बन्धो और परिस्थितियो के चित्र मिलते है।

आधुनिक हिन्दी उपन्यास मे जीवन का विस्तार अधिक है, जिसके विविध रूप, स्तर एव आयाम है। कही यह विस्तार काल मे बडा है, कही मानव अनुभूति की दृष्टि से और कही मनुष्य के टूटने बनने की दीर्घ और बहुमुखी गाथा अकित करने का प्रयास करता है। इन उपन्यासो मे सामाजिक उतार-चढाव भी पूरी भास्वरता के साथ उपस्थित है। कही 'राग दरबारी', 'लाल पीली जमीन', 'यह पथ बन्धु था', 'उखडे हुए लोग', 'महाभोज', 'अलग-अलग वैतरणी', 'नीला चॉद', 'सोना माटी' है, तो कही 'सूखा बरगद' (मजूर), 'काला जल' (शानी), 'आधा गॉव', 'सात आसमान', 'मित्रो मरजानी' है। 'एक चूहे की मौत', 'अधेरे बन्द कमरे', 'कुरु-कुरु स्वाहा', 'कसप', 'बेघर', 'रात का रिर्पोटर', 'जिन्दगीनामा', 'मुझे चॉद चाहिये', 'नौकर की कमीज' की परम्परा भी अपने बहुआयामी स्वरूप के साथ उपस्थित है। कही यह विस्तार जीवन के किसी एक अश की, विशेषकर परम्परागत अश को, उसके समस्त पिछडेपन और सकीर्णता, अध विश्वासो और सस्कारो के साथ प्रस्तुत करता है और नयी तथा पुरानी नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक मान्यताओ के बीच टकराहट के सन्दर्भ मे दिखाता है। जीवन के किसी एक विशेष क्षेत्र या खण्ड को अधिकाधिक समग्रता के साथ प्रस्तुत करने की और साथ ही मध्यवर्गीय जीवन की एकरस कुण्ठा से उकताकर नया भाव जगत खोजने की प्रेरणा ने कुछ ऐसे उपन्यासो की सृष्टि की है, जिनमे किसी जाति विशेष अथवा धन्धे के लोगो के जीवन को चित्रित किया गया है। 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' (अब्दुल बिस्मिल्लाह), 'मुर्दो का टीला' (रागेय राघव), 'अल्मा कबूतरी' (मैत्रेयी) इस प्रकार की औपन्यासिक सर्जना का उल्लेखनीय उदाहरण है।

जिन्दगी के बाह्य यथार्थ से साक्षात्कार की एक अन्य अभिव्यक्ति हुई है, आंचलिक उपन्यासो मे, जिसका उदय रेणु के 'मैला ऑचल' से होता है। डॉ० शिवप्रसाद सिह ''आचलिकता की प्रवृत्ति को स्वातत्र्योत्तर हिन्दुस्तान की सास्कृतिक प्रवृत्ति मानते है। जिसके भीतर भारतीयता को अन्वेषित करने की सूक्ष्म अन्त:धारणा काम कर रही थी'' [1]। नागार्जुन रेणु के पहले से लिख रहे थे, किन्तु उन्हे 'मैला ऑंचल' के आने के बाद आंचलिक उपन्यास का चिन्ह मिला। इनका 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ' और 'वरुण के बेटे' आचलिक उपन्यासो की समस्त शिल्पगत विशेषताओ से पूर्ण न होते हुए भी मात्र अचल केन्द्रित कथावस्तु और आचलिक भाषा प्रयोग के कारण ही आचलिक माने जाते रहे है। शिवप्रसाद सिह का 'अलग-अलग वैतरणी', राही मासूम रजा का 'आधा गॉव' रागेय राघव का 'कब तक पुकारुँ', आचलिक उपन्यास के स्वरूप को विस्तृत करता है। विवेकी राय का का 'बबूल', श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' केशव प्रसाद मिश्र का 'कोहवर की शर्त' केवल आचलिक भाषा प्रयोग के आधार पर ही आचलिक उपन्यास मान लिया जाता है, जबकि इनमे से अधिकाश मे आचलिक वातावरण का भी निर्माण नही हुआ है।

---

1 डॉ० शिव प्रसाद सिह —आधुनिक परिवेश व नव लेखन, पृष्ठ 118

अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' के बाद शहरी आचलिकता का भी प्रश्न उठा। जनपदीय, प्रादेशीय एव स्थानीयता के रग से रगे हुए उपन्यास भी इस युग को नया तेवर देते है।

इस दौर के उपन्यासो मे एक नया स्वर स्त्री के परम्परागत ढॉचे को तोडकर नयी-नयी चेतना व स्फूर्ति प्रदान करता है, जो उसे सतीत्व व देवीतत्व के कटघरे से निकालकर उसे इन्सान के रूप मे देखने समझने का यत्न करता है। "अब वह केवल खिलौना नही केवल रमणी भी नही, मात्र सगिनी भी नही, अधिकाधिक व्यक्ति होती जा रही है।"[1] नारी लेखिकाओ ने भी परम्परागत नारी चिन्ताओ और प्रश्नो से मुक्त होकर उपन्यास साहित्य को नयी भूमि दी है, जो राजनीति, मानवीय सम्बन्ध, सामाजिक व्यवस्था, स्त्री नियति और शोषण, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध जैसे अन्य अनेक प्रश्नो से निर्मित हुई है। पुरुष एव स्त्री की बराबर प्रतिभागिता और अधिकार की मॉग का यह साहित्य जीवन-जगत के अनेक विसगतिपूर्ण प्रश्नो से भरा पडा है। इन महिला उपन्यासकारो मे कृष्णा सोबती अग्रगण्य है, जिन्होने महिला लेखन को सम्पूर्ण लेखन मे परिवर्तित कर दिया है। मन्नू भण्डारी की उपन्यास यात्रा महिला लेखन को नये स्तर पर प्रतिष्ठित करता है। प्रेम व जीवन के संवेगात्मक पक्षो पर सफलतापूर्वक प्रतिष्ठित लेखन के बाद मन्नू ने 'महाभोज' लिखकर हिन्दी उपन्यास को समाज के एक व्यापक व ज्वलत सत्य से जोड दिया है। आपातकाल के तत्काल बाद की परिस्थितियो और राजनीति के अर्थहीन होती जाती परिस्थितियो के बीच जनमानस की यातना, सघर्ष और उसके स्वप्न भग को जितनी सजीदगी एव ओजस्विता के साथ इन्होने अकित किया है, वह अन्यतम है। इस यात्रा को राजी सेठ ने 'तत्सम' से आगे बढाया है। 'निष्कवच' मे उन्होने अपने मूल रूप से विस्थापित युवा पीढी की मानसिकता को विश्लेषित करने की कोशिश की है। ऊषा प्रियवदा, ममता कालिया, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग, अलका सरावगी, गीताजली श्री अपनी औपन्यास्यिक यात्रा के माध्यम से जन-जीवन मे सार्थक हस्तक्षेप के साथ उपस्थित हे। 20 वी सदी का अतिम दशक अगर इसलिए याद किया जाये कि उसमे हिन्दी महिला उपन्यास लेखन ने अपनी सम्पूर्ण दृष्टि पा ली है तो कोई आश्चर्य नही होगा।

20 वी सदी का अतिम दशक विविध भाव भूमियॉ लिये हुए है। इन्हे किसी एक खॉचे मे फिट करके नही देखा जा सकता। गिरिराज किशोर का 'पहला गिरिमिटिया', कामतानाथ का 'कालकथा', कमलाकान्त त्रिपाठी का 'बेदखल', 'पाहीघर' एक ओर अतीत जीविता को समकालीनता से जोडता है तो दूसरी ओर सुरेन्द्र वर्मा का 'मुझे चॉद चाहिए', विनोद कुमार शुक्ल का 'दीवार मे एक खिडकी रहती थी' है, जो उपन्यास के ढॉचे को तोडकर नयी दिशा देता है। श्रीलाल शुक्ल का 'विश्रामपुर का सत' 'रागदरबारी' की आगे की यात्रा तय करता हुआ हिन्दी उपन्यास को महत्त्वपूर्ण देन है। अवध के किसान आन्दोलन को लेकर लिखा गया कमलाकान्त त्रिपाठी का 'पाहीघर' एवं 'बेदखल', 'गोदान', 'मैला ऑचल' की सघर्ष गाथा की समकालीन प्रस्तुति है।

---

1 नेमिचन्द्र जैन —अधूरे साक्षात्कार, पृष्ठ 6

(ii) उपन्यास का शिल्प

शिल्प-विधि के लिए अग्रेजी मे 'टेकनीक' शब्द का प्रयोग होता है, जिसका अर्थ है—विधि, ढग या तरीका, जिसके द्वारा किसी लक्ष्य की पूर्ति की गयी हो। 'एक ऐसी विधि, जिसे अपनाकर कोई सृजनशील कलाकार आत्माभिव्यक्ति के लिए तकनीकी तत्त्वो का प्रयोग करता है।' [1] अग्रेजी शब्दकोश मे इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है—"कलात्मक कार्यवाही की वह रीति, जो सगीत अथवा चित्रकला मे प्राप्य है तथा कलात्मक कारीगरी।" [2] इसी से मिलती जुलती परिभाषा वृहद् हिन्दीकोश मे भी है—"शिल्प से अभिप्राय हाथ से कोई वस्तु तैयार करने अथवा दस्तकारी या कारीगरी से है।"

स्पष्ट है कि 'शिल्प' शब्द के कोशगत अर्थ का प्रयोग वस्तु, मूर्ति, चित्र आदि ठोस, दृश्य और स्थिर रूप वाली ललित कलाओ के सन्दर्भ मे ही होता रहा है, जहॉ कोई वस्तु बुनी जाती है, गढी जाती है, निर्मित होती है, तराशी जाती है अर्थात् हाथ की कारीगरी दिखाई जाती है। अग्रेजी मे भी 'टेकनीक' शब्द के समानार्थी जो अन्य कई शब्द है—मैकेनिक्स, आर्टिस्ट्री, कस्ट्रक्शन, सेटिग या डिजाइन आदि प्रयोग मे लाये जाते है, ये भी इसी तथ्य की ओर सकेतित करते है। उपन्यास मे शिल्प-शब्द का प्रयोग या शिल्प विधि का प्रयोग उपर्युक्त कोशगत अर्थ से कुछ भिन्न रूप मे होता है। डॉ० गोपाल राय के अनुसार—

> "साहित्य की अमूर्त कला मे 'रूप', 'ढॉचा', 'बनावट', 'आकल्पन' 'स्थापत्य' आदि पदो का प्रयोग तनिक अनिश्चित और ढीले ढाले अर्थ मे ही हो सकता है। ये पद पद वस्तु, मूर्ति चित्र आदि कलाओ के प्रसग मे निश्चित अर्थ के साथ प्रयुक्त होते है, क्योकि वहॉ ये ऑखो को स्पष्ट दिखाई देते है। 'उपन्यास' का रूप या ढॉचा, मानसिक प्रत्यक्षीकरण का विषय है, जो गतिमान बिम्वो के जुलूस के रूप मे अस्तित्त्व प्राप्त करता है।" [3]

यद्यपि की आलोचको ने उस 'वस्तु' के लिए कई नाम—'स्ट्रक्चर', 'फॉर्म', 'डिजाइन', 'पैटर्न', 'रिद्म' आदि—दिये है, पर कोई भी दावे के साथ यह नही कह सकता कि उसके द्वारा प्रयुक्त नाम उपन्यास की भीतरी बनावट या सघटना वाली वस्तु को पूर्णत: व्यजित कर सकने मे समर्थ है।

ई० एम० फॉर्स्टर अपनी पुस्तक 'ऐस्पेक्ट्स ऑफ द नॉवेल' मे 'पैटर्न एण्ड रिद्म' शीर्षक के अन्तर्गत औपन्यासिक शिल्प के इस तत्त्व के सदर्भ मे लिखते है—

---

1 "The manner in which a creative uses the techinical elements of his art to express himself"

2 "Mode of Artistic execution in Music, Painting and techinical skill in Art"

3 उपन्यास का शिल्प —गोपाल राय, पृष्ठ 5

''उपन्यास का यह तत्त्व कुछ उपन्यासो मे 'पैटर्न' या 'सघटना' के रूप मे दिखाई देता है और कुछ मे 'रिद्म' या 'लय' अथवा 'अत: सामजस्य' के रूप मे। वास्तव मे 'सघटना' उपन्यास का एक सौन्दर्यात्मक पहलू है, जिसकी पुष्टि या सवर्द्धन उपन्यास के किसी भी तत्त्व—चरित्र या दृश्य—आदि से हो सकता है पर सबसे अधिक यह उपन्यास के कथानक से ही होता है।''

यह एक प्रकार से कथानक की स्वाभाविक विकास-प्रक्रिया का परिणाम होता है अथवा उसी से उत्पन्न होता है। निश्चित कथावस्तु के अभाव मे यह चीज पैदा ही नही हो सकती। जिस उपन्यास मे पैटर्न का अभाव होगा, उसकी पूर्ति के लिए उपन्यास मे जिस कला का प्रयोग उपन्यासकार करता है, उसे 'लय' या 'रिद्म' कह सकते है। डॉ० गोपाल राय लिखते है—

''उपन्यास की बनावट अन्य कलाओ की बनावट से भिन्न होती है और अन्य चाक्षुव कलाओ की तरह उसका रूप स्थिर और अपरिवर्तनीय नही होता। यह कही 'फार्म' के रूप मे दिखाई पडता है, कही 'स्ट्रक्चर' के रूप मे, कही डिजाइन के रूप मे दिखाई पडता है, कही 'रिद्म' के रूप मे, कही उसका 'पैटर्न' होता है, कही 'सर्फेस'।'' [1]

वस्तुत यह शिल्प विधान एक माध्यम है—अरूप और रूप के बीच, अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच कवि और पाठको के बीच। यह ऐसी कला है, जिसका आश्रय प्रत्येक रचनाकार को लेना पडता है। डॉ० त्रिभुवन सिह के शब्द है—

''शिल्प अथवा रचना-विधि का सम्बन्ध उस परिणति से है, जो कृति को सभी रचना विधायक तत्त्वो के सहयोग से कृतिकार की प्रतिभा द्वारा प्राप्त होती है।'' [2]

राजेन्द्र यादव इसे और स्पष्ट करते हुए लिखते है—

''जिन सवेदना—चित्रो से लेखक अपने—अनुभवो—अनुभूतियो को पाता है, उन्हे अधिक समृद्ध, सपादित और सार्थक करके, अधिक युक्तिपूर्ण ढग से अनुशासित करके, इस प्रकार सप्रेषित करता है कि वे दूसरो के लिए भी सवेदनीय बन जाये, उन संवेदना-चित्रो को अधिकाधिक संप्रेषणीय बनाने के लिए लेखक को शिल्प का सहारा लेना पडता है।'' [3]

वस्तुत: शिल्प विधि एक ऐसी वस्तु सापेक्ष परिवर्तनशील प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से कलाकार अपनी अमूर्त जीवनानुभूतियो, सवेदनाओ, विचारो और भावो को आकर्षक और सवेदनीय ढग से मूर्त रूप मे अभिव्यजित करता है।

'शिल्प-विधि' के सगठनात्मक सूत्र की व्याख्या करते हुए एडवर्ड एम एन्थोनी ने कहा है—

''शिल्प विधि विषय-वस्तु के प्रति अपनाये गये दृष्टिकोण के सामजस्य से अभिव्यक्ति के विविध मार्गो की तलाश की एक पद्धति है।'' [4]

---

1 उपन्यास का शिल्प —डॉ० गोपाल राय, पृष्ठ 5
2 हिन्दी उपन्यास शिल्प और प्रयोग —डॉ० त्रिभुवन सिह पृष्ठ 240
3 राजेन्द्र यादव 'एक दुनिया समानातर' (भूमिका), पृष्ठ 69
4 "The Organırgatıonal Key ıs that techınique carry out a method whıch ıs consistent wıth an approach" Edurard m Anthony Technıque Englısh as a second language Page 93

यहाँ दृष्टिकोण से तात्पर्य उस परस्पर-सबद्ध वैयक्तिक मान्यताओ के पुज से है, जो उपन्यास, उपन्यास रचना तथा इसके पठन की मूलभूत प्रकृति से सबद्ध होता है। दृष्टिकोण उपन्यासकार और उसकी सभावित कृति के सम्बन्ध मे एक स्वयसिद्धि की तरह होता है तथा यह उपन्यास की विषयवस्तु की प्रकृति के वर्णन के साथ-ही-साथ उपन्यासकार के अवलोकन बिन्दु, दर्शन एव आस्था को भी सकेतित करता है। पद्धति उपन्यास की विषयवस्तु या कथानक के समस्त तत्त्वो के शृखलाबद्ध प्रस्तुतीकरण की एक ऐसी क्रमानुक्रमिक योजना है, जिसमे एक अग का दूसरे अग से कोई विरोध भाव न हो। दोनो मे अतर इतना ही है कि दृष्टिकोण एक स्वयसिद्धि है और पद्धति प्रक्रियात्मक। दृष्टिकोण के अन्तर्गत अनेक पद्धतियाँ हो सकती है और किसी विशेष पद्धति का चयन इस पर निर्भर करता है कि उपन्यासकार अपनी विषय वस्तु का प्रस्तुतीकरण किस रूप मे करने जा रहा है तथा उसकी विषयवस्तु या कथानक की प्रकृति कैसी है।

स्कॉट जेम्स का विचार है—

> ''सावधानीपूर्वक लिखा गया कोई भी उपन्यास पद्धति और शिल्प-विधि मे अपनी अलग समस्या उपस्थित करता है।'' [1]

फ्रासुआ मोरियाक भी लगभग इसी मत का समर्थन करते हुए कहते है—

> ''प्रत्येक उपन्यास, जो अपने इस नाम को सार्थक करने का अधिकारी है, अपना पृथक नियम रखता है, जैसे छोटा या बडा ग्रह अपनी अलग वनस्पति तथा प्राणधारी समूह रखता है।'' [2]

मार्क स्कोरर शिल्प विधि को ही वह साधन मानते है,—

> ''जो लेखक को अपने अनुभव का, जो वास्तव मे विषय-वस्तु को अपने अनुभव का, जो वास्तव मे विषय-वस्तु है, प्रयोग करने के लिए बाध्य करता है, क्योकि शिल्पविधि ही एक मात्र वह साधन है जिनके माध्यम से वह अपने विषय की खोज कर सकता है, इसकी जॉच-पडताल और विस्तार कर सकता है। और केवल इतना ही नही, वरन् विषय वस्तु मे अन्तर्निहित अर्थ को अभिव्यक्त कर उसका मूल्याकन भी कर सकता है।'' [3]

इसी सन्दर्भ मे वे आगे लिखते हैं कि मात्र शिल्प-विधि ही कला के तत्त्वों को वस्तुपरक बनाती है। अत. वही उन वस्तुओ का मूल्याकन भी करती है। यह एक ऐसी स्वयसिद्धि है जो अपना विनाशकारी स्वरूप तब प्रदर्शित करती है, जब कोई लेखक अपनी विषय वस्तु की महत्ता को तात्कालिक मॉग के चलते यह घोषणा करता है कि वह शिल्पगत अलकरण का निर्वाह नहीं कर सका है। तब उस लेखक की कला भी उसकी अवमानना कर देती है। अग्रेजी साहित्य मे एच० जी० वेल्स इसके उदाहरण है, जिन्होने शिल्प की उपेक्षा करते हुए कहा—

> ''मैने लेखन को (लेखन-कला) कभी उतना महत्त्व नही दिया। मै सचेतन और सावधान लेखको के पवित्र राज्य की सीमा से बाहर हूँ।'' [4]

---

1 Every carefully written novel presents its own separate problem in method and technique —Scott James, The making of biterature

2 "Every novel, worthy of the name is like another planet, whether large or small, which has its own laws just as it has its own flora and fauna" —writers at work

3 Technique as Discovery Perspectives on Fiction —Mark Schorer, Page 200

4 "I have never taken any very great pains about writing I am outside the hierarchy of conscious and deliberate writers altogether" Ibid, Page 205

शिल्प से पलायन की इसी दुष्प्रवृत्ति ने वेल्स को युगीन साहित्य से अलग-थलग कर दिया था।

स्पष्ट है कि मार्क स्कोरर शिल्प की उपयोगिता और महत्ता से इतने अभिभूत है कि शिल्प को ही सब-कुछ मान लेने को तैयार है।[1] हेनरी जेम्स की दृष्टि मे 'उपन्यास का फार्म उस हद तक विषय वस्तु है कि उसके अभाव मे विषय वस्तु बिल्कुल ही नही है।' मेंडिलो तो शिल्प-विधि को अभिव्यक्ति का साधन मात्र न मानकर साध्य ही मानने पर जोर देते है—

> ''वह जमाना लद चुका जब शिल्प को प्राप्त अनुभवो को व्यवस्थित रूप मे सजाने अथवा मनमाने ढग से प्रयोग करने के साधन-मात्र के रूप मे लिया जाता था।''[2]

इन शिल्पवादी आलोचको के विपरीत ऐसे समीक्षक भी है, जो रचना-निर्माण मे शिल्प की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करते हुए भी इसे विषय से अन्योन्याश्रित मानते है। ये कृति के रूपाकार को आन्तरिक प्रक्रिया से उद्भूत न मानकर बाह्य वस्तु मानते है, जो वस्तु से अन्योन्याश्रित है। जैनेन्द्र के अनुसार—

> ''कहानी और कहानीकार मे सबध अभिन्नता का है, लेकिन सृजन के बाद वह कहानीकार से अलग हो जाती है। शिल्प यदि आवश्यक है, तो इसलिए कि इससे किनारे बनते है, नदी का पानी नही बनता।''[3] अन्य स्थल पर जैनेन्द्र लिखते है—

> ''टेकनीक उस ढॉचे के नियमो का नाम है। पर ढॉचे की उपयोगिता इसी मे है कि वह सजीव मनुष्य के काम मे आये। वैसे ही 'टेकनीक' साहित्य सृजन मे योग देने के लिए है।''[4]

स्पष्ट है कि रचना के लिए शिल्प आवश्यक तो है, पर वह इसकी आत्मा नही है। परमानद श्रीवास्तव इसे और अधिक स्पष्ट करते है—

> ''शिल्प-विधि रचना-प्रक्रिया का एक पक्ष है। रचना का 'वक्तव्य' शिल्प के भीतर से व्यक्त होता है, इसके द्वारा सप्रेषित होता है।''[5]

मोहन राकेश का मत है कि—

> ''कहानी या उपन्यास की शिल्प विधि का विकास लेखक की प्रयोग-बुद्धि पर इतना निर्भर नही करता, जितना उसके मैटर की आतरिक अपेक्षा पर।''[6]

---

1 "When we speak of technique, then we speak of nearly everything For technique is the means by which the writers's experience, which is subject — matter, compells him to attend to it" —Technique as Discovery, perspectyives of fiction Page 200

2 The time has long passed when technique could be taken simply to mean the ways in which a given body of experience may be organised and manipulated to the best advantage Time nad the Novel, Page 234

3 साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ 352

4 साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ 360

5 हिन्दी कहानी की रचना-प्रक्रिया, पृष्ठ 233

6 'कहानी नये सन्दर्भ की खोज', 'नयी कहानी सदर्भ और प्रकृति' पृष्ठ 97

ई० एम० फार्स्टर किसी न किसी प्रकार के रूपाकार को आवश्यक तो मानते है, पर उसे रचना की आन्तरिक सन्तुलन-व्यवस्था की ऊपरी परत या नियोजन का वाह्य साक्ष्य ही मानते है। स्कॉट जेम्स भी विषय-वस्तु तथा शिल्प-विधि को अलग-अलग मानते है। उनका कहना है कि—

"रूपाकार (फार्म) विषय-वस्तु पर सृजनशील मस्तिष्क द्वारा आरोपित बाह्य आकार है।" [1]

उपन्यास की विषय वस्तु और लेखक द्वारा इसके प्रस्तुतीकरण मे अपनाये गये अवलोकन-बिन्दु को अधिक महत्त्व देने वाले समीक्षको ने शिल्प विधि को न केवल अभिव्यक्ति का एक साधन माना है, बल्कि यह भी माना है कि रचना के उद्देश्य या आशय के परिप्रेक्ष्य मे ही इसकी महत्ता भी निर्धारित की जानी चाहिये। पर्सी लब्बक इस सन्दर्भ मे कहते है—

"किसी पुस्तक का रूपाकार लेखक के इरादे या उद्देश्य पर ही निर्भर करता है और जब तक उसका उद्देश्य ज्ञात न हो, रूपाकार (फॉर्म) के सम्बन्ध मे कुछ नहीं कहा जा सकता।" [2]

जे० डब्ल्यू० बीच के विचार भी इससे भिन्न नही है—

"शिल्प विधि वह माध्यम है जिसके द्वारा लेखक के उद्देश्य को जाना जा सकता है।" [3]

नामवर सिह भी साहित्य के रूप को केवल रूप नही मानते, बल्कि जीवन को समझने के भिन्न-भिन्न माध्यम मानते है। उपेन्द्रनाथ अश्क वस्तु को शिल्प से भिन्न बतलाते हुए कहते है कि—

"जहॉ तक मेरे मन का प्रश्न है, मै समझता हूँ कि सबसे महत्त्व की चीज वस्तु और देखने वाली दृष्टि है। उसके बाद शिल्प का स्थान आता है।" [4]

यहॉ पर अश्क पर्सी लब्बक के अवलोकन बिन्दु वाले सिद्धान्त का पूर्णत समर्थन करते दिखाई देते है, क्योकि लब्बक भी उपन्यासकार की शिल्प-विधि का निर्धारण उसके दृष्टिकोण पर ही मानते है, अर्थात् उपन्यासकार का कथा या विषय-वस्तु के साथ जो सबंध होता है, उसको वह जिस दृष्टिकोण से देखता है, वही अत मे उसके उपन्यास शिल्प के स्वरूप को भी निर्धारित करता है। इसी तथ्य को समरसेट मॉम थोडा दूसरे ढग से कहते है—

"वर्ण्य-विषय मे गम्भीर रुचि न रखने के फलस्वरूप ही कलाकार शिल्प से अभिभूत होता है उसमे डूब जाता है।" [5]

वस्तुत: उपन्यासकार जिस उद्देश्य से अपनी रचना मे प्रवृत्त होता है, यदि वह उसके प्रति अत्यन्त सजग है, तो वह वर्ण्य विषय की उपेक्षा करके शिल्प विधि के प्रति न तो आग्रहवान हो सकता है, और न उसे ऐसा करने का अवकाश ही मिल सकता है। मार्क स्कोरर का विचार है—

---

1 'It is objective order that has been imposed on matter by the mind' , The making of literature, Page 350

2 The form of the look depends on ir (the intention of the novelists) and unit it is known there is nothing to be said, of form, —The craft of fiction , Page 12

3 " Technique is the means by which he does realize them (Intentions)" —The Twentieth century novel, Page 2

4 हिन्दी उपन्यास शिल्प और प्रयोग — प्रेम भटनागर से उद्धृत

5 वही।

"उपन्यास मे लेखक के लिए अपने प्रत्येक वैसे शिल्प के प्रति श्रद्धा, तल्लीनता और आग्रह का भाव होना चाहिए, जो उसे अपनी विषय-वस्तु के अन्वेषण और मूल्याकन मे सहयोग दे। केवल इतना ही नही, बल्कि उस शिल्प के द्वारा अपनी विषय-वस्तु मे निहित समग्र अर्थो के विस्तार का सूक्ष्म अन्वेषण भी करे।"

लेग्गेट का तो यहॉ तक कहना है कि उपन्यास के रूपाकार का विषय वस्तु के बिना कोई अस्तित्त्व ही नही है। एफ० आर० लिविस केवल विषय वस्तु को ही प्रधानता नही देते, बल्कि यहॉ तक मानते है कि शिल्पगत सगठनात्मक निपुणता के लिए विषय वस्तु की समृद्धि भी आवश्यक है।

इस प्रकार शिल्प-विधि के सन्दर्भ मे दो अतिवादी दृष्टिकोण दिखाई देते है। एक वर्ग के आलोचको द्वारा तकनीक या शिल्प-विधि को ही सब कुछ मान लिया जाता है और उसी मे कृति का सर्वस्व अतर्भूत मान लिया गया दूसरे वर्ग के आलोचक शिल्प विधि को वस्तु या उद्देश्य सापेक्ष मानकर उसे लेखक के उद्देश्य, दृष्टिकोण, आदर्श, विषय की अभिव्यक्ति का एक माध्यम मात्र मानने के लिए ही तैयार है। पर इन दोनो अतिवादी दृष्टिकोणो के अतिरिक्त भी कुछ ऐसी कठिनाइयॉ है, जिनके चलते उपन्यास की शिल्प विधि को परिभाषित करना दुष्कर है।

(1) रचना पद्धति मे अनवरत परिवर्तनशीलता

(2) रचनाकारो की व्यक्तिगत रुचि या कला के प्रति अपनाया गया दृष्टिकोण

(3) कलाकार की व्यक्तिगत क्षमता और प्रतिभा

इसी कठिनाई के चलते हेनरी जेम्स ने उपन्यास की सम्पूर्णता को शिल्प, शैली, रूपाकार या चरित्र, कथानक आदि अलग-अलग खण्डो मे विभाजित कर इनका भिन्न-भिन्न औपन्यासिक इकाईयो के रूप में विश्लेषण विवेचन करने मे असमर्थता व्यक्त की है। उनके अनुसार—

"उपन्यास एक जीवित वस्तु है— प्रत्येक प्राणवंत सृष्टि की तरह एक अविभाज्य अप्रतिहत ईकाई और इसके प्रत्येक अवयव मे दूसरे अवयवो का कुछ-न-कुछ भाग या कोई न कोई अंश उचित अनुपात मे निहित रहता ही है। इसलिए जो भी समीक्षक उसके परस्पर गुफित विन्यास के आधार पर भौगोलिक रेखाएँ खीचने या छलावा करने की कोशिश करता है, वह कुछ बनावटी ढग का सीमाकन ही करता है।" [1]

'उपन्यास' के लिए अग्रेजी मे 'नॉवेल' शब्द के प्रयोग की सार्थकता भी इसी ओर सकेत करती है कि इसमे 'नवीनता' और 'परिवर्तनशीलता' की प्रवृत्ति नैसर्गिक है। 'उपन्यास' विधा को समसामयिक या आधुनिक जीवन के त्वरित परिवर्तन तथा परिवेश और मूल्यगत बदलाव के यथार्थ स्वरूप की अभिव्यक्ति करने के लिए स्वय को परिवर्तन और नूतनता की प्रक्रिया से गुजारने के निमित्त एक लचीला स्वरूप धारण करना अनिवार्य हो जाता है। इसी नित-नूतनता और सतत परिवर्तनशीलता की प्रवृत्ति के फलस्वरूप उपन्यास की रचना-पद्धति भी सदा परिवर्तित होती रही है, और इसके साथ ही

---

1 The art of fiction the great criticc. —Henary James, Page 66

नवीन विषय-वस्तुओ की मॉग के अनुसार अभिव्यक्ति के माध्यम और शिल्प-विधान मे भी नित-नूतन प्रयोग करने की पूरी छूट दृष्टिगत होती है। जैसा की मोहन राकेश ने लिखा है कि "हर साहित्यकार आधुनिकता की चुनौती को अपने परिवेश और निजी स्तर पर स्वीकारता तथा आत्मसात् करता है। इसलिए एक की प्रतिक्रिया का दूसरे की प्रतिक्रिया से भिन्न होना स्वाभाविक है।" [1] वाल्टन लिट्ज का मत भी यही है—

> "चेतना या बोध मे क्राति नये शिल्प की मॉग करती है। जब-जब ससार के प्रति परपरागत बोध समाप्त हो जाता है तब अभिव्यक्ति के पारपरिक रूपाकार भी पगु हो जाते है।" [2]

ई० एम० फार्स्टर ने तो स्पष्ट शब्दो मे कहा है—

> "साहित्य के रूपाकार तथा शिल्पविधियॉ रूढ कला-सिद्धान्त नही है, ये पीढी-दर-पीढी बदलते रहते है।" [3]

शिल्प विधि मे इस परिवर्तन के मुख्यत. दो कारण दृष्टिगत होते है—

(1) एक तो नवीन विषयवस्तु की आन्तरिक मॉग
(2) इसके लिए परपरित अभिव्यक्ति-माध्यमो की अपूर्णता या असमर्थता।

तॉलस्तॉय ने यह कहकर की, 'प्रत्येक महान कलाकार अनिवार्यत. अपने एक अलग रूपाकार की भी सृष्टि करता है" [4] इसी बात की पुष्टि की है। डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव ने भी इसी तथ्य की ओर सकेतित किया है। उनके अनुसार—"उपन्यासो के शिल्प मे हमेशा परिवर्तन होता रहा है। इसमे समय के मुहावरो को अपनाने की कोशिश भी है। इस मुहावरे को कभी देश से लिया गया है, कभी विदेश से। यह कभी उपन्यास के उद्देश्य के बारे मे है, तो कभी रचना-विधान के बारे, कभी बोध को लेकर है तो कभी सवेदना को लेकर।" [5]

इस प्रकार इनके अनुसार शिल्प के बदलाव की अनिवार्यता के चार कारण हैं—

(1) समय के मुहावरो को अपनाने की कोशिश अर्थात् युगधर्मिता या बदलते हुए जीवन की अभिव्यक्ति के प्रयत्न।
(2) उपन्यास का उद्देश्य
(3) रचना-विधान अर्थात् विषय वस्तु के सर्वथा उपयुक्त अभिव्यक्ति के माध्यम
(4) बोध या सवेदना मे परिवर्तन अर्थात् बदलते हुए जीवन मूल्यों को युगीन परिप्रेक्ष्य मे ग्रहण करने का बोध।

पाठक की रुचि के उत्तरोत्तर परिष्कार से भी शिल्प-विधि मे परिवर्तन की एक नयी मॉग उपस्थित होती है, क्योकि रजकता भी उपन्यास रचना के लिए आवश्यक है। एच० वी० रूथ का मत है कि—

---

1 मोहन राकेश 'बिन्दुहीन आलोचना', 'नई कहानियाँ' 1961, पृष्ठ 9
2 "A revolution insensibility demands new techniques, when traditional ways of Knowing the world collages traditional forms of experession are in valiated" Walton Lites The art of james joice, Page 53
3 "Form is not traditional It alters form generation to generation" —E M Forster Art for Arts sake Page 103
4 I think that every great artist neccessarilly creats his own form also" —Novelist on the novels Page 265
5 हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया, पृष्ठ 233

''कला को हमेशा नवीकृत होते रहना चाहिए। उसका रचनात्मक प्रभाव कौतूहल तत्त्व पर आधृत है। एक बार जब उसके प्रस्तुतीकरण की नवीनता फीकी पडी कि पाठक उससे विरत होकर अपने दैनिक कार्यो मे लगा।'' 1

मोहन राकेश ने भी इसी विचार का समर्थन करते हुए कहा—

''लेखक यदि अपनी रचना का स्वय पाठक बना रहता है, तो उसका असतोष ही उसे अभिव्यक्ति के नये आयामो को छूने की ओर प्रवृत्त करता है। शिल्प के बदलने मे लेखक के असतोष और मैटर की आतरिक अपेक्षा, दोनो का ही योग रहता है।'' 2

स्पष्ट है कि शिल्प विधि एक व्यापक शब्द है, इसका सम्बन्ध अभिव्यक्ति और रूपाकारो की समस्त प्रक्रियाओ से है। शिल्प न केवल अरूप और रूप तथा अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच एक सेतु ही है, बल्कि डॉ० त्रिभुवन सिह के शब्दो मे, ''उपन्यास मे अभिव्यक्ति पाने वाले जितने प्रसग, व्यक्ति अथवा समाज होते है, उनका अस्तित्त्व ही समाप्त हो जाये, यदि शिल्प न हो। इसके अभाव मे तो कृति हवाई किला बनकर रह जायेगी। कल्पना और यथार्थ के भेद को समाप्त करने का काम शिल्प ही करता है, जिसके माध्यम से अभिप्रेत भावो अथवा उद्देश्यो का रूपान्तरण सभव होता है।'' 3

वस्तुत: किसी भी कलात्मक निर्मिति मे उसके शिल्प का उसके विषय से अनिवार्य और घनिष्ठ सबध होता है। चूँकि शिल्प का अस्तित्त्व ही विषय सापेक्ष है, इसीलिए किसी विषय-विशेष की विशिष्टता उसके शिल्प की विशिष्टता पर ही पूर्णत. निर्भर करती है। न तो विषयहीन शिल्प की ही कल्पना की जा सकती है और न शिल्पहीन कोई विषय ही हमारे मानसिक प्रत्यक्षीकरण का उपादान बनने मे समर्थ हो सकता है। ई० एम० फार्स्टर के अनुसार—

''यह (शिल्पविधि) कथा वस्तु मे उसी प्रकार स्थित रहता है जिस प्रकार बादलो मे बिजली और वह तभी दिखाई पडता है जब उससे अलग अस्तित्त्व ग्रहण करता है। कभी-कभी सौन्दर्य कृति के आकार मे निहित रहता है, उसकी सम्पूर्णता मे—उसकी एकसूत्रता मे, और तब आलोचक का काम आसान हो जाता है।'' 4

जिस कृति मे विषय और रूप परस्परावलबी, एकीभूत ओर अविभाज्य होते है, वही सुनिर्मित और सुशिल्पित कही जा सकती है। वस्तु रूप मे ढल जाये और रूप वस्तु को पूर्णत: अभिव्यजित कर सके—कला की पूर्णता इसी मे है और सुविन्यस्त कृति का यही मानदण्ड भी है। पर्सी लुब्बक ने भी सुशिल्पित पुस्तक की पहचान के लिए यही मानक निर्धारित किया है—

''सुनिर्मित पुस्तक वही है, जिसका सारा शिल्प विषय की अभिव्यक्ति करे और सारा विषय शिल्पित हो

---

1 Art must always be renewed Its creatives influence depends on surprise When once the freshness of the present-ment has faded, the reader relapses to his daily habits" —English literature and ideas in 20th century Page 2

2 मोहन राकेश 'एक और जिन्दगी' की भूमिका से उद्धृत

3 हिन्दी उपन्यास शिल्प और प्रयोग —डॉ० त्रिभुवन सिह पृष्ठ 25

4 It (Pattern) springs mainly from the plat, accompanies it like a light in the clouds and remains visible after it has departed Beauty is sometimes the shape of the book, the book as a whole, the unity " E M Forster, aspects of the novel Page 154

जाये।''[1]

म्यूर मेकैंजी ने भी लिखा है—

''रूप विषय वस्तु के साथ अपनी इच्छा के अनुसार जोड दी जाने वाली कोई फालतू या अतिरिक्त वस्तु नही है, यह तो उसका अविच्छिन्न और महत्त्वपूर्ण अग है, जो विषय की सम्यक् जानकारी देने के अतिरिक्त उसके साथ आतरिक, विशेष तथा कार्यकारण सबध स्थापित करता है और उसकी (विषय की) आतरिक सरचना को प्रभावित करता है। विषय को किसी अन्य रूप मे प्रस्तुत करने का अर्थ है . उसे छिपाना अथवा कोई सर्वथा भिन्न चीज दिखाना।''[2]

इस प्रकार कलाकृति का बाहरी रूप, कलेवर, आकार अथवा रूपाकार कला की अभिव्यक्ति के प्रकट रूप के ही विभिन्न नाम है, चाहे इन्हे रचनाविधि कहे या शिल्प-विधि, पर इनका एक ही उद्देश्य है—अमूर्त को मूर्त करना, निराकार को साकार करना। शिल्प विधान एक माध्यम है—अरूप और रूप के बीच, अनुभूति एव अभिव्यक्ति के बीच, कवियो और पाठको के बीच। मार्क स्कोरर ने भी इस विचार का समर्थन किया है—

'' 'अरूप' है कलाकार के मन मे उठने वाली कोरी अनुभूति या विषय, और 'रूप' है रूपायित अनुभूति—और इन दोनो के बीच सेतु का काम करती है शिल्प विधि।''[3]

इसीलिए पर्सी लुब्बक ने कहा है कि 'जब तक रचनाकार के उद्देश्य या आशय को ठीक से न समझा जाये तब तक उसकी रचना के शिल्प के सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहा जा सकता।'[4] डॉ० नामवर सिंह ने भी कविता के सन्दर्भ मे, जो कहा है, उसे उपन्यास के सन्दर्भ मे भी लागू किया जा सकता है—

''किसी कविता की भाषा को 'सुन्दर' कहने के बाद उसके कथ्य को 'असुन्दर' कहना असगत होगा। कथन को कथ्य से कैसे अलग किया जा सकता है? यदि कथ्य कथन से अलग भी है, तो कथन के अतिरिक्त उसे जानने का साधन क्या है?''[5]

निष्कर्षत· न तो रचना के मूल्य निर्धारण मे उसके शिल्प विधान को ही एकमात्र मानदण्ड मानने वाले रूपवादी-कलावादी सिद्धान्त ही सर्वथा पूर्ण और समीचीन है और न केवल रचना के कथ्य को ही सब कुछ मान लेने वाले यथार्थवादी मानदण्ड ही। डॉ० नामवर सिह के शब्द है—

---

1 "The well made book is in which the matter is all used up in the form, in which the form express all the matter" Percy Lubbock The craft of fiction, Page 40

2 "Form is not an artitrary addition to content but an important and inseparable part of it, that give temporal spatial and casual relations which effect the concurrent factors of the content and which may include some of its profoundest significance To present the content in some other form —show is not to present it at all but to something different — Agnes Mure Machenzie The process of Literature , Page 14

3 "The difference between content or experience and achived content or art is technique" —Perspectives on fiction Page 200

4 The form of the book depends on it (the intention of the novelists) and untill it is known, there is nothing to be said of form" —The Craft of Fiction Page 12

5 'कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ 108

> "कथ्य को कथन के रूप मे नि.शेष कर देने मे नि:सन्देह आलोचना के अन्तर्गत रूपवादी रुझान का खतरा है, क्योकि कुछ आलोचक कथन की भाषागत विशेषताओ के विश्लेषण को ही समूची काव्यकृति का विश्लेषण समझने की भूल कर सकते है। किन्तु जागरूक समीक्षक शब्द के गिर्द बनने वाले समस्त अर्थ-वृत्तो तक उसके फैलते जाने का विश्वासी है, वह सन्दर्भ के अनुसार शब्द मे निहित सभी अर्थापत्तियो को पकडकर काव्य भाषा (रचना-शिल्प) के आधार पर ही काव्य का पूर्ण मूल्याकन कर सकता है, जिसमे उसका नैतिक मूल्याकन भी निहित है।" [1]

वस्तुत: उच्च कोटि की रचना के लिए विषय एव शिल्प दोनों के समन्वय एव एकरूपता की आवश्यकता है क्योकि 'रचना मे विषय को ही शिल्पित किया जाता है और विषय के बिना शिल्प का कोई अस्तित्त्व ही सम्भव नही है' [2]

उपन्यास के तत्त्व—

अपने उदय के समय से ही उपन्यास के तत्त्वो के सन्दर्भ मे मत वैभिन्य की स्थिति दिखाई देती है। विलियम हेनरी हडसन के अनुसार,— "उपन्यास मे घटनाये एव कृत्य होते है। कुछ बाते तो परिस्थितियो के अनुसार घटित होती है और कुछ विशेष देश-काल मे किन्ही व्यक्तियो के द्वारा की जाती है। इन सब से मिलकर अर्थात् जो घटित होता है और जो किया जाता है वह बाते सघटित होकर बनती है, जिन्हे समष्टि मे कथावस्तु या प्लाट कहते है। इस प्रकार की घटनाये कुछ व्यक्तियो के जीवन मे घटित होती है और लोगो के द्वारा की जाती है या सहन की जाती है, और वे पुरुष और स्त्रियॉ जो इस प्रकार के घटनाक्रम को आगे बढाते है—मिलकर डैमेटिस परसोनी अथवा चरित्र समूह बनाते है। इन चरित्रो के बीच की बातचीत, से सवाद नामक तीसरा उपकरण बनाती है। यह चरित्र-चित्रण के साथ प्राय: अविभाज्य ढग से जुडा होता है। चौथे घटनाओ के घटित होने के लिए एव चरित्रो के कार्य-व्यापार के लिए समय और स्थान की आवश्यकता है और इस प्रकार देश और काल का एक दूसरा उपकरण बन जाता है। इसके बाद हम अपनी सूची मे शैली के उपकरण को रख सकते है और इस प्रकार हमारी उपकरण-सूची पूर्ण-सी हो जाती है। पर एक छठा उपकरण रह जाता है, जिसको अन्य उपकरणो के समान महत्त्व देने मे हिचका जा सकता है। प्रधान रूप से ही अथवा गौण—लेखक चाहे सजग हो या न हो प्रत्येक उपन्यास को आवश्यक रूप से जीवन का एक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना ही पडताहै। इसे हम 'उद्देश्य' का नाम दे सकते है।" [3]

इस प्रकार हेनरी हडसन ने—कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, सवाद, देश-काल, वातावरण, शैली, उद्देश्य—को उपन्यास के तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया है। वाल्टर एलन चरित्र-चित्रण को प्रथम स्थान देते है। उनके अनुसार—

> "परिणामत: चरित्रो के द्वारा ही उपन्यासकार उपन्यास के प्रमुख सामाजिक कर्त्तव्य का सम्पादन करते हुए पाठको मे सहानुभूति-पूर्ण मर्मज्ञता का उदय करते है। यह उपन्यासकार का ही काम होता है कि वह अपने को किसी भी मानव-प्राणी की सदृशता मे अकित कर सकता है। वह सदृशचरित्र के स्रोत वाला मानव-प्राणी दोषी भी हो सकता है और निर्दोषी भी।" [4]

---

1 कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ 115-116

2 "Form can not exist without substance, and a subject, an 'Idea' is substance to which form has been give' —H W Legget The Idea of Fiction Page 1

3 An Introduction to the study of Litarature, Page 70-71

4 The English Novel —A Short critical History Walter Allen Page 5

'ग्राहम ग्रीन', ट्रिलिग ने 'दि लिबरल इमेजिनेशन' मे तथा डी० एच० लारेन्स ने 'लेडी चेटरलीज लवर' मे इसी के समान्तर विचारधारा प्रस्तुत की है।

प्रेमचन्द भी इन उपकरणो मे चरित्र को सर्वाधिक महत्त्व देते है—

> ''मै उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यो को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।'' [1]

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार तो मानव चरित्र की ग्रथि खोलने के व्यापार को प्रधानता देते हुए 'चरित्र' को सबसे अधिक महत्त्व देते है। 'आस्टिन वैरेन' और 'रेने वेलेक' की 'थियरी आव लिट्रेचर' के अनुसार उपन्यास की विश्लेषणात्मक आलोचना ने परपरागत क्रम से तीन साधक अगो की विवेचना की है—'कथावस्तु' (प्लाट), 'चरित्र चित्रण' और 'सेटिग'। अतिम अपने सकेतात्मक प्रवृत्ति के कारण आधुनिक सिद्धान्तो के अनुसार 'वातावरण' और 'ध्वनि' मे परिवर्तित हो जाता है। इसके साथ ही इनमे से प्रत्येक तत्त्व अन्य तत्त्वो का अवधारण-साधन होता है। हेनरी जेम्स भी अपने 'दि आर्ट आव फिक्शन' नामक निबन्ध मे प्रश्न करता है—

> ''चरित्र घटना के अवधारक के अतिरिक्त और क्या है? और घटना चरित्र को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण के अतिरिक्त क्या है?'' [2]

समीक्षाशास्त्र मे प० सीताराम चतुर्वेदी ने उपन्यास के तीन ही तत्त्व स्वीकार किये है। उनका मत है—

> ''कुछ विद्वानो ने उपन्यास के छ तत्त्व माने है—वस्तु, पात्र, सवाद, देशकाल, शैली, उद्देश्य। किन्तु वास्तव मे उपन्यास के तत्त्व तो तीन ही होते है—(1) कथा (2) पात्र (3) व्यापार (घटना-समूह)। उद्देश्य वास्तव मे तत्त्व न होकर परिणाम है और सवाद तथा शैली उस कथा को उद्देश्य तक पहुँचाने के साधन है। देशकाल भी घटना समूह या व्यापार के अन्तर्गत ही आ जाता है। कुछ आचार्यो ने घात-प्रतिघात या द्वन्द्व तथा कौतूहल को भी तत्त्व माना है, किन्तु ये सब तो उद्देश्य सिद्धि के लिए तत्त्वो के सयोजन-कौशल है।'' [3]

ब्रजरत्नदास ने 'हिन्दी उपन्यास साहित्य' मे शैली के स्थान पर रस को उपन्यास के उपकरण के रूप मे रखा है। इस प्रकार उन्होने कथावस्तु, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण, उद्देश्य, देश-काल तथा रस को उपन्यासो के छः तत्त्वो को प्रस्तुत किया है।

मेरे विचार से कथानक, चरित्र, वातावरण, भाषा-शैली, उद्देश्य ही उपन्यास के प्रमुख सर्जक तत्त्व है। सवाद या कथोपकथन उपन्यास का वैसा अपरिहार्य तत्त्व नहीं है, जैसा अन्य तत्त्व। यद्यपि कि प्रेमचन्द ने भीसवाद को महत्व दिया है।

---

1 कुछ विचार, पृष्ठ 47

2 The Art of Fiction —Henry James

3 समीक्षाशास्त्र —प० सीताराम चतुर्वेदी, पृष्ठ 679

"उपन्यास मे वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाये, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा। वार्तालाप केवल रस्मी नही होना चाहिये। प्रत्येक वाक्य को—जो किसी चरित्र के मुँह से निकले—उसके मनोभावो और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिये। बातचीत का स्वाभाविक परिस्थितियो के अनुकूल सरल और सूक्ष्म होना जरूरी है।" [1]

सवाद की चर्चा करते हुए भी प्रेमचन्द प्रकारान्तर से चरित्र वर्णन को प्रमुखता दे रहे है। उन्होने इसी निबन्ध 'उपन्यास का विषय' मे लिखा है—

"उपन्यास के चरित्रो का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा उतना ही पढने वालो पर उसका असर पडेगा और यह लेखक की रचना शक्ति पर निर्भर है।" [2]

प्रेमचन्द के समान इलाचन्द्र जोशी ने भी सबसे पहले उपन्यास के तत्त्वो मे 'चरित्र' की चर्चा की है। उन्होने चरित्रो के स्वतत्र व्यक्तित्त्व एव निजी विचारो पर बल दिया है—

"यदि किसी दिन यह प्रमाणित हो जाये कि मेरे सभी प्रमुख-कथा पात्रो के विचार मेरे ही अपने विचार है तो उस दिन मेरी कहानी-कला की सबसे बडी असफलता सिद्ध हो जायेगी।" [3]

जोशी जी की दृष्टि मे उपन्यास का दूसरा तत्त्व वार्तालाप है, जिसके लिए इन्होने 'विवेचनात्मक विवाद' शब्द का प्रयोग किया है। उनकी दृष्टि मे सवाद के दो उद्देश्य है—(1) कथा का स्पष्टीकरण (2) चरित्र उन्मेष। जोशी जी के शब्द है—

"मेरे औपन्यासिक पात्रो के विवेचनात्मक विवादो की केवल इतनी ही उपयोगिता है कि वे कहानी के अधिक प्रस्फुटन और स्पष्टीकरण मे सहायक सिद्ध हो सकते है।" [4]

"बीच-बीच मे उन घटनाओ के—अथवा उन घटनाओ से सम्बन्धित पात्रो के चरित्र के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से कुछ ऐसी समस्याएँ अपने आप मेरे उपन्यासो मे आ जाती है, जिन पर विभिन्न पात्र गण अपनी-अपनी रुचियो और जीवन-सम्बन्धी अनुभवो तथा परिस्थितियो के आधार पर विवेचनात्मक विवाद करने लगते हैं।" [5]

स्पष्ट है कि जोशी जी भी सवाद को स्वतत्र तत्त्व के रूप में स्वीकार न करके 'कथा का स्पष्टीकरण' एव 'चरित्र उन्मेष' के लिए ही महत्त्व दे रहे है। इस प्रकार कथोपकथन या सवाद नाटक का अपरिहार्य तत्त्व है, पर उपन्यास मे उसकी स्थिति वैकल्पिक ही हो सकती है और यह उपन्यास की अभिव्यक्ति-भगिमा का ही एक रूप है।

---

1 'उपन्यास का विषय' निबन्ध ,मु० प्रेमचन्द्र, पृष्ठ 679

2 साहित्य का उद्देश्य —मु० प्रेमचन्द्र, 'उपन्यास का विषय' निबन्ध, पृष्ठ 60

3 निर्वासित, भूमिका, पृष्ठ 4

4 निर्वासित भूमिका, पृष्ठ 4

5 निर्वासित भूमिका, पृष्ठ 4

इस प्रकार औपन्यासिक शिल्प के निम्न तत्त्व है—

(1) कथानक

(2) चरित्र-निर्माण

(3) देश-काल सयोजन

(4) अभिव्यक्ति की भगिमाए या भाषा शैली

(5) उद्देश्य

(1) उपन्यास मे कथानक

(अ) कथा का पारम्परिक महत्त्व—उपन्यास गद्य साहित्य की आधुनिक एव विकसनशील विधा है। प्रारम्भ मे उसका उद्देश्य मनोरजन ही रहा। फलत प्रारम्भिक विकासकाल मे घटना-विन्यास या कथातत्त्व का इतना अधिक महत्त्व रहा कि 'घटना प्रधान' उपन्यासो की एक परम्परा ही चल पडी थी। गोपालराम गहमरी ने लिखा है—

> ''घटनाये यथार्थ भी हो तथा सत्य भी और पाठक को सत्य की ओर प्रेरित करने वाली भी हो। इन घटनाओ का सयोजन इस प्रकार हो कि अन्त मे सत्य सदा विजयी हो तथा पाठको पर उनका सद्प्रभाव पडे।'' [1]

उपन्यास पढते हुए हमे किसी न किसी प्रकार की कथा का बोध अवश्य होता है चाहे वह कथा रूप ठोस हो अथवा क्षीण। यह कथारूप कही कम दृष्टिगत होता है, कही ज्यादा, कही सुगठित तो कही बिखरा हुआ। भारत भूषण अग्रवाल के शब्दो मे—

> ''प्रत्येक उपन्यास मे यथार्थ के एक विशिष्ट पहलू को उजागर करने के लिए एक कथानक होता है—चाहे सुसबद्ध, विशृखल अथवा विरल।'' [2]

उपन्यास के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इलाचद्र जोशी लिखते है—

> ''मै किसी भी उपन्यास को सबसे पहले एक कहानी मानता हूँ—उसे चाहे आप बडी कहानी कह लीजिए। जो कहानी मै कहना चाहता हूँ उसे यदि मै अच्छे ढग से कह सकने मे समर्थ सिद्ध हो जाऊँ तो वही पर मेरा कर्त्तव्य पूरा हो जाता है और स्वभावत: मेरे प्रयास की सफलता भी निर्धारित हो जाती है। उपन्यास का सबसे पहला और सबसे बडा गुण या विशेषता यही है कि उसकी कहानी सुन्दर ढग से, कलात्मक सौष्ठव के पूर्ण निर्वाह के साथ कही गई हो। इन दो के बाद और किसी भी तीसरी विशेषता का कोई महत्त्व मानने को मै तैयार नही हूँ।'' [3]

इस प्रकार उपन्यास एक कहानी मात्र है, जो अच्छे ढग से कही गई हो। ई० एम० फॉर्स्टर ने भी उपन्यास के कथा तत्त्व पर कठोर प्रहार किया, फिर भी इसके महत्त्व को स्वीकार करता है। उनकी मान्यता है कि यद्यपि 'कथा' उपन्यास का सबसे

---

1 'मेम की लाश' की भूमिका से

2 डॉ० भारत भूषण अग्रवाल —हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव, पृष्ठ 45

3 निर्वासित, भूमिका पृष्ठ 3-4

रूप और जुगुप्साजनक पक्ष है, तो भी उसका अपरिहार्य अग है। वह सभी उपन्यासो मे हाईएस्ट कॉमन फैक्टर' है। भिन्न-न्न उपन्यासो मे उसका स्वरूप भी भिन्न-भिन्न हो सकता है। फॉर्स्टर के शब्द है—

''जी हॉ, उपन्यास कहानी प्रस्तुत करता है, पर सो क्या? माना कि उस मूल तत्त्व के बिना उपन्यास का अस्तित्त्व सम्भव नही तथा सभी उपन्यासो का सामान्य गुणक कहानी है, किन्तु क्या ही अच्छा होता कि कहानी के स्थान पर वह और कुछ होता, जैसे स्वरानुक्रम अथवा सत्यबोध न कि कहानी जैसा पूर्वजानुरूप निम्न तत्त्व।'' [1]

ावती चरण वर्मा की भी धारणा है—

''उपन्यास कई कहानियो के उस एकीकरण को कहते है जो एक सूत्र मे बँधी हो, उसमे अलग-अलग न जाने कितनी घटनाये हो, जो एक दूसरे से सम्बद्ध हो सकती है, नही भी हो सकती है, लेकिन जो सब सामूहिक रूप से मिलकर एक प्रकार की पूर्णता उत्पन्न करती हो।'' [2]

स्तव मे यह कहानी अपने मूलरूप मे समयानुक्रम मे नियोजित विभिन्न घटनाओ का विवरण मात्र ही है, लेकिन उपन्यास खक अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा एव कल्पना के सयोग से विशृखलित घटनाओ को कार्यकारण सम्बन्ध मे नियोजित कर ान्यास के सुसबद्ध कथानक के रूप मे ढाल देता है। उपन्यास लेखक जिस प्रक्रिया से इन परस्पर असबद्ध तथा बिखरी हुई :नाओ को कार्य-कारण के सूत्र मे पिरोकर दिक् और काल के परिप्रेक्ष्य मे सुसगत बनाता है और चरित्र के साथ उनकी र्थकता को प्रामाणित करता है, वही उसकी शिल्प विधि है।

उपन्यास के सन्दर्भ मे कथा या कहानी और कथानक मे मूलभूत अतर है। ई० एम० फॉर्स्टर के अनुसार—

''हमने कहानी को कालक्रम में नियोजित घटनाओ के वर्णन के रूप मे परिभाषित किया है। कथानक भी घटनाक्रम का विवरण है लेकिन यहॉ कारणत्व पर अधिक बल होता है। 'राजा मर गया और तदुपरात शोक से रानी मर गई' एक कथानक है। कालक्रम सुरक्षित रखा गया है, किन्तु कारण-कार्य सिद्धान्त उस पर पूर्णत: छा जाता है। अथवा पुन: रानी क्यो मर गई, कोई नही जानता था, जब तक कि यह नहीं ज्ञात हुआ किस कारण राजा की मृत्यु का शोक था। 'यह रहस्ययुक्त कथानक है।' [3]

ागे इस अन्तर को और स्पष्ट करते है—

''उन्हे (कथा) केवल 'और तब'' और तब' से जाग्रत रखा जा सकता है। वे केवल उत्सुकता प्रदान कर सकते है। किन्तु कथानक बुद्धि एव स्मृति की भी अपेक्षा करता है। [4]

थानक का मूल भी 'कहानी' ही है और उसमे भी समयानुक्रम से विभिन्न घटनाओ का वर्णन ही होता है, पर उसमे घटनाओ बीच कार्य-कारण सबध पर अधिक बल दिया जाता है, जबकि कथा मे इस कारणत्व का अभाव रहता है। उपन्यास के थानक मे—कौतूहल एव रोचकता—दोनो ही तत्त्व पाये जाते है। कथानक मे 'रहस्य तत्त्व' होता है जो 'कहानी' मे नही ता। कहानी मे श्रोता की एक जिज्ञासा शान्तकर दूसरी जिज्ञासा उत्पन्न कर देने की प्रवृत्ति रहती है, जबकि कथानक मे

उपन्यास के पक्ष, पृष्ठ 17
साहित्य की मान्यताएँ, पृष्ठ 117
उपन्यास के पक्ष, पृष्ठ 61
वही

उपन्यासकार स्थान, समय और पात्रो का विस्तृत वर्णन कर रहस्य को काफी दूर तक बनाये रखता है। वह मूल कथा के प्रवाह को किसी विशेष स्थान पर रोककर अपने पाठको को स्थान, काल या पात्रो के वर्णन मे कुछ क्षणो के लिए उलझा देता है और इस प्रकार उनके भीतर की जिज्ञासा को और अधिक तीव्रत्तर बना देता है। यह विशेषता 'कथानक' मे होती है, 'कहानी' मे नही।

लेकिन इन सारी विधियो को अपनाते हुए उपन्यासकार को इस बात का बहुत ध्यान रखना पडता है कि उसके कथानक मे रोचकता बनी रहे। सुसबद्धता और सुगठन उपन्यास के कथानक की अनिवार्य विशेषताये है। उपन्यासकार अपने रहस्य की सृष्टि करने के साथ ही उस रहस्य की गुत्थी सुलझाने की भी व्यवस्था कर देता है। घटनाये अनेक स्थानो तथा विभिन्न समयो मे शुरु होती है और अलग-अलग पात्रो से उनका सबध होता है, पर अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वे आपस मे घनिष्ठ रूप से जुड जाती है और सुगठित कथानक का निर्माण कर देती है। लेकिन कुछ ऐसे भी उपन्यास होते है जिनमे कथानक का बिखराव अत तक बना रहता है। उपन्यासकार उन्हे समेटने मे अपने को असमर्थ पाता है। ऐसे उपन्यासो का शिथिल कथानक वाला उपन्यास कहते है, जैसे टॉल्स्टॉय का 'युद्ध और शान्ति'। लेकिन आश्चर्य होता है कि कथानक का बिखराव या सगठनात्मक शिथिलता इस उपन्यास की श्रेष्ठता मे बाधक नहीं है। वास्तव मे उपन्यासकार का दृष्टिकोण या उपन्यास की विषयवस्तु ही उसके शिल्प की नियामक होती है।'युद्ध और शान्ति' की विषय वस्तु की प्रकृति ही ऐसी है कि उसके कथानक मे बिखराव का होना अनिवार्य है। इस उपन्यास में तॉल्स्तॉय का उद्देश्य एक सम्पूर्ण युग के जीवन को उसकी समग्र विविधता और विस्तीर्णता मे उपस्थित करना है और इसके लिए एक विस्तृत चित्रफलक का ही उपयोग किया जा सकता था, सकीर्णता का नही।

(ब) कथा के प्रति बदलती धारणाएँ : कथा पर आघात

कहना न होगा कि शुद्ध मनोरजन की उद्देश्य पूर्ति के लिए उपन्यासो मे कथा को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाती थी और उस पर अत्यधिक बल भी दिया जाता था। युग-परिवर्तन के साथ कथा के प्रति धारणाएँ बदलती गई और 20वी सदी के तीसरे-चौथे दशक से उपन्यासों के कथा तत्त्व के प्रति अरुचि, उदासीनता दिखाई जाने लगी तथा आगे चलकर उससे घृणा एव द्वेष भी किया जाने लगा। आरम्भ, विकास, सकट बिन्दु तथा उपसहार—कथातत्त्व की इन चारो अवस्थाओ को नकारा जाने लगा।

'विलियम थैकरे' प्रथम पाश्चात्य उपन्यासकार हैं, जिन्होने साहित्यिक रूढि के रूप मे पारम्परिक कथातत्त्व पर आघात करके उससे अपना सबध विच्छेद कर लिया था। अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिए उन्होने सामाजिक जीवन के विभिन्न वर्गो से कुछ विशिष्ट पात्रो को चुनकर उन्हे अपने उपन्यास मे प्रतिष्ठित किया तथा उनके क्रियाकलाप एव जीवन संबधी जटिलता के रूपायन से पूरे समाज का चित्र प्रस्तुत किया। थैकरे का 'वैनिटीफेयर' इसी प्रकार का उपन्यास है, जो सफलता के नये क्षितिजो को स्पर्श करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। ई० एम० फॉर्स्टर को कथा मे रुचि रखना जगलीपन या असस्कृति का लक्षण लगा। कथा से उसके विरोध के दो मुख्य कारण दिखाई देते है—

(1) कथा और स्वतत्र चरित्रो के बीच जो द्वन्द्व चलता रहता है उसमें उसे लगा कि जीवत चरित्र कथा के गठन को हमेशा तोडते-फोडते रहते है। सुगठित एव सुरचित कथा मे दरारे पैदा करने वाले स्थल ही चरित्रो की गत्यात्मकता या सप्राणता से उपन्यास को शक्तिशाली करने वाले उसे प्रतीत हुए।

(2) उपन्यास मे प्रकट होने वाले जीवन की ऊर्जा को, महत्ता को, यथावत्ता को कृत्रिम ढग से सुनियोजित करने वाली सभी बातो से उसे एतराज था।

इसीलिए उपन्यासकार जेम्स के 'द ऐम्बेसेडर' की चर्चा करते हुए पैटर्न के लिए पात्रो की जीवतता, स्वतत्रता और सचेतनता का व्यय करने वाले इस उपन्यासकार से वह खीझ उठता है।

डॉ० चन्द्रकान्त बादिबडेकर के अनुसार—

> ''कथा मे रोचकता, उत्सुकता, जिज्ञासा, उलझन, गुफन और चमत्कृति उत्पन्न करने की चिन्ता में चरित्र लेखक के हाथ की कठपुतली बन जाते है, चरित्रो मे स्थूलता आती है, जीवतता और स्वतत्रता खत्म हो जाती है। घटनाओ मे कार्यकारण सबध दिखाते समय चरित्रो की आत्मशक्ति की क्षीणता के साथ जीवन का बहुत कुछ सरलीकरण भी होता है।''

हिन्दी उपन्यासकार प्रेमचन्द उपन्यास को मानव-जीवन का चरित्र समझते थे और जहॉ उन्होने कथा के चौखटे को उडा दिया, वहॉ एक महान उपन्यासकार बन गये है—गोदान मे कथा का मोह नही है। 'गोदान' की कथा होरी-धनिया आदि चरित्रो के साथ सहज-अकृत्रिम रूप मे प्रवाहित होती है, कही चमत्कारिक मोड नही है, चौकाने की आकाक्षा नही है—वस्तुत कथानक केवल प्रेमचन्द पूर्व युग मे ही महत्त्वपूर्ण रहा है। उपेन्द्र नाथ अश्क ने प्रेमचन्द की तरह कथानक की अपेक्षा चरित्र-चित्रण की श्रेष्ठता दी है। उनके शब्द है—

> ''उपन्यास मे मुझे कथानक के बदले पात्रो का चरित्र-चित्रण, उनके मन मे क्षण-क्षण उठते-बदलते विचार, घटनाओ का घात-प्रतिघात और जिन्दगी के असख्य छोटे-बडे ब्यौरो का चित्रण भाता है।'' [1]

इतना ही नही एक अन्य स्थल पर कहते है—

> ''जो कुछ भी कहा जाये, वह पात्रो के जीवन, उनके जीवन की घटनाओ, अन्तर्द्वन्द्वो और उलझनों के माध्यम से कहा जाये। लेखक, जहॉ तक सम्भव हो, स्वय उसमे न कूदे।'' [2]

इस प्रकार अश्क ने चरित्र चित्रण को कथानक से श्रेष्ठ ठहराया है। चरित्र-चित्रण में वे मन मे क्षण-क्षण उठते-बदलते विचारो को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते है तथा पात्रों को अधिक से अधिक मानवीय बनाने मे विश्वास रखते है। उपन्यास के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए जैनेन्द्र ने स्वीकार किया है कि केवल कथा कहना उसका लक्ष्य नही है। उपन्यास मे मुख्य आदर्श और विचार है और कथा उस आदर्श अथवा विचार के चारों ओर इस प्रकार बुनी जाती है कि वह आदर्श अथवा विचार पाठक तक पहुॅच सके। अत कथा एक माध्यम है। कथा गौण है, मुख्य विचार है। जैनेन्द्र के शब्द है—

> ''जो भी हो, मेरे साथ आपबीती प्रमुख नही रही है, कल्पना प्रमुख रही है और उस कल्पना मे रीढ के तौर पर वह विचार प्रमुख रहा है, जो कथा को आगे बढा कर उसे स्वरूप देता चला गया है।'' [3]

इतना ही नही, अब उपन्यास मे कथानक की पुरानी महत्ता पर भी प्रश्न चिन्ह लग गया है और कथानकहीन उपन्यासो की रचना होने लगी है। मनोवैज्ञानिक और आचलिक उपन्यासो ने तो शिल्प के ढॉचे मे क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है।

---

1 ज्यादा अपनी कम पराई, पृष्ठ 155
2 गिरती दीवारे, पृष्ठ 13
3 इतस्तत पृष्ठ 145

मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे चरित्र की अतर्यात्रा कथा को स्वरूप देती है, कथा की गति चरित्र को नही। कथा पात्रो के भीतर से विकसित होकर चरित्रकथा बन जाती है। इसलिए ऐसे उपन्यासो की कथानक-सघटना घटना-प्रधान उपन्यासो की कथानक-सघटना की अपेक्षा काफी शिथिल, विश्रृखलित तथा क्रमोच्छेदित होती है, जैसे भगवती चरण वर्मा का 'रेखा' या अज्ञेय का 'नदी के द्वीप'। आचलिक उपन्यासो मे न केवल सुसबद्ध केन्द्रीय कथानक का अभाव दिखाई देता है, बल्कि कभी-कभी इनमे 'कथानक' जैसी कोई चीज ही नही होती और सम्पूर्ण उपन्यास या तो अलग-अलग खड चित्रो के रूप मे निर्मित होता है या फिर अलग-अलग विश्रृखलित कहानियो के रूप मे। उदाहरण के लिए 'रेणु' के 'परती परिकथा' या रुद्र जी के 'बहती गगा' को ले सकते है। इनमे तो केन्द्रीय नायक भी नही है, जो बिखरे हुए सूत्रो को एकत्र करे। यहॉ तो डॉक्यूमेंट्री फिल्मो के स्फुट शॉट्स की भॉति ग्रामीण जीवन के विभिन्न चित्रो को अकित करने का प्रयत्न दिखाई पडता है।

आधुनिक उपन्यासो मे परपरित कथानक-सघटना की पद्धतियो से अलग हटकर उपन्यासकारो ने कुछ नये और भिन्न शिल्प-कौशलो के प्रयोग द्वारा भी कथा-योजना मे परिवर्तन उपस्थित किया है। ये परिवर्तन परम्परागत कथानक के स्वरूप पर आघात करने वाले, विश्रृखलित करने या कथाहीनता की ओर ले जाने वाले ही है। ऐसे प्रयोगो मे एक है—उपन्यास के विभिन्न पात्रो के दृष्टिकोण से कथा-कथन। उपन्यास के मुख्य पात्रो के आत्मकथनो या उनके व्यक्तिगत दृष्टिकोणो से कथा-कथन के लिए अलग-अलग परिच्छेद या खण्ड निर्धारित कर दिये जाते हैं, पर ये अलग-अलग खड परस्पर-पूरक ही होते है। 'नदी के द्वीप' या 'काले फूल का पौधा' ऐसे ही पृथक-पृथक परस्पर-पूरक खडो में विभाजित-विश्रृखलित कथानक वाले उपन्यास है। इन उपन्यासो मे बिखरी हुई खड कथाओ को एक सूत्र मे पिरोकर सुनियोजित कथानक का रूप प्रदान करने का कार्य उपन्यास लेखक नही करता, स्वय पाठक को करना पडता है। यहॉ उपन्यास लेखक की दृष्टि तटस्थता की होती है और उसका व्यक्तिगत दृष्टिकोण भी अप्रकट ही रह जाता है या अधिक से अधिक वह किसी पात्र को ही अपना मानसिक प्रतिनिधि बनाकर अपना दृष्टिकोण उसी के माध्यम से व्यक्त करता है। हेनरी जेम्स ने कथा-कथन की इस विशेष विधि को 'प्याइट ऑव व्यू मेथड' (दृष्टिकोण विधि) कहा है। उपन्यास मे कथा-कथन की यह शिल्प विधि निश्चित रूप से नाटको की देन है।

नाटकीय शिल्प ने आधुनिक उपन्यासकारो की कथानक सघटना को एक-दूसरे रूप मे भी प्रभावित किया है तथा कथा प्रवाह को खडित करने मे योग दिया है। नाटक की 'दृश्य विधान-विधि' को आधुनिक उपन्यासो मे सृजनात्मक स्तर पर स्वीकार किया है। पाठक उपन्यासकार या उसके किसी पात्र द्वारा कथा कहते हुए नही सुनता, बल्कि कथा को अपनी ऑखों के सामने घटते हुए दृश्यरूप मे देखता है। 'नदी के द्वीप', 'चित्रलेखा', 'शेखर : एक जीवनी', 'सोया हुआ जल', 'राग दरबारी', 'मुझे चॉद चाहिये' आदि अनेक उपन्यासो मे इस विधि का विपुलता से प्रयोग किया गया है।

डायरी या पत्रात्मक शैली मे लिखे गये उपन्यासो मे भी कथानक की सुसबद्धता टूटी है और कथा की श्रृखलाबद्धता विच्छिन्न हुई है। इस विधि मे भी 'दृष्टिकोण विधि' की ही तरह कथा पृथक-पृथक खडो मे बटी होती है और उपन्यास के पाठक को ही उनको एक सूत्र मे जोडना पडता है, उपन्यासकार तटस्थ रहता है। जैनेन्द्र का 'जयवर्द्धन', अज्ञेय का 'अपने अपने अजनबी' तथा प्रभाकर माचवे का 'परन्तु' इसी विधि से लिखे गये उपन्यास हैं।

आत्मविश्लेषणात्मक या आत्मकथात्मक शैली तथा अलग-अलग 'कहानी के रूप मे उपन्यास' लिखने की शैली ने भी कथानक के परम्परागत ढॉचे को तोडा है। प्रथम शैली के उदाहरणस्वरूप नागार्जुन के 'बलचनमा', नागर जी के 'सेठ'

बॉकेमल' और हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आदि को ले सकते है और दूसरी विधि के अन्तर्गत धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवॉ घोडा' तथा रुद्र जी की 'बहती गगा' आ सकते है।

कथा पर जोरदार आघात करने वाला एक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व है—यथार्थवाद। यथार्थवाद ने कथा पर केवल आघात ही नही किया, बल्कि उसकी कमर तोडकर पर्याय के रूप मे वह स्वय ही विपक्षी के रूप मे उभरकर उपस्थित हुआ। डॉ० चन्द्रकान्त वादिवडेकर का विचार है—

> ''कथा का महत्त्व तब तक था, जब तक साहित्य का उद्देश्य रजनवाद तक सीमित रहा। जीवन के जटिल रूप को समझने-समझाने, जीवन के सघर्ष मे प्राप्त जीवन-सत्य को अभिव्यक्त करने, अपने ही जीवन अनुभव को अधिक स्पष्ट रूप मे खोजने और पाने तथा जीवन-विषयक चेतना को अधिक सूक्ष्म, अधिक व्यापक एव सर्व समावेशी बनाने का उद्देश्य जब साहित्य के सामने प्रस्तुत हुआ तब रजनवाद के साथ कथा तत्त्व भी धीरे-धीरे लुप्त होने लगा।'' [1]

यथार्थ मे जीवन के ऐन्द्रिय रूप के साथ ही मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक सभी पहलू समाविष्ट है। समाजवादी यथार्थवाद, अति यथार्थवाद, प्रकृतवाद, मनोविज्ञानवाद एव अस्तित्ववाद जैसे जीवन विषयक समस्त दृष्टिकोण अपनी-अपनी विशिष्ट दृष्टि से जीवन को देखकर उसके यथार्थ को गहरे स्तर पर समझने-बूझने का प्रयत्न करते है। इस यथार्थ को निरूपित करने के लिए उपन्यासो मे अनेक प्रयोग भी किये जा रहे है, अतार्किकता, फैटेसी, स्वप्न चित्रण, अमूर्तीकरण, अनपेक्षितता का समावेश, रोजमर्रा के जीवन की अतिशयोक्ति, हास्योत्पादक चित्रण या विरूपीकरण व्यग्यात्मकता (जो 'डॉन क्विक्झोट' मे है), विडम्बना आदि अनेक प्रणालियॉ भी इसी के कारण उभर आई है। आज एटी-रियलिज्म के अन्तर्गत जो कुछ माना जाता है, वह वस्तुत यथार्थवाद का ही सूक्ष्म आकारहीन भयावह छाया है। इस प्रकार यथार्थ का बहुआयामी चित्रण करने वाली पद्धतियो ने कथा के पारम्परिक महत्त्व, गठन आदि को नष्ट भ्रष्ट करके रख दिया है।

(2) उपन्यास में चरित्र निर्माण

(अ) चरित्र चित्रण का पारम्परिक दृष्टिकोण—उपन्यास साहित्य मे कथातत्त्व पर जबर्दस्त प्रहार करके, उसके पारम्परिक ढॉचे को ढहाकर उसके प्रमुख विपक्षी के रूप मे चरित्र-चित्रण का उदय हुआ। बदलते जीवन की विभिन्न समस्याएँ, उसके अन्तर्विरोध, उसके यथार्थ रूप का केवल कथा के माध्यम से प्रस्तुति उपन्यासकार के लिए अधूरा लगा। जीवन की इस जटिलता एव विविध भाव-भगिमाओ का यथार्थ चित्रण के लिए पात्र तथा उसके द्वारा चरित्र-चित्रण माध्यम ही उपन्यासकारो को पर्याय के रूप मे दिखाई दिया। 19वी सदी की पूँजीवादी व्यवस्था मे 'व्यक्ति' को अधिक महत्ता प्राप्त हुई। यह शक्तिशाली, कर्त्तव्यशाली तथा साहसी 'व्यक्ति' उपन्यासो मे प्रतिष्ठा पा गया और इस व्यक्ति के चरित्र को ही उपन्यास का पर्याय समझ लिया गया। पाश्चात्य साहित्य मे विलियम थैकरे जैसे लोगो ने चरित्र प्रधान उपन्यासो को नयी दिशा दी। ई० एम० फार्स्टर ने भी कथा से मुँह मोडकर पात्र और चरित्र को ही उपन्यासो का महत्त्वपूर्ण तत्त्व निरूपित किया। उसकी मान्यता है कि पात्र तथा उनके चरित्रो की गत्यात्मकता अथवा सप्राणता से ही उपन्यास अधिक शक्तिशाली बनता है। इसीलिए जब हम टॉल्स्ताय, दोस्तोवस्की, जेन ऑस्टिन, वर्जीनिया वुल्फ विलियम थैकरे, चार्ल्स डिकेन्स, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र

---

1 उपन्यास स्थिति और गति, पृष्ठ 8

की औपन्यासिक कृतियो का स्मरण करते है तो अन्य सब बाते पार्श्व मे चली जाती है और हमारे सामने उनके पात्रो की कतार खडी हो जाती है।

इसलिए प्रेमचन्द की धारणा—

> ''मै उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यो को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।'' 1

इस प्रकार मानव चरित्र के उद्घाटन के लिए उपन्यास मे उन अनेक परिस्थितियो का चित्रण अनिवार्य हो जाता है, जिनमे मानव अपनी ग्रथियो तथा मानसिक ऊहापोह को निरावृत्त करे। इन परिस्थितियो को घटनाओ के माध्यम से ही प्रस्तुत किया जा सकता है। अत· प्रेमचन्द की दृष्टि मे उपन्यास घटनाओ के माध्यम से चरित्र का उन्मेष करने वाली कथा है। अपने समकालीन उपन्यासो के प्रतिकूल लज्जाराम शर्मा ने, सर्वप्रथम घटनाओं से ऊपर उठकर चरित्र निर्माण की ओर सकेत किया था—

> '' इसमे नित्य की अनेक घटनाओ का एक ही मनुष्य के चरित्र मे सग्रह किया गया है।'' 2

स्पष्टत: घटनाये चरित्र निर्माण का साधन हैं, अथवा वे चरित्र का उन्मेष मात्र करती है। उपन्यास की परिभाषा करते हुए भी, उन्होने इस ओर इगित किया है—

> '' इसलिए उपन्यास ऐसा बनना चाहिये जिनसे प्रजा के सच्चे चरित्र का बोध हो।'' 3

उपेन्द्र नाथ अश्क की भी धारणा है—

> ''उपन्यास मे मुझे कथानक के बदले पात्रो का चरित्र-चित्रण उनके मन मे क्षण-क्षण उठते बदलते विचार, घटनाओ का घात-प्रतिघात और जिन्दगी के असख्य छोटे-बडे ब्यौरो का चित्रण भाता है।'' 4

लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि वे पात्र कृत्रिम और निष्प्राण नही, यथार्थ, सजीव और प्राणवान हो। प्रेमचन्द ने लिखा है—

> ''किन्ही भी दो आदमियो की सूरते नही मिलती, उसी भॉति आदमियो के चरित्र भी नही मिलते। जैसे सब आदमियो के हाथ, पॉव, ऑखे, कान, नाक और मुँह होते है, पर इतनी समानता पर भी उनमे विभिन्नता मौजूद रहती है उसी भॉति सब आदमियो के चरित्रो मे बहुत कुछ समानता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ होती है। इसी चरित्र-समानता और विभिन्नता, अभिन्नता और भिन्नत्व और भिन्नत्व मे अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है।'' 5

राबिन्सन ने भी स्वीकार किया है—

---

1 प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, पृष्ठ 88

2 धूर्त रसिक लाल, की भूमिका से

3 आदर्श दम्पत्ति, भूमिका।

4 ज्यादा अपनी कम पराई, पृष्ठ 155

5 प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, पृष्ठ 60

"चरित्र-चित्रण का अभिप्राय है, कहानी मे लोगो (पात्रो) को पर्याप्त मूर्तमत्ता और स्वाभाविकता के साथ इस प्रकार चित्रित करना कि वे पाठको के लिए 'छाया' नाम न रहकर पुस्तक के समतल पन्नो मे उभर आये और कम से कम उस समय के लिए तो व्यक्तित्व धारण कर ही ले।" [1]

पात्रो का चरित्र-निर्माण इस प्रकार होना चाहिये कि वे सजीव होकर पात्रो के सामने नर्तन कर उठे। चरित्रो की विभिन्न अवस्थाओ से सम्बद्धता होना भी आवश्यक है। लोट्जे के शब्दो मे तो "पात्रो के चरित्र का क्रमिक निर्माण ही उपन्यास की वास्तविक समस्या है।" [2] अर्थात् उपन्यास को अपने चरित्रो की आन्तरिक वृत्तियो, परिस्थितिजन्य मानसिक प्रतिक्रियाओ तथा सस्कारजन्य अन्त करण मे उद्भूत विचारो आदि का यथातथ्य चित्रण करना होगा। ई० एम० फार्स्टर के अनुसार—

"पुस्तक मे चरित्र तभी वास्तविक उभरता है, जब उपन्यासकार को अपने पात्रो का पूर्ण परिज्ञान होता है। और उस परिज्ञान को पाठको पर प्रकट करते हुए उन्हे प्रतीति करा देनी होगी कि भले ही वह समय और स्थान के अभाव मे अपने पात्रो की पूर्ण व्याख्या न कर सका है, पर उसके पात्र पहेली नही है। [3]

उपन्यास लेखक तब तक किसी चरित्र का निर्माण नही कर पाता, जब तक कि वह अपनी कल्पना का आधार किसी यथार्थ और जीवित व्यक्ति को नही बनाता। प्रेमचन्द ने लिखा है—

"कथा साहित्य मे सम्प्रति काल्पनिक घटनाओ को यथार्थावृत्त करने का प्रयत्न किया जाता है, भविष्य मे यथार्थ पर कल्पना का आलेप करना होगा, ताकि वह कथा प्रतीत हो।" [4]

इन दोनो—यथार्थ, कल्पना—अवधारणाओ को उन्होने बहुधा 'आदर्श' और 'यथार्थ' के माध्यम से प्रस्तुत किया है—

"यथार्थवाद यदि हमारी ऑखे खोल देता है तो आदर्शवाद हमे उठाकर किसी मनोरम स्थान मे पहुँचा देता है इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते है, जहॉ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो ।" [5]

चूँकि कला मात्र ही यथार्थ की अनुकृति है और उपन्यास भी एक कला है, अत: वह अनुकृति ही हो सकता है, हू-ब-हू यथार्थ नही। यथार्थ जीवन की इस अनुकृति मे ही उपन्यास की सारी प्रतिभा, उसके शिल्प कौशल और कल्पनाशक्ति की परीक्षा हो जाती है। अनुकृति को यथार्थ-सा बना देना या उसमे यथार्थ का भ्रम पैदा कर देने मे ही उसकी कला की सफलता है। इसी तथ्य को ई० एम० फार्स्टर कुछ दूसरे ढग से व्यक्त करते है—

" 'कला' के अपने विधान होते है, जो हमारे दैनिक जीवन के विधान से भिन्न होते है और चूँकि उपन्यास भी एक कलाकृति है, इसलिए इसके पात्रो की वास्तविकता भी कला के विधान के अनुसार ही निर्धारित होनी चाहिये। यथार्थ जीवन और उपन्यासकार द्वारा निर्मित जीवन का पार्थक्य कला के कारण

---

1 The Characterization mens briefly setting of people in the story with a sufficient degree of visibility and plausibility so that they may for the readers emerge from the flat page as more then shadowy names and progress for the time atleast, the rudements of personality राइटिग फॉर यग पीपुल —एम० एल० रॉबिन्सन, पृष्ठ 11

2 Slow shaping of character is the problem of novel Lotze Hudson —An introduction to the study of literature Page 148

3 Aspects of Novel E M Forrter

4 कुछ विचार, पृष्ठ 69

5 साहित्य का उद्देश्य, पृष्ठ 57

ही है। उपन्यास के पात्र वास्तविक है, इसलिए नही कि वे हमारी तरह है, बल्कि इसलिए कि वे विश्वसनीय है।'' 1

स्पष्ट है कि उपन्यास के चरित्र-निर्माण का मुख्य स्रोत उपन्यासकार ही है, उसका अपना अनुभव ससार होता है। इसीलिए चरित्र-निर्माण करते समय उपन्यासकार को बहुत सावधान रहना पडता है। इसीलिए फार्स्टर की धारणा है—

''बाध्य किये जाने पर चरित्र आ जाते है पर बगावत की शक्ति लेकर आते है। उनमे भी यथार्थ की ही तरह बहुत सारे गुण-दुर्गुण तथा विविध प्रवृत्तियॉ होती है और वे अपना स्वतत्र जीवन जीने की कोशिश करते है, फलस्वरूप वे कभी-कभी उपन्यास की मुख्य योजना के प्रति बगावत का झडा भी उठा लेते है। 2

अत: उपन्यासकार को अपने पात्रो का निर्माण करते समय उनके मिजाज, तेवर, स्वभाव का पूरा ध्यान रखना पडता है। चरित्र निर्माण के लिए सामान्यत: उपन्यासकार दो प्रविधियो का प्रयोग करते है—विश्लेषणात्मक, नाटकीय। विश्लेषणात्क प्रविधि मे उपन्यास की दृष्टि ही सर्वप्रधान होती है। उसी की दृष्टि से चरित्रो का मूल्यांकन करने के लिए पाठक बाध्य होता है। चरित्र-निर्माण की नाटकीय प्रविधि ही आजकल अधिक प्रचलित है। इस प्रविधि मे उपन्यासकार अपने पात्रो को प्राणशक्ति से सम्पन्न करके अपना निर्माण स्वय करने के लिए, अपना रास्ता स्वय चुनने के लिए स्वतत्र छोड देता है। थैकरे तो कहा करता था कि वह पात्रो का निर्माण तो स्वय करता है, किन्तु निर्माण के उपरान्त उन्हे स्वतत्र कर देता है। वे जहॉ चाहते है, उपन्यासकार को ले जाते है। सामरसेट माम का भी विश्वास है कि उपन्यासकार द्वारा निर्मित पात्रो की क्रियाऍ उनकी चारित्रिक विशेषताओ से उत्पन्न होनी चाहिये।

चूँकि विषय वस्तु की मॉग या उपन्यासकार का अवलोकन बिन्दु उपन्यास की शिल्प विधि का निर्धारण करता है और वही पात्रो की निर्माण-प्रक्रिया मे भी उपन्यासकार का मार्गदर्शक होता है, इसलिए उपन्यासकार कभी तो आत्म कथात्मक पद्धति को अपनाता है और कभी पत्रात्मक या डायरी आदि नाटकीय पद्धतियो को, कभी वह सरल (फ्लैट) पात्रो का निर्माण करता है और कभी गूढ (राउड) पात्रो का। उपन्यासकार कभी चरित्र प्रधान, नाटकीय या मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखता है और कभी घटना प्रधान।

इस प्रकार चरित्र के विविध प्रकार दृष्टिगत होते है—

(1) प्रतिनिधि (टाइप)
(2) व्यक्तिवादी (इडिविज्युअल)
(3) मिश्र (मिक्स्ड)
(4) स्थिर (स्टैटिक)
(5) समतल (फ्लैट अथवा राउड)
(6) विकसनशील (किनेटिक)
(7) प्रतीक पात्र

---

1 That a novel is a work of art with its own laws which are not those of daily life, and that a character in a novel is real when it leaves in accordance with such laws The barrier of the art devides them from us They (Characters of the novel) are real not because they are like ourselves but because they are convincing E M Forster Aspects of Novel, Page 69

2 वही, पृष्ठ 74

प्रतिनिधि—प्रतिनिधि पात्र अपनी चारित्रिक विशेषताओ द्वारा किसी एक वर्ग विशेष अथवा समुदाय विशेष का प्रतिनिधित्व करते है। इन पात्रो की अपनी कोई निजी विशेषता नही होती और ऐसे पात्रो मे मानव की गहरी सवेदना, जटिल भावबोध और स्वतत्र चितनशक्ति को प्रभावित करने की क्षमता नही के बराबर होती है। जहॉ भी कहीं थोडा अधिक प्रभाव होता है, क्षणिक होने के कारण वह स्थायी नही रह सकता। ऐसे टाइप पात्र हमारे राग-विराग के ऊपरी स्तर को आमतौर पर छूते हुए विस्मय, कौतूहल, उत्तेजना आदि पैदा करते हुए दृष्टिगोचर होते है। इस प्रकार के पात्र अधिकतर घटना-प्रधान उपन्यासो मे मिलते है। प्रेमचन्द के पात्र अपने वैयक्तिक व्यक्तित्व के बावजूद अधिकतर टाइप ही है।

व्यक्तिवादी—द्वितीय महायुद्धोत्तर काल मे मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान तथा तकनीकि की उत्तरोत्तर होने वाली बढोत्तरी ने 'व्यक्ति' को उसके अपने अस्तित्त्व का ज्ञान कराया है। इतना ही नही, उसे उसकी सीमाओ से अवगत कराते हुए उसके दुर्बल, असहाय कुठित और फालतू स्वरूप को भी उद्घाटित किया है। परिणामत· उपन्यासो मे 'व्यक्ति' को एक परम्परागत 'हीरो' के रूप मे चित्रित न करके उसकी वैयक्तिक विशेषताओ के साथ चित्रित किया जाने लगा। प्राय मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के उपन्यासो के पात्र इसी श्रेणी मे आते है।

मिश्र—प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यासकारो ने जो चरित्र चित्रित किये है वे प्राय टाइप ही है, किन्तु उपन्यासकार इन्हे एक स्वतत्र व्यक्तित्व भी प्रदान करने मे सफल हुआ है। अत: उनके पात्र न तो टाइप है और न व्यक्ति। होरी, धनिया, निर्मला आदि मिश्र चरित्र वाले पात्र है।

स्थिर (स्टैटिक)—इस प्रकार के पात्रो मे उनकी चारित्रिक विशेषताएँ, अर्थात् उसके गुण-दोष उपन्यास के प्रारम्भ से ही विद्यमान रहते है और वे अन्त तक बने रहते है। ऐसे पात्रो पर आस-पास के वातावरण आदि का कोई प्रभाव नही पड़ता। शुरू से अन्त तक ये पात्र स्थिर रहते है और उनके बारे मे सिर्फ पाठकों की जानकारी बदलती रहती है। ई० एम० फार्स्टर के अनुसार, स्थिर पात्रो के रूप मे प्राय: कोई एक भाव या गुण ही मुख्य रूप से मूर्तिमान रहता है। इस भाव अथवा गुण का ही व्याख्या धीरे-धीरे उनके चरित्र के रूप मे होती है ओर खण्डन-मण्डन होता रहता है।

समतल (फ्लैट)—उपन्यासकार जब विशिष्ट उद्देश्य से प्रेरित होकर पात्रो या चरित्रों की सृष्टि करता है तब समतल पात्रो की सृष्टि होती है। ऐसे पात्रो के माध्यम से उपन्यासकार किसी सिद्धान्त या आदर्श को प्रस्तुत करता है। परिणामत इनका सर्वांगीण विकास न होकर ये चरित्र एकागी हो जाते है। अत: इनमे व्यक्तित्त्व का नितात अभाव देखा जा सकता है। चार्ल्स डिकेन्स, स्काट, पामेला, टॉम जोन्स, वृन्दावन लाल वर्मा, भगवती चरण वर्मा, चतुरसेन शास्त्री तथा मन्मथनाथ गुप्त आदि के उपन्यासो मे इस प्रकार के समतल या एकांगी पात्र देखने को मिलते हैं।

विकसनशील—ये चरित्र उपन्यास के प्रारम्भ से ही अपनी पार्श्वभूमि, वातावरण तथा परिस्थिति के दबाव मे न आकर कथावस्तु के स्वाभाविक विकास के साथ परिवर्तनशील रहकर विकसित होते है। इन पात्रो मे स्थिरता और एकरसता न होकर गतिशीलता होती है। अतएव पार्श्व की परिस्थितियॉ बदले या न बदलें इनका विकास निरन्तर होता रहता है। अनेक बार ऐसे पात्रो के माध्यम से उपन्यासकार व्यक्ति की अनगिनत अनुभूतियों तथा भाव भंगिमाओं को चरितार्थ करने की कोशिश करता है और इस प्रकार की स्थितियॉ अधिकतर मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के उपन्यासों में देखने को मिलती है। ऐसे चरित्र विलियम थैकरे, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय के उपन्यासो मे देखे जा सकते हैं।

चरित्र-चित्रण पर आघात—पात्रो की निर्मिति मे उपन्यासकार जैसे-जैसे अधिक सजग होता गया, मानव मन के तल को छूने के सजग प्रयत्नो ने उसे चरित्रो के निर्माण मे कारण माने जाने वाले सन्दर्भो का भी ज्ञान कराया और चरित्रो अथवा पात्रो की पृष्ठभूमि मे कार्य करने वाली परिस्थिति एव परिवेश को अधिक महत्त्व प्रदान हुआ। इस तरह चरित्र-चित्रण की प्रणाली पर आघात का क्रम शुरु हुआ। हिन्दी मे चरित्र, चित्रण पर आघात की यह प्रक्रिया सन् 1950 के आसपास शुरु हुई तथा साठोत्तरी काल मे वह तीव्रतर होती गई। चरित्र-चित्रण का रूप छिन्न करने वाले प्रमुख तत्त्वो मे मनोविज्ञान, दर्शन तथा परिवेश आदि प्रमुख है।

मनोविज्ञान ने सबसे कठोर प्रहार व्यक्ति की उसकी अपनी 'पहचान' (आइडेटिटी) के मूल मे स्थित अह (इगो) पर किया। इससे भी आगे चलकर डी० एच० लारेस ने चरित्र के मूल रूप—'ईगो' को ही अस्वीकार कर दिया। एक ओर उसने फ्रायडीयन अवचेतन मन की स्थिति को विलक्षण चुनौती दी तो दूसरी ओर व्यक्ति के 'ईगो' के अस्तित्त्व को ही नकारा। इस प्रकार उपन्यासकारो ने व्यक्तित्त्व की अपेक्षा व्यक्ति की मानसिकता और उसकी अवस्था को ही महत्ता प्रदान करना शुरु कर दिया। परिणामत. मानसिकता के उन्मुक्त अप्रतिहत प्रवाह के बीच बडी दीनता से खडे रूखे ठूँठो की तरह चरित्रो की स्थिति हो गई। ये चरित्र चेतना, प्रवाह मे उखडे-पुखडे केन्द्र बन गये। इस तरह उपन्यासो मे सवेदना, सचेतना तथा चेतना प्रवाह के तेज को खडित रूप से निरूपित किया जाने लगा परन्तु उसके मूल 'ईगो' का अस्तित्त्व ही नही रहा और इसी को 'व्यक्तित्त्व का लोप' कहा जाने लगा।

दार्शनिक विचारधाराओ के अन्तर्गत मार्क्सवाद एव अस्तित्त्ववाद ने चरित्र-चित्रण के परम्परागत स्वरूप को छिन्न-भिन्न कर दिया। मार्क्सवादी विचारधारा व्यक्ति के आर्थिक परिवेश को सर्वोपरि महत्ता देती है, इसलिए ऐसे उपन्यासो के पात्र एक ही पहलू के इर्द-गिर्द घूमने के कारण अपना स्वतत्र अस्तित्त्व खोकर उपन्यासकार की कठपुतलियाँ मात्र बनकर रह जाते है। मार्क्सवादी उपन्यासकार अत्यधिक मात्रा मे अपने विचारो का प्रचारक होता है, अत: उसके द्वारा निर्मित पात्र, चरित्र-चित्रण की सार्थक प्रणाली को खो देते है और मार्क्सवादी दर्शन को टॉगने की खूँटियाँ मात्र बन जाते है।

द्वितीय विश्वयुद्ध की भयावह विभीषिका के परिणामस्वरूप बेचैनी, कुठा, खीझ, असहायता, पीडा तथा अकेलेपन का भय आदि अनेक स्थितियो के बीच मनुष्य जडवत हो गया। जीवन की सार्थकता उसका महत्त्व और मूल्य आदि सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट-सा होता दिखाई देने लगा। ऐसी स्थिति मे सार्त्र, कामू, बैकेट ने अस्तित्त्ववाद के माध्यम से मनुष्य के अस्तित्त्व को एक नया रूप, नया अर्थ तथा नई दिशा दिया। डॉ० चन्द्रकान्त वादिवडेकर के अनुसार—

> ''सार्त्र और कामू के लेखन मे मनुष्य परिवेश का केवल असहाय प्रतिक्रिया करने वाला फालतू मनुष्य नही है। जहाॅ वैसा ऊपर से दीखता है, वहाॅ विलक्षण वक्रता एव व्यग्यात्मक ढग से अपनी मूल दृष्टि का बोध कराया गया है। प्रत्यक्षत: निरर्थकता की स्थितियो का बोध कराते हुए भी जीवन को कधो पर उठाकर ले चलने की अभिमन्यु की युयुत्सा का भी परिचय ये साहित्यकार देते है।'' [1]

अस्तित्त्ववाद मानवीय जीवन के ठोस एव साकार रूपो को उजागर करके, व्यक्ति की मानसिक स्थितियो को गहनता से प्रस्तुत करता है। ये स्थितियाॅ अत्यन्त बौद्धिक, भावात्मक या मानसिक होने के कारण ठोस चरित्र का लोप कर देती है।

---

1 उपन्यास . स्थिति और गति —चन्द्रकान्ता वादिवडेकर, पृष्ठ

व्यक्ति की 'व्यक्तित्व' रूपी पहचान को ही खत्म करके परिवेश व्यक्ति पर हावी हो गया। फलस्वरूप व्यक्ति अपने आपको फालतू, अकेला, असमर्थ या असहाय महसूस करने लगा। अत. व्यक्ति एक ठडे, असपृक्त, जड पात्र के रूप मे चित्रित होने लगा और चरित्र जैसी बात तिरोहित हो गयी। आचलिक उपन्यासो ने भी अचल विशेष की भौगोलिक, सास्कृतिक एव सामाजिक परिवेश को उभारकर चरित्र-चित्रण के परम्परागत स्वरूप को तोड दिया। समकालीन नायक विहीन या समूह पात्र वाले उपन्यास भी उपन्यासकार के परिवर्तित अवलोकन बिन्दु या बदले हुए 'विजन' के ही परिणाम है।

(3) देश-काल सयोजन—व्यक्ति या घटना को उसकी पूर्ण यथार्थता मे चित्रित करने के लिए उसके दिक् और काल का चित्रण भी अनिवार्य होता है। जिस प्रकार प्राणतत्त्व का अस्तित्त्व बोध हमे किसी शरीर तत्र के भीतर ही हो सकती है, उसी प्रकार उपन्यास के कथानक, पात्रो तथा अन्य विधायक तत्त्वो का बोध उनके परिवेश मे ही होता है। डॉ० त्रिभुवन सिह के शब्द है—

> ''घटनाओ, पात्रो और उनके कार्यकलापो को विश्वसनीयता एव स्वाभाविकता प्रदान करने का कार्य उपन्यास मे देश, काल और वातावरण द्वारा ही सम्भव हो पाता है। किसी व्यक्ति अथवा समाज को ही उपन्यास अपने वर्णन का आधार बनाता है। वर्ण्य व्यक्ति अथवा समाज के आचार-विचार, रहन-सहन, रीति - नीति और उसके आस - पास घिरी परिस्थितियाँ ही देश, काल और वातावरण की संज्ञा धारण करती है।'' [1]

वातावरण या परिवेश दो प्रकार के होते है—मानवीय और प्राकृतिक। प्राकृतिक वातावरण भौतिक परिस्थितियो की ओर सकेत करता है, तो मानवीय वातावरण सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक परिस्थितियो की ओर। ये दोनो ही परिवेश सम्मिलित रूप से मनुष्य एव उसके कार्यकलाप को न केवल प्रभावित ही करते है, बल्कि काफी हद तक परिचालित भी करते है। एमिल जोला का भी विचार है—

> ''मनुष्य कोई नि.सग प्राणी नही, उसका अस्तित्त्व समाज मे ही होता है, एक सामाजिक वातावरण मे, और जहाँ तक हम उपन्यासकारो का उस सामाजिक वातावरण से सम्बन्ध है, हम घटनाओ को वातावरण द्वारा निरतर परिवर्तित मानते है। उपन्यासकार का असली दायित्व उसका आन्तरिक और बाह्य वातावरण का व्यक्ति के साथ घात-प्रतिघात दिखाना है।'' [2]

'देश-काल, वातावरण' उपन्यास के उदय के समय से ही एक अनिवार्य विधायक तत्त्व बना हुआ है, पर आधुनिक युग मे इसकी महत्ता बहुत बढ गयी है। हिन्दी के आचलिक उपन्यों मे तो यह सर्वप्रमुख तत्त्व बन गया है, यही नायकत्व को प्राप्त कर लिया है। इसीलिए सत्यपाल चुघ ने आंचलिक उपन्यास को 'देश प्रधान उपन्यास' कहा है। उनके शब्द हैं—

> ''जिस उपन्यास के सभी उपकरणो का दृष्टि केन्द्र फोकस या प्रकाशन ध्येय परिसीमित देश-विशेष हो जाता है और अन्य तत्त्व इसी से नियत-निर्णीत होते हैं, उस उपन्यास को 'देश प्रधान' कहते है। हिन्दी मे ऐसे उपन्यासों को 'आंचलिक' संज्ञा से अभिहित किया गया है।'' [3]

---

1 हिन्दी उपन्यास · शिल्प और प्रयोग, पृष्ठ 287

2 Man is not alone but exists in society, in a social environment, and so for as we novelists are concerned, this environment is constantly modifying events This is where our real task lies in studing the interaction of society on the individual and of the external or internal . Allott, Miriam Novelists on Novel, Page 303

3 प्रेमचन्द्रोत्तर हिन्दी उपन्यास की शिल्प विधि पृष्ठ 556

डॉ० शिव प्रसाद सिह की भी धारणा है—

> ''यह वातावरण न केवल लेखक को, बल्कि पाठको को भी निरतर प्रभावित करता है। इसलिए आचलिक लेखक का यह विश्वास होता है कि वह अपने को अधिक प्रभावपूर्ण ढग से तभी व्यक्त कर सकता है, जब उसका वातावरण, उसकी जनता और स्थान उसके माध्यम से, उसके भीतर से अपने को अभिव्यक्त कर सके।'' [1]

(4) अभिव्यक्ति की भगिमा : भाषा-शैली

अमूर्त को मूर्त करने के शिल्पगत साधनो मे भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाठक के लिए भी किसी कृति को समझने-परखने के लिए उसकी भाषा ही प्रथम आधार प्रस्तुत करती है। टालस्टाय के शब्दो मे—

> ''भाषा विचार का साधन है। भाषा का इस्तेमाल लापरवाही से करने का मतलब है, विचार से लापरवाही करना। उपन्यासो मे भाषा का महत्त्व इतना अधिक है कि शैली को भी कभी-कभी भाषा के अर्थ मे ही ले लेते है। भाषा के माध्यम से ही उपन्यासकार अपने विषय या कथा को निश्चित शिल्प के द्वारा प्रस्तुत करता है। भाषा का मूलाधार शब्द है, जिसे उपयुक्त रीति से प्रयुक्त करने के कौशल को ही शैली का मूलतत्त्व समझना चाहिये, अर्थात् किसी लेखक या कवि की शब्द योजना, वाक्यांशो का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उसकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है।'' [2]

वस्तुत: उपन्यास के शिल्प के सर्जक तत्त्व के रूप मे भाषा और शैली को अलग-अलग मानकर चलना उचित नही है, क्योंकि उपन्यास की भाषा पर विचार करते समय वस्तुत: हम उपन्यासकार द्वारा प्रयोग की गयी भाषा-प्रयोग की विशिष्ट रीतियो, तरीको का भाषिक सर्जनात्मकता के विभिन्न स्वरूपो का भी उद्घाटन करते है। शैली किसी कला या कृति की उस विशिष्टता की द्योतक होती है जिसके चलते वह अपनी ही समान की अन्य कृतियो से भिन्न दिखाई देती है। यह एक विशिष्ट प्रणाली, कार्य-सपादन या नियोजन के एक विशिष्ट ढग या तरीके को व्यजित करती है। मार्क स्कोरर शिल्प (टेकनीक) एव शैली (सल्टाइल) मे अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहते है—

> ''दोनो मे प्रमुख अंतर को इनकी प्रकृति की भिन्नता ही रेखाकित कर देती है, शिल्प-विधि की प्रकृति वस्तु सापेक्षता की है, जबकि शैली की प्रकृति आत्मपरकता की।'' [3]

आचार्य वामन ने जिस 'रीति' को काव्य की आत्मा घोषित किया था, आधुनिक युग मे 'शैली' शब्द का प्रयोग उससे कुछ अधिक विकसित अर्थ में किया जाता है। 'रीति' मे जिस रचना कौशल को सकेतित किया गया है, वह तो शैली मे है ही इसके अतिरिक्त शैली 'शील' से संबधित होने के कारण रचनाकार के स्वभाव या व्यक्तित्त्व की भी व्यजक बन जाती है।

उपन्यास के कथ्य, विषयवस्तु तथा उपन्यासकार के अवलोकन बिन्दु और उसके व्यक्तित्त्व के अनुसार ही उपन्यास की भाषिक सरचना और शैली का निर्धारण होता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'दिव्या' में जिस प्रकार की भाषा-शैली अपनायी गयी है वह द्विवेदी जी एवं यशपाल के अन्य उपन्यासो मे नही मिलती। 'रेणु' और 'नागार्जुन' के उपन्यासो मे भाषा

---

1 आचलिकता और आधुनिक परिवेश —डॉ० शिव प्रसाद सिह पृष्ठ 116

2 साहित्यालोचन, डॉ० श्याम सुन्दर दास, पृष्ठ 259 से उद्धृत

3 Technique as discovery, Perspective on Fiction —Mark Schorer, Page 205

का जो रूप दिखाई देता है तथा 'मैला ऑचल' और 'बाबा बटेसरनाथ' में जो शैलियॉ अपनायी गई है, उसी काल के 'नदी के द्वीप', 'सूरज का सातवॉ घोडा', 'उखडे हुए लोग' मे नही मिलती। स्पष्ट है कि लेखक के व्यक्तित्त्व की विशिष्टता के अतिरिक्त कृति के कथ्य की प्रकृति, पात्रो का सामाजिक-मानसिक स्तर और उपन्यास का वातावरण तथा उपन्यासकार का अपना दृष्टिकोण सभी सम्मिलित रूप से उपन्यास की भाषा-शैली के स्वरूप निर्धारण मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते है।

शैली के विविध प्रकारो मे भावात्मक, मनोविश्लेषणात्मक, हास्य व्यग्यात्मक, पत्रात्मक, डायरी, लोक कथात्मक, चेतना प्रवाहात्मक आदि का उल्लेख किया जाता है, किन्तु मेरे विचार मे मुख्यत. निम्नलिखित प्रकार है—

(1) वर्णनात्मक

(2) आत्मनिवेदनात्मक

(3) फ्लैश बैक

(4) विश्लेषणात्मक

(5) आचलिक

इसके अतिरिक्त भी अनेक शैलियो मे उपन्यास लिखे जा रहे है, जिनका नामाभिधान फिलहाल असम्भव सा प्रतीत होता है।

सवाद तत्त्व को भी उपन्यास के शिल्प की अभिव्यक्ति भगिमा का ही एक रूप समझना चाहिये, क्योकि उपन्यासकार की अभिव्यक्ति विशिष्टताओ का अधिकाधिक निखरा हुआ रूप उसी समय दिखाई देता है, जब उपन्यास के दो पात्र या कई पात्र पारस्परिक वार्तालाप मे लगे होते है। प्रेमचन्द्र की भी धारणा है—

> ''उपन्यास मे वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाये, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा। वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिये। प्रत्येक वाक्य को, जो किसी चरित्र के मुँह से निकले— उसके मनोभावो और चरित्र पर कुछ-न-कुछ प्रकाश डालना चाहिये। बातचीत का स्भाविक परिस्थितियो के अनुकूल सरल और सूक्ष्म होना जरूरी है।'' [1]

अभिव्यक्ति भंगिमा · नये प्रयोग

प्रेमचन्द्र पूर्व युग के उपन्यासकारो ने अपने उपन्यास लेखन मे शैली को नवीन रूप देने की दृष्टि से नये-नये प्रयोग करने का प्रयत्न नही किया है। तत्कालीन उपन्यासो को पढते समय ऐसा प्रतीत होता है कि कथा कहने मोह तथा चमत्कृति प्रदर्शन की अत्यधिक लालसा ने इस युग के उपन्यासकारो को एक ही सपाटबयानी शैली ने जकड लिया है। शैली का गरिमामय एव महत्त्वाकाक्षी रूप प्रेमचन्द्र के उपन्यासो मे सर्वप्रथम विकसित हुआ। यद्यपि प्रेमचन्द्र ने विविध प्रयोग नही किये किन्तु आदर्शोन्मुख यथार्थ की आधार भूमि पर उपन्यासो की सृष्टि करके उन्होने वर्णनात्मक तथा विश्लेषणात्मक शैली का स्वरूप निर्धारण किया है। अमृतलाल नागर के 'अमृत और विष' तथा 'बूँद एव समुद्र' उपन्यास में भी शैली का अभिनव रूप मिलता है। जैनेन्द्र ने तो मनोविश्लेषणात्मक शैली द्वारा नये अध्याय का सूत्रपात किया। इस क्रम में जैनेन्द्र का 'त्यागपत्र', 'सुनीता', इलाचन्द्र जोशी का 'सन्यासी', राजकमल चौधरी का 'मछली मरी हुई', सर्वेश्वर का 'सोया हुआ जल'। रेणु एव अज्ञेय ने तो शिल्प के क्षेत्र में क्रांन्ति कर दिया। अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास आत्म निवेदन, विस्लेषणात्मक, मनोवैज्ञानिक तथा फ्लैश बैक शैलियो के अप्रतिम सगम का दस्तावेज है, तो 'नदी के द्वीप' मे भावप्रधान, काव्यात्मक और

---

1 साहित्य का उद्देश्य . मु० प्रेमचन्द्र, 'उपन्यास का विषय' निबन्ध, पृष्ठ 61

चेतना प्रवाह शैलियो का। रेणु ने हिन्दी मे सर्वप्रथम किसी एक व्यक्ति-विशेष की कथा न कहकर समस्त अचल तथा उसके परिवेश के दस्तावेज को सर्वथा नई आचलिक शैली मे प्रस्तुत किया, जिसे आगे चलकर शिवप्रसाद सिह, राम दरश मिश्र, राजेन्द्र अवस्थी, विवेकी राय ने नया सस्कार दिया।

हिन्दी उपनयासो मे शिल्प, शैली तथा प्रस्तुतीकरण आदि अनेक दृष्टियों से धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवॉ घोडा' उपन्यास एक महत्तम उपलब्धि है। इसमे मणिक मुल्ला द्वारा कथित सात कहानियॉ मिलकर उपन्यास बन गई है। रागेय राघव का 'हुजुर' अन्योक्ति शैली मे प्रस्तुत किया गया एक नया प्रयोग है। समय सकुचलन की प्रवृत्ति से लिखे गये नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल', अश्क का 'शहर मे झूमता आईना' इस दिशा मे नवीन प्रयोग है।

सन् 1960 के बाद हिन्दी उपन्यासो की शैली में नवीनता और विविधता के साथ बिम्ब, प्रतीक, जटिल भावबोध आदि के प्रचुर प्रयोग से उपन्यासो की कलात्मकता मे श्रीवृद्धि ही हुई है। कई उपन्यासो के नाम तक प्रतीकत्मक है। मन्नू भण्डारी का 'आपका बंटी' बाल मनोविज्ञान पर आधारित कथ्य, शिल्प एव शैली की दृष्टि से सर्वथा नया और मौलिक प्रयोग है। श्रीलाल शुक्ल का 'रागदरबारी' व्यग्यात्मक एव प्रतीकात्मक शैली की एक नई तलाश है, तो बदीउज्जमा के 'एक चूहे की मौत' तथा 'छठा तत्र' उपन्यासो मे फैटेसी तथा प्रतीकात्मक शैली का बखूबी प्रयोग किया गया है। रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' तथा शिवप्रसाद सिह के 'अलग-अलग वैतरणी' उपन्यास आचलिक होने पर भी विशिष्ट शैली और कथ्य के नाविन्य से आचलिकता के रास्ते को भी पलट देते है।

समग्रत: स्वातत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यासो मे शैली की विविधता देखने को मिलती है जो हिन्दी उपन्यास के विकास के नये-नये क्षितिजो की परिचायक है।

(5) उद्देश्य—

उपन्यास सर्जना का यह एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जो विषय सापेक्ष्य है। उपन्यास के उदय के समय कथा वस्तु और बाद मे चरित्र-चित्रण आदि को प्रमुखता प्राप्त होने के कारण 'उद्देश्य' तत्त्व कम-अधिक मात्रा मे उपेक्षित ही रहा, परन्तु अन्य तत्त्वो के साथ क्रमश. विकसित होता हुआ महत्त्वपूर्ण स्थान है। कथा वस्तु, चरित्र-चित्रण पर आधात हुए, किन्तु 'उद्देश्य' तत्त्व निरन्तर समृद्ध होता गया।

हिन्दी उपन्यास के उदय के समय यह 'पाठको का मनोरजन' करने के रूप मे ही दिखाई देती है। भारतेन्दु काल के आने तक 'मनोरंजन' के साथ-साथ शिक्षा, राष्ट्रीयता, वीरता, सुधारवादी दृष्टिकोण, उपदेश जैसे उद्देश्य उपन्यासो मे उभरने लगे। इस प्रकार प्रेमचन्द्र पूर्व युग मे मुख्यत: दो उद्देश्य दिखाई देते हैं— मनोरजन, शिक्षण। मेहता लज्जाराम शर्मा का विचार है—

> ''जिन सुलेखको को अपने उपन्यास की रोचकता का अधिक गर्व है वे यदि ऐयारी, तिलस्मी और जासूसी रचना के साथ-साथ इस ओर ढल पडे तो मेरी समझ में हिन्दू समाज का अधिक उपकार कर सकते है, क्योकि लोगो ने ऐसे-ऐसे उपन्यासकारों की रचना द्वारा पाठको की अरुचि छुटाकर पोथियॉ पढने का चटरस उनके मन में पैदा कर दिया है।'' [1]

---

1 बिगडे का सुधार अथवा सती सुखदेवी, भूमिका

मनोरजन, चमत्कृति, नैतिक शिक्षा आदि की कडियो मे प्रतिबद्ध उपन्यास विधा को प्रेमचन्द्र ने ही मुक्त किया। उनकी धारणा थी कि 'अब साहित्य केवल मन बहलाव की चीज नही है, मनोरजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है।'[1] भारतीय श्रमिको, श्रमजीवियो तथा समाज के निम्न स्तर के तबको के दुःखमय, कष्टमय और दर्द भरे जीवन को यथार्थ अभिव्यक्ति देने का प्रामाणिक यत्न सर्वप्रथम प्रेमचन्द्र ने ही किया। यशपाल, अमृतलाल नागर, भगवती चरण वर्मा ने अपने-अपने स्तर पर सामाजिक विसगतियो को उजागर करने का उद्देश्य रखा। मार्क्सवादी उपन्यासो का मुख्य उद्देश्य वर्ग सघर्ष तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को रूपायित करना ही रहा है। इस उद्देश्य को दृष्टि मे रखकर लिखे गये उपन्यासो मे यशपाल कृत 'दादा कामरेड' रागेय राघव कृत 'हुजूर' उल्लेख है।

आधुनिक युग मे मनोविज्ञान के विकास के कारण व्यक्ति की मानसिकताओ तथा उसके अन्तर्मन की सूक्ष्म प्रक्रियाओ को उद्घाटित करने के उद्देश्य को लेकर जैनेन्द्र, इलाचद जोशी ने अपनी रचनाओ का लेखन किया। नागर जीवन की दौडधूप भरी जटिल, जिन्दगी से ऊबकर शान्त रमणीय पहाडियो मे बसे गॉवो की सादगीपूर्ण जिन्दगी के प्राकृतिक सौन्दर्य मे रमने की प्रक्रिया के कारण आचलिक उपन्यासो की अवतारणा हुई है। सन् 1960 के बाद उपन्यासो की धारणाये, दृष्टिकोण, कल्पनाये तथा उद्देश्य नये प्रयोगो मे अभिव्यक्ति पा रहे है। देश-विदेश की जटिल समस्याएँ, सडी-गली मान्यताएँ, राजनैतिक अवसरवाद आदि अनेक बातों के विडम्बनात्मक प्रस्तुतीकरण के उद्देश्य को लेकर अनेक उपन्यासकार सक्रिय है। विशिष्ट उद्देश्य एव दृष्टिकोण को साकार करने के लिए वे कथा के क्षीण अशों, मार्मिक प्रसगो, नार्मल एवं एबनार्मल पात्रो की सूक्ष्म मानसिक स्थितियों का प्रचुर उपयोग भी कर रहे है। डॉ० चन्द्रकान्त बांदिबडेकर के अनुसार—

> ''जीवन के बहुमुखी यथार्थ को प्रस्तुत करने की अपेक्षा वे विशिष्ट दृष्टि से देखकर वस्तुओ को प्रस्तुत करते है। यह एक प्रकार के वैयक्तिक अहं का वस्तु पर प्रक्षेपण है।''[2]

नये उपन्यासकारो में नई प्रयोगधर्मिता को चलाने की युयुत्सावृत्ति का परिचय मिलता है। इनमे जीवन जीने की चाह है, शक्तिमान व्यक्तित्त्व रूपापन की प्रगाढ इच्छा है और साथ मे स्वस्थ समाज एव राष्ट्र के निर्माण की तडप भी। ऐसे उपन्यासकारो मे बदिउज्जमा, हिमांशु जोशी, हृदयेश, शिवप्रसाद सिह, सुरेन्द्र वर्मा, विनोद कुमार शुक्ल, अब्दुल विस्मिल्लाह, असगर वजाहत, कमलाकात त्रिपाठी, प्रभा खेतान आदि उल्लेख है।

---

1 कुछ विचार, पृष्ठ 9

2 हिन्दी उपन्यास : स्थिति और गति

अध्याय – 2

स्वतंत्रतापूर्व हिन्दी उपन्यास का शिल्प

अध्याय : दो

स्वतंत्रतापूर्व हिन्दी उपन्यास का शिल्प

हिन्दी मे उपन्यास विधा का उदय 'परीक्षागुरु' से होता है। 'अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले-पहल हिन्दी मे लाला श्रीनिवास दास का परीक्षा गुरु ही निकला था।' [1] 'अपनी भाषा में यह नयी चाल की पुस्तक होगी' लिखकर लेखक ने स्वय भी 'परीक्षा गुरु' की प्रथमता और मौलिकता का दावा किया है। यद्यपि कि परीक्षागुरु से पहले 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामाशिक्षक', 'भाग्यवती' तथा राधाकृष्ण दास का 'नि:सहाय हिन्दू' की रचना हुई थी। 'नि:सहाय हिन्दू' के सन्दर्भ मे तथ्य यह है कि वह लिखे जाने के नौ वर्ष बाद 1890 मे प्रकाशित हुआ, अत: यह कालक्रम की दृष्टि से 'परीक्षा गुरु' की परवर्ती रचना है। गौरीदत्त की 'देवरानी जेठानी की कहानी', ईश्वरी प्रसाद तथा कल्याण राय की 'वामाशिक्षक' तथा श्रद्धाराम फुल्लौरी की 'भाग्यवती'—1870 के दशक मे रचित इन तीनो कथा-पोथियो का हिन्दी उपन्यासो के विकास मे वही स्थान माना जायेगा, जो अग्रेजी साहित्य मे 'नावेलो' के विकास मे इटालियन 'नोवेला' (नवल कथा) का है। इनमे नई उपन्यास विधा के उदय के बीज मिलते है। उपन्यासो की जो विशेषता उन्हे पुराने ढग की कथा पुस्तको से अलग करती है वह है उनकी कथावस्तु मे स्वाभाविकता। उनमे प्रतिदिन के जीवन को चित्रित किया गया है। इन तीनो कथा पुस्तको का महत्त्व केवल इस बात मे नही है कि 1870 के दशक मे हमारे समाज में जिस नवजागरण का सूत्रपात हुआ था तथा नये शहरी मध्यवर्ग का क्रमिक विकास हुआ, उसके कुछ दुर्लभ चित्र इसमे मिलते हैं वरन् इस बात मे भी है कि हिन्दी उपन्यासो के शिल्प का विकास हमारे यहॉ कि परम्परागत कथा-पुस्तको से जिस रीति से हुआ, इस बारे में मूल्यवान तथ्य सामने आते है। हिन्दी उपन्यास शिल्प के उदय के चिन्ह इसमे खोजे जा सकते हैं। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के भाषा प्रयोग का अध्ययन करने की दृष्टि से भी इनकी उपेक्षा नही की जा सकती। भारतेन्दु को प्रथम उपन्यासकार मानने में भी मतभेद है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भारतेन्दु के 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' को 'सर्वप्रथम सामाजिक उपन्यास' बतलाया है, परन्तु यह मौलिक रचना नही है 'मराठी से अनुवाद है' [2] अनुवाद भी भारतेन्दु जी का स्वयं नही है। इस प्रकार 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा के प्रमाण पर भारतेन्दु को प्रथम उपन्यासकार नही माना जा सकता। उन्होने स्वयं एक उपन्यास 'एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती' लिखना शुरू किया था, जिसमें उन्होने जैसे 'परीक्षा गुरु' की सांकेतिक भूमिका ही प्रस्तुत कर दी है। इसे प्रथम उपन्यास नही माना जा सकता इसके दो कारण दिखाई देते है—

(1) इसका केवल एक 'खेल' ही लिखा गया था। यदि यह रचनापूर्ण हो गई होती तो आलोचको का ध्यान इसकी ओर अवश्य जाता।

(2) भारतेन्दु ने इसको 'कहानी' की सज्ञा दी है, 'उपन्यास' नही, इसलिए विद्वान इसको कहानी समझकर छोड बैठते हैं।

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास —आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 415

2 विजय शकर मल्ल : उदय काल प्रेमचन्द्र के आगमन तक (आलोचना उपन्यास अक) पृष्ठ 65

जो भी हो, कला की दृष्टि से यह कहानी अवश्य ही 'उपन्यास' पद की अधिकारिणी है, और इसके आधार पर भारतेन्दु अन्य गद्य रूपो के समान उपन्यास के भी जन्मदाता माने जाने योग्य है।

परीक्षागुरु को सभी आलोचको ने किसी न किसी रूप से हिन्दी का प्रथम, अग्रेजी ढग का मौलिक उपन्यास माना है। इसलिए अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास का प्रथम युग श्रीनिवास दास के 'परीक्षागुरु' (सन् 1882 ई०) से प्रेमचन्द के आगमन तक माना जा सकता है। प्रेमचन्द के दो प्रारम्भिक उपन्यास 'प्रतिज्ञा' और 'वरदान' उनसे पूर्व की प्रवृत्तियो से भरे हुए है उनको सक्रान्तिकालीन माना जा सकता है युग प्रवर्तक नही। परन्तु 'सेवासदन' का प्रकाशन हिन्दी-जगत् की एक विशिष्ट घटना है, इस उपन्यास मे नवीन युग की स्पष्ट सूचना मिल जाती है। जिस प्रवृत्ति का 'सेवासदन' मे उपक्रम दिखाई पडता है वही प्रेमचन्द के जीवनपर्यन्त 'मगल सूत्र' के प्रकाशन (1936) तक उसी प्रकार प्रवाहमान है। प्रेमचन्द के जीवनकाल मे ही उनसे भिन्न प्रवृत्ति ने पूरी तरह ढॉचा ही बदल दिया। इस प्रकार स्वतंत्रतापूर्व हिन्दी उपन्यास की तीन धाराये है—

(1) पूर्व प्रेमचन्द युग (1882 ई०-1918 ई०)

(2) प्रेमचन्द युग (1918 ई०-1936 ई०)

(3) स्वतत्रतापूर्व प्रेमचन्दोत्तर युग (1936 ई०-1947 ई० तक)

(i) पूर्व प्रेमचन्द युग

बगाल के समान हिन्दी मे भी उपन्यास का सूत्रपात समाज की आलोचना के रूप मे हुआ था। परन्तु जैसे-जैसे इसकी लोकप्रियता बढती गई वैसे-वैसे इसमे मनोरजन का समावेश अधिक होता गया। कुछ उपन्यासकारो ने मनोरजन को सामाजिक चित्रण से अधिक महत्त्व दिया, जैसे देवकीनदन खत्री, गोपालराम गहमरी। 'जरा चटपटी-चुलबुली नायिका हो, सुन्दर सलोना नायक हो, कुटनियो का कूट, ऐयारों की ऐयारी, माशूक-आशिक के चौचले हों, तिलस्म की पेचदार कथा हो, तब उपन्यास की बहार होती है।'[1] कुछ लेखक[2] मनोरंजन की अधिक परवाह न करके सामाजिक चित्रो पर ही ध्यान केन्द्रित करते थे, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्रद्धाराम फुल्लौरी, श्री निवासदास आदि से ऐसी ही परम्परा चलती है जिसका दूसरा छोर 'राम लाल' उपन्यास के लेखक मन्नन द्विवेदी हैं। इस प्रकार उस काल का उपन्यास शुद्ध कला-कृति नही है, उसमें उपदेश और मनोरजन[3] का भिन्न-भिन्न अनुपातो में मिश्रण हो गया है। इस युग मे जितने लेखक साहित्य-सृष्टि के उद्देश्य से लिखते थे उनसे बहुत अधिक लेखक व्यावसायिक दृष्टिकोण से। फलत: लेखक से अधिक महत्त्व कहीं-कही प्रकाशक का दृष्टिगत होता है। उपन्यास की सफलता पाठको को आकृष्ट करना और प्रतियो के हाथो-हाथ बिक जाने मात्र से मानी जाती थी। यही उन उपन्यासो की आलोचना भी है। 'पुस्तक का मूल्य, पुस्तक के पन्ने, छपाई और चित्र तथा मन पर पुस्तक का प्रभाव—इन चार गुणो से उसकी सफलता का प्रतिमान आका जाता था। कुछ आलोचनामय विज्ञापन द्रष्टव्य है—

1 इसमे 'राजकुमारी' का रगीन चित्र तो ऐसे दिया गया है कि वैसा सुन्दर चित्र बाजार मे चार आने मे भी न मिलेगा। (राजकुमारी)

---

1 ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने 'स्वर्णमयी का जैसी करनी वैसी भरनी' उपन्यास मे उस काल की सामान्य कला का वर्णन किया है। (डॉ० श्रीकृष्ण लाल द्वारा 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' की भूमिका से

2 मानव चरित्र को उदार और उन्नत बनाने वाले वास्तविक चरित्र का चित्रण करने वाले, और शिक्षितो को कर्त्तव्यपथ पर आरूढ करने वाले उपन्यासो की हिन्दी मे बहुत ही कमी है। (प्रतिमा सन् 1913)

3 हिन्दी साहित्य मे उपन्यास के प्राय. दो ही उद्देश्य समझे जाते हैं। एक तो मनोरजन करना ओर दूसरे कोई उच्च भाव या आदर्श प्रदर्शित करना। (लालचीन की भूमिका)

2 इसके पढने मे कभी तो ऑखो से ऑसू बहने लगते हैं, कभी आनन्द की लहरे आती है और कभी हॅसते-हॅसते पेट फटने लगता है। (कुसुमकुमारी)

3 इसका आकार 'डिमाई आठ पेजी' पॉच फार्म अर्थात् 40 पृष्ठ है। ('उपन्यास'—मासिक)

4 मैने इस उपन्यास को प्रशसा प्राप्त करने अथवा रुपया बटोरने की स्पृहा से नही लिखा है वरन् देश सेवा की हार्दिक इच्छा मन मे रखते हुए इसको प्रत्येक धर्मालकार से विभूषित कर । ('पतिव्रता विपुला' सन् 1919)

5 यो तो अब तक सैकडो उपन्यास छप चुके है जिनसे मनोरजन या ऐतिहासिक बाते जानने के सिवा और कोई विशेष लाभ नही हुआ, किन्तु हमे आशा है कि इस उपन्यास से मनुष्य जाति मात्र का उपकार होगा। ('चाची')

6 जब घटनापूर्ण, अश्लीलतामय, चरित्रनाशी, रशीली कहानियॉ पढ़ते-पढ़ते आप लोगो का जी ऊब जाये तब आप लोग इसे अपने हाथ मे लीजिएगा और देखिएगा कि आप लोगों के मन को इससे कुछ विश्राम मिलता है नही । (सौन्दर्योपासक)

स्पष्ट है कि उपन्यासकारो का पाठक से निकट सम्पर्क रहता था अर्थात् उपन्यास लिखते-लिखते वे पाठक से बात करते जाते थे और अपनी कला से उसे ऐसी चीजें दिखाते थे जिनसे उनका मन लगा रहे। यह शैली उस युग की नाट्यप्रियता की देन है। 'वस्तुत: उपन्यासकार उस सूत्रधार के समान था जो पाठको के परितोष से ही अपने उपन्यास-विज्ञान को सफल मानता है। पाठको का ध्यान रखकर लिखना यदि लेखक का गुण है तो प्रेमचन्द पूर्व उपन्यास मे यह विशेष रूप से दर्शनीय है।'[1] प्रेमचन्द पूर्व युग 'रीतिकाल', 'पारसी रगमंच', 'उर्दू शायरी' और 'सस्कृत साहित्य' की प्रवृत्तियो से घिरे रहने के कारण इनके प्रभाव से अछूता नही रह सकता था। 'रीतिकाल' से सजावट-प्रियता, 'रगमच' से कथोपकथनो मे चुस्ती, शायरी से रगीनी, और सस्कृत से वर्णनप्रियता इस काल के उपन्यासो मे न्यूनाधिक मात्रा मे व्याप्त हो गया। इस उपन्यास साहित्य के तीन प्रधान सहायक तत्त्व—काव्य, नाटक, अखबार—है, काव्य ने रसिकता, नाटको ने पाठकों का सामीप्य और अखबारो ने उपन्यास को सत्य घटनाओ का आधार दिया।

इस युग के उपन्यासकारो की सबसे बड़ी कमजोरी अपने दृष्टिकोण का अभाव है। फलत: कला और उद्देश्य दोनो मे से किसी पर भी लेखक के व्यक्तित्त्व की छाप नहीं मिलती। यह युग अनुवाद और अनुकरण का था। दूसरी रचनाओ जैसे इतिहास, समाचार पत्र, नाटक अथवा उपन्यास से संकेत लेकर लेखक उपन्यास लिख डालते थे, क्योकि अद्‌भुत कल्पना प्रवणता से वे ओत-प्रोत थे। कुछ उपन्यासकारो ने सच्ची घटनाओ के आधार पर कथानक निर्माण किया तो कुछ लेखकों ने सुनी सुनाई बातो के आधार पर। परन्तु प्रत्येक लेखक की यह हार्दिक कामना थी उसकी कल्पना पर विश्वास किया जाये; अग्रेजी के डेफो की विश्वास जमाने वाली कला हिन्दी के इन उपन्यासकारो मे भी दिखाई देती है। वे भूमिका मे यह घोषणा कर देते थे कि उनकी कृति का आधार एक सच्ची घटना है, व्यक्तियो और स्थानो के नामो के अतिरिक्त सारी बाते सच्ची हैं।

प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी मे जो उपन्यास दिखाई देते हैं, वे युगीन सन्दर्भ में अविकसित और असफल भले ही मान लिये जाये, किन्तु उनका ऐतिहासिक महत्त्व निर्विवाद है। वे हिन्दी साहित्य के इतिहास की महत्त्वपूर्ण कडी नही है, तत्कालीन जनता के जीवन का प्रामाणिक प्रतिबिम्ब भी है। सामान्य जनमानस की मनोविज्ञान जितना इन उपन्यासो मे दिखाई देता है, वह उल्लेखनीय है क्योकि उनका निर्माण ही जनता के मनोरजन के लिए हुआ था।

---

1 प्रेमचन्द्र पूर्व हिन्दी उपन्यास —के० प्रकाश, पृष्ठ 74

स्पष्ट है कि प्रेमचन्द पूर्ववर्ती उपन्यास साहित्य मे विविध प्रयोगो का बोलबाला था। उपन्यास का कोई प्रौढ व प्रतिमानित रूप निर्धारित न होने के कारण, हिन्दी के उपन्यासकार रचना सामग्री व रचनाशिल्प की दृष्टि से नित नये-नये प्रयोग करने मे जुटे हुए थे। तत्कालीन बगला और अग्रेजी उपन्यासो की तुलना मे हिन्दी मे समृद्ध उपन्यास साहित्य का अभाव था, और यह अभाव हिन्दी के लेखको को खटकने लगा था। इस अभाव की पूर्ति के लिए उन्होने अनेको प्रयोग किये, परिणामत शिक्षाप्रद, ऐतिहासिक, तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासो की रचना होने लगी। 'उपन्यास रचना का कोई साहित्यिक लक्ष्य निर्धारित नही हुआ था, इस कारण उपन्यास की शिल्पविधि के सभी तत्त्व हमे अविकसित एव अनगढ अवस्था मे दिखाई देते है। उपन्यास की रचना-सामग्री और उद्देश्य, कथानक और चरित्र-चित्रण अथवा भाषा और वातावरण सृजन, सभी मे हमे अनगढता और प्रयोगात्मकता तुरन्त दिखाई दे जाती है। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उपन्यास-रचना का मानव जीवन के साथ कोई गहरा सबध स्थापित न हुआ था। इसलिए मानव जीवन से प्राप्त होने वाले पोषक तत्त्वो के अभाव मे, उपन्यास-शिल्प अनुवाद और अनुकरण की घेरेबन्दी मे बॅधा रहकर अनगढता और प्रयोगात्मकता की अवस्था पार न कर सका।' [1] 'प्रबन्ध-कला का टकसालीपन या उपन्यास कला की विशेषताएँ तो नही मिलती, किन्तु वे सुन्दर शिक्षाओ से भरे हुए है।' [2]

पूर्व प्रेमचन्द युगीन उपन्यास मुख्यत: दो प्रवृत्तियो से परिचालित है—एक शुद्ध मनोरंजन की प्रवृत्ति है तो दूसरी सामाजिक जागरण की। ऐयारी-तिलस्मी, जासूसी एवं चित्र-विचित्र रहस्यमय वासनापरक प्रणय चित्रों से युक्त दोनो ही प्रकार के उपन्यास मनोरजन की प्रवृत्ति से ही परिचालित थे। सामाजिक जागरण की प्रेरणा से परिचालित उपन्यास उपदेशप्रधान और सुधारवादी थे। इनमे से कुछ सनातनधर्म की प्राचीन परम्परा के पोषण मे प्रवृत्त थे और कुछ नवीन बौद्धिक जागरण का स्वागत करते हुए नये सुधारो का समर्थन कर रहे थे। शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास की एक क्षीण धारा भी दिखाई देती है, किन्तु इन ऐतिहासिक उपन्यासो की मुख्य प्रवृत्ति इतिहास से हटकर प्रणय कथाओ, विलास लीलाओ, रहस्यमय प्रसगो तथा कौतूहलवर्द्धक घटनाचक्रो की कल्पना में लीन हो जाती है। इस प्रकार तीन धाराये है—

(क) सामाजिक—घटना प्रधान, चरित्र प्रधान, भाव प्रधान

(ख) ऐतिहासिक—शुद्ध ऐतिहासिक, ऐतिहासिक रोमास

(ग) घटना बहुल शुद्ध मनोरजक—ऐयारी-तिलस्मी, जासूसी, साहसिक एवं चित्र-विचित्र घटनात्मक

(क) सामाजिक— 1876 मे उपन्यासों के स्वाद से वंचित हिन्दी पाठकों को उसका रसास्वादन कराने के लिए भारतेन्दु ने स्वय एक उपन्यास धारावाहिक रूप से लिखना शुरू किया, किन्तु उसके दो ही पन्ने लिख पाये। उसकी पहली और अंतिम किश्त कविवचन सुधा, भाग 8, सख्या 22, वैशाख कृष्ण 4, संवत 1933 मे छपी। इसे उन्होने आत्मकथात्मक शैली मे लिखा था जो उस समय एक नयी चीज थी। उपन्यास की थीम का सकेत—

जमीने चमन गुल खिलाती है क्या-क्या
बदलता है रग आसमॉ कैसे - कैसे

इन दो पक्तियो मे उन्होंने कर दिया था। उन्होने उपन्यास का शीर्षक रखा था—एक 'कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती' ऐसा प्रतीत होता है कि वह ससार को एक नाटकशाला अथवा जीवन का एक खेल मानकर उपन्यास मे जीवन और

---

1 हिन्दी उपन्यास की शिल्पविधि का विकास, श्रीमती ओम शुक्ल, पृष्ठ 63

2 आधुनिक हिन्दी साहित्य, डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृष्ठ 207

जगत् के नित परिवर्तनशील चित्र-विचित्र रग रूपायित करना चाहते थे। दो पन्नो मे उपन्यास का प्रथम परिच्छेद भी पूरा नही हो सका था, किन्तु उसका उठान इतना हृदयग्राही था कि कल्पना की जा सकती है कि इसी उठान के अनुरूप यदि उपन्यास पूरा लिखा गया होता तो हिन्दी उपन्यास साहित्य की वह एक महत्त्वपूर्ण कृति होती। इस उपन्यास के कथानायक से उन्होने अपने को तदाकार कर दिया था। उपन्यास का आरम्भ आत्मचरित्र के ढग से इस प्रकार किया था .

> ''हम कौन है और किस कुल मे उत्पन्न है आप लोग पीछे जानेगे। आप लोगो को क्या, किसी का रोना हो पढे चलिए, जी बहलाने से काम है। अभी मै इतना ही कहता हूँ कि मेरा जन्म जिस तिथि को हुआ वह जैन और वैदिक दोनो मे बडा पवित्र दिन है। सं० 1930 मे मैं जब तेइस बरस का था, एक दिन खिडकी पर बैठा था ।''

राधाकृष्ण दास ने भारतेन्दु के जीवन चरित्र मे लिखा है, वह पूरी तरह औचित्यपूर्ण है, ''उपन्यास की ओर पहिले इनका ध्यान कम था। यदि भारतेन्दु जी कुछ दिन और भी जीवित रहते तो उपन्यासो से भाषा के भडार को भर देते क्योकि अब उनकी रुचि इस ओर फिरी थी।''[1] शिव नदन सहाय ने भी उनके जीवन चरित्र मे लिखा है—''हिन्दी मे उपन्यास लिखने के लिए लोगो के हृदय मे अकुर जमाने वाले यही हुए हैं।''[2]

भारतेन्दु जी की प्रेरणा से श्रीमती मल्लिका देवी ने भी तीन उपन्यासो का अनुवाद किया जिनका साहित्यिक महत्त्व इतना ही है कि वे भारतेन्दु की प्रेरणा से रचे गये। 'कुलीन कन्या' अथवा 'चन्द्रप्रभा और पूर्ण प्रकाश' शीर्षक से एक छोटी आख्यायिका बगभाषा का आशय लेकर हिन्दी मे प्रकाशित की गयी। राधाकृष्ण दास ने लिखा है कि—'चन्द्र प्रभा और पूर्ण प्रकाश' को अनुवाद करके स्वय शुद्ध किया था, किन्तु इसमे भारतेन्दु का सशोधन इतना ही प्रतीत होता है कि उन्होने उसके प्रत्येक स्तवक (अध्याय) के शीर्ष पर उसके साथ कथा-प्रसग का सक्षिप्त निर्देश करने वाले नददास, बिहारी तथा गोस्वामी तुलसीदास के काव्य से उद्धरण अथवा संस्कृत श्लोक लिख दिये थे। दूसरी रचना 'राधा रानी' एव तीसरी 'सौन्दर्यमयी' है। कहना न होगा कि हिन्दी साहित्य मे नाटकादि अनेक नई-नई साहित्यविधाओं का श्री गणेश करने के साथ-साथ उपन्यास विधा का भी बीजारोपण करने का श्रेय भारतेन्दु जी को ही है।

परीक्षागुरु के रूप में हिन्दी उपन्यास का उदय इस तथ्य का प्रतीक है कि हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ ही सामाजिक यथार्थ से होता है। परीक्षा गुरु का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि इसमें वे अपने निजी अनुभवो और सम्पर्क मे आये व्यक्तियो का ही अकन करके उपन्यास की अन्तर्वस्तु से अपने आत्मीय एव प्रगाढ़ परिचय का बोध जगाते है। इसीलिए लाला श्रीनिवास दास 'अपनी भाषा मे नई चाल की पुस्तक' कहा है। उनके शब्द है—

> ''अपनी भाषा मे अब तक वार्तारूपी जो पुस्तके लिखी गयी है उनमे अक्सर नायक-नायिका वगैरह का हाल ठेठ से सिलसिलेवार लिखा गया है ''जैसे कोई राजा, बादशह, सेठ साहूकार का लड़का था। उसके मन मे इस बात से रुचि हुई और उसका यह परिणाम निकला'' ऐसा सिलसिला कुछ भी नही मालूम होता। लाला मदन मोहन एक अग्रेजी सौदागर की दुकान मे अस्बाब देख रहे है। लाला ब्रजकिशोर, मुशी चुन्नीलाल और मास्टर शिम्भूदयाल उनके साथ है। इनमे मदनमोहन कौन, ब्रजकिशोर कौन, चुन्नीलाल कौन और शिम्भूदयाल कौन है। इनका स्वभाव कैसा है? परस्पर सम्बन्ध कैसा है? हर

---

1 पृष्ठ 81

एक की हालत क्या है? यहॉ इस समय किसलिए इकट्ठे हुए है? ये बाते पहले से कुछ नही बतायी गयी। हॉ, पढने वाले धैर्य से सब पुस्तक पढ लेगें, तो अपने-अपने मौके पर सब भेद खुलता चला जायेगा और आदि से अत तक सब मेल मिल जायेगा।''[1]

स्पष्ट है कि इस नाटकीय आरम्भ को ही लाला श्रीनिवास दास ने 'नई चाल' कहा है। रचना की इस नई चाल की प्रेरणा उन्हे अग्रेजी उपन्यास से मिली, जिसे उन्होने स्वय ही स्वीकार किया है—

''मुझको महाभारतादि सस्कृत, गुलिस्तॉ वगैरह फारसी के साथ ही स्पेक्टेटर, लार्ड बेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कपूर आदि के पुराने लेखो और स्त्री बोध आदि के वर्तमान रिसालो सै बडी सहायता मिली है।''[2]

इस उपन्यास मे दिल्ली के एक कल्पित रईस लाला मदनमोहन का स्वाभाविक चित्र है, जिनका जीवन झूठे खुशामदियो के बीच भोग-विलास मे व्यतीत होता है। उनके मित्र लाला ब्रजकिशोर है, जिन्हे लेखक ने भारतीय नवजागरण के एक प्रतिनिधि चरित्र के रूप मे देखा है। उसमे ज्ञान की अकूत पिपासा है। शास्त्र एवं आचार ग्रथो का उसने गम्भीरतापूर्वक अध्ययन ही नही किया है, वरन् उन्हे अपने जीवन मे उतारने का प्रयास किया है। विदेशो के अनेक दार्शनिको एव चिन्तको का अध्ययन भी उसने किया है और इस समस्त ज्ञान का उपयोग वह अपने और दूसरे के जीवन को सार्थक बनाने के लिए करता है। चापलूसो के चक्कर मे फॅसे अपने मित्र मदनमोहन को सही रास्ते पर लाता है। लेखक का कहना है ''जो बात सौ बार समझाने से समझ मे नही आती, वह एक बार की परीक्षा से मन मे बैठ जाती है और इसी वास्ते लोग परीक्षा को गुरु मानते है।''

परीक्षा गुरु का महत्त्व यदि एक ओर बहुत निजी और वास्तविक लगने वाले घटना प्रसगो के बीच कथा के विकास की दृष्टि से है तो दूसरी ओर मानवीय व्यवहार की विविधता और विस्तार मे भी है। अनेक जातियो, वर्गो और धर्मो के पात्रो के माध्यम से इसकी कथा बुनी गई है। वकील, व्यापारी, दलाल, हाकिम, वेश्याये, ठेकेदार, सम्पादक आदि विभिन्न पेशे एव व्यवसायो के लोगो से बसा यह एक वास्तविक समाज है। इसी विस्तृत समाज के बीच लेखक अच्छे-बुरे की पहचान पर बल देता है। डॉ० विजयशकर मल्ल ने परीक्षा गुरु के महत्त्व पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—

''परीक्षा गुरु अपने समकालीन मध्यवर्गीय समाज और देश-दशा का विस्तृत परिचय देता है। एक नये मध्यवर्गीय व्यापारी की स्थिति का चित्रण करने वाले इस उपन्यास में इस वर्ग की पुरानी और नई पीढी का वैषम्य साकेतिक ढग से अच्छे रूप मे दिखलाया गया है। नायक मदनमोहन नवशिक्षित मध्यम वर्ग की कमजोरियो का मूर्तिमान रूप है। झूठी सम्मान भावना, अकर्मण्यता, अग्रेजो की नकल आदि मे वह एकदम मध्यवर्गीय कमजोरियो का पूजीभूत रूप है।''

स्पष्ट है कि परीक्षा गुरु के शिल्प पर विक्टोरियन युग के अग्रेजी उपन्यासो की छाप दिखाई पडती है। वह हिन्दी का पहला उपन्यास है जिसमे आधुनिक उपन्यास विधा के एक मुख्य तत्त्व—चरित्र-चित्रण के दर्शन होते है। लाला श्रीनिवास दास ने अपने युग के बहुत से अग्रेजी उपन्यासो की भॉति अपने उपन्यास का आरम्भ घटना से करने के बाद पात्रो का चारित्रिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उसने लाला मदन मोहन अथवा ब्रजकिशोर जैसे मुख्य पात्रो के चरित्र-चित्रण पर जितना

---

1 परीक्षा गुरु की भूमिका से

2 वही

ध्यान दिया है उतना ही सहायक पात्रो के चरित्र-चित्रण पर। 'नि:सहाय हिन्दू' की भाँति परीक्षा गुरु के लेखक ने भी मुस्लिम वर्ग के चरित्र को भी सम्मिलित करके वृहत फलक पर समाज का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त परीक्षागुरु के शिल्प की दूसरी विशेषता उसके प्लाट की बदिश है। उसमे लेखक ने अच्छे कौशल का परिचय दिया है। उसके प्लाट की बदिश नये चाल के उपन्यासो जैसी है। इसका घटनाकाल केवल पॉच दिन का है। परीक्षागुरु की कथावस्तु का विस्तार लेखक ने बहुत कुछ नाटक की कथावस्तु के ढग पर किया है। पहले प्रकरण मे ही पाठको को सूचना दे दी गई है कि लाल मदनमोहन दिवालियाहोते जा रहे हैं, हालॉकि स्वय लाला साहब को अभी अपनी वास्तव्रिक स्थिति का ज्ञान नही था। दूसरे दिन की कथा में उनकी एक और मुख्य चारित्रिक कमजोरी—प्रबंध करने की रीति न जानना उद्घाटित की गई है। साथ ही लाला हर किशोर का रुष्ट होने पर अपने बाकी रुपयो का तकाजा करना दिखाकर उस घटनाक्रम के मूल का बीजारोपण कर दिया गया है जो लाला साहब के सर्वनाश का कारण बनता है। तीसरे दिन के घटनाक्रम मे कथावस्तु तेजी से चरमबिन्दु की ओर बढने लगती है। लाला साहब प्रात: काल जिस समय कुतुब जाने की तैयारी कर रहे थे, उसी समय लाला हरकिशोर की वजह से लेनदारो की भीड उनके दरवाजे पर इकट्ठा हो जाती है और उनके हाथ पैर फूल जाते है। चौथे दिन के घटनाक्रम मे दिखाया गया है कि लाला साहब की दशा बदलते ही उनके स्वार्थी मित्रो का व्यवहार किस प्रकार बदल जाता है। पॉचवे दिन कथावस्तु अपने चरम बिन्दु पर पहुॅच जाती है। लाला हरकिशोर अदालत मे दर्खास्त देकर लाला मदनमोहन के खिलाफ वारट जारी करवाकर उन्हे हवालात भिजवा देते है। सकटकाल मे उनके दो ही सच्चे शुभचितक सिद्ध होते है—एक तो उनकी पतिब्रता स्त्री और दूसरे उनके मित्र लाला ब्रजकिशोर। लाला ब्रजकिशोर अपनी बुद्धिमता और नीतिमत्ता का परिचय देते हुए लाला मदनमोहन की स्त्री के गहनो को बचा लेते है और लेनदारो से तोड करके उन्हे सकट से उबारते है। उपन्यास का अत उस समय के प्रचलित उपन्यासो के ढग पर उपदेशात्मक अंदाज मे किया है।

परीक्षागुरु की भाषा शुद्ध साहित्यिक हिन्दी है, परन्तु शब्द चयन में ही, बनावट में नहीं। बनावट को देखते हुए तो वह 'दिल्ली के रहने वालो की साधारण बोलचाल' की भाषा है। परीक्षागुरु की शैली नवीन है, जिस पर अग्रेजी का प्रभाव अधिक है। लेखक स्वय पृष्ठभूमि मे रहकर पात्रों के पारस्परिक कार्य एवं कथोपकथन द्वारा कथा एवं चरित्रो का विकास दिखाता जाता है। उसकी यह शैली नाटकीय है, यद्यपि कि उसने नाटक की 'रीति' से इस 'नवीन रीति' का भेद किया है फिर भी यह मानने मे कोई आपत्ति नही होगी कि उस काल मे नाटक का शासन था इसलिए समस्त उपन्यास साहित्य इससे प्रभावित है, 'परीक्षागुरु' इसका अपवाद नही है।

हम यह कह सकते है कि श्रीनिवास दास ने परीक्षा गुरु के शिल्प की प्रेरणा भले ही उन्नीसवी शताब्दी के अंग्रेजी उपन्यासो से ली हो, किन्तु उसका विकास उन्होने मौलिक ढग से किया है। उसकी मूल आत्मा भारतीय है। लेखक ने पचतत्र और हितोपदेश की परम्परा पर चलते हुए अपने उपन्यास को उपदेश प्रधान बनाने का सचेतन प्रयास किया है। 'आलालेर घरेर दुलाल' और 'एक कहानी · कुछ आपबीती और कुछ जगबीती' से तुलना करने पर 'परीक्षागुरु' अधिक कलापूर्ण एव दृष्टिकोण मे अधिक व्यापक है। टेकचन्द ठाकुर ने नायक मतिलाल के व्याज से धनियो के लाड-प्यार और कुशिक्षा का वर्णन करके उनकी संतान को उन्मार्ग-गामिनी दिखाया है। सामयिक जीवन के चित्रण की दृष्टि से 'अलाल' अत्यन्त मनोरंजक, सफल और उपयोगी है, फिर भी उसमें लेखक की गम्भीरता अथवा उसकी सूक्ष्म दृष्टि उतनी प्रतिबिम्बित नही होती। भारतेन्दु की कहानी अधूरी है, उसमे धनी किशोर का चित्र है जो खुशामदियों के कारण अपनी धन सम्पत्ति को गंवा कर

बदबाद हो जाता है। श्रीनिवासदास ने न तो लाड प्यार के दोष दिखाये है और न कुशिक्षा के, उनकी दृष्टि लगभग भारतेन्दु के समान है। वे भिन्न और अभिन्न की पहचान, प्रामाकिता और सावधानी को सबसे उपयोगी नीति समझते है, परीक्षागुरु का समस्त वातावरण युवको के लिए व्यवहार-नीति की शिक्षा मे अत्यन्त उपयोगी है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य तथा हिन्दी उपन्यास शिल्प के विकास का अध्ययन करने के लिए परीक्षागुरु का महत्त्व इस बात मे है कि हिन्दी उपन्यास यात्रा जिस बिन्दु से आरम्भ हुई वह उसका दिग्दर्शन कराता है। उसे सीधे प्रेमचन्द के उपन्यासो की परपरा से जोडा जा सकता है। यथार्थवादी होते हुए भी सामाजिक सोद्देश्यता को ऑखो से ओझल नही होने दिया गया है। कुल मिलाकर, परीक्षागुरु हिन्दी मे नई चाल का सर्वप्रथम उपन्यास कहा जायेगा।

इस काल के सामाजिक उपन्यासो पर यदि सरचनात्मक दृष्टि डाले, तो एक ओर सनातन धर्म और आर्य समाज के सघर्ष को अकित किया गया है, तो वही पर अधिकतर उपन्यासो मे आर्य समाज की प्रगतिशील भूमिका के प्रभाव मे स्त्री की शिक्षा, विधवाओ की नियति और पाश्चात्य शिक्षा सस्कृति के दुष्प्रभावो को उद्घाटित किया गया है। प० गौरीदत्त ने 'देवरानी जेठानी की कहानी' की भूमिका मे इसी तथ्य की ओर सकेत किया है—

> ''स्त्रियो के पढने-पढाने के लिए जितनी पुस्तके लिखी गई हैं, अपने-अपने ढग से वे सब अच्छी होने पर भी उसने इसे भिन्न और नये रग ढग से लिखा है।''[1]

लेखक ने यह दिखाया है कि एक ही विषय पर पढी लिखी एव बेपढी स्त्री की सोच क्या है। इसी प्रकार 'भाग्यवती' की भूमिका मे श्रद्धाराम फुल्लौरी ने 'भारत खण्ड की स्त्रियो को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो।[2] को अपने उपन्यास रचना का मूल उद्देश्य माना है। एक शिक्षित एव गुणवती स्त्री अपने मायके एवं ससुराल दोनों ही परिवारो मे कैसे उजाला कर सकती है, भाग्यवती के चरित्र एव कार्य व्यापार द्वारा लेखक इस तथ्य पर बल देता है। अपनी शिक्षा के कारण ही वह अनेक प्रकार की सामाजिक कुरीतियों, पाखण्ड एवं अधविश्वासो से स्वयं बचती है और दूसरों को भी बचाती है। 'भाग्यवती' में एक दोहे के माध्यम से लेखक इसे स्पष्ट करते है—

> विद्या वन्धु विदेश में, विद्या विपत सहाय।
> जो नारी विद्यावती, सो कैसे दु:खपाय॥
> राजभाग सुखरूप धन, विपत समय तज जॉह।
> इक विद्या विपता समय, तजे न नर की बॉह॥[3]

बालकृष्ण भट्ट अपने 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' नामक उपन्यासो मे ब्रिटिश प्रभाव के प्रतिपक्ष के रूप मे भारतीय आदर्शो और परम्परा को प्रतिष्ठित करते दिखाई देते है। 'नूतन ब्रह्मचारी' मे महाराष्ट्रीय ब्राह्मण विट्लराव के पुत्र ब्रह्मचारी विनायक के सरल व्यवहार के प्रभाव से डाकुओ के सरदार का हृदय परिवर्तन दिखाया गया है। यह विद्यार्थियों को चारित्रिक शिक्षा देने के लिए लिखा गया है। लेखक के अनुसार, ''शिक्षा विभाग मे जिस तरह की पाठ्य पुस्तके प्रचलित है उन्हे थोडा ही पढने से मालूम हो सकता है कि बालकों पर इसका क्या परिणाम होगा। हमारी इस पुस्तक

---

1 'देवरानी जेठानी की कहानी' की भूमिका से
2 'भाग्यवती' की भूमिका से
3 भाग्यवती से

के पढने से पाठको को अवश्य मालूम हो जायेगा कि बालको के पढाने के लिए यह कितनी शिक्षाप्रद है और शिक्षा विभाग मे जारी होने से हमारे कोमल बुद्धि वाले बालको को कितनी उपकारी हो सकती है।''[1]

परीक्षागुरु (सन् 1882) और नूतन ब्रह्मचारी (सन् 1886) के प्रकाशनकाल मे केवल चार वर्ष का अन्तर है तथापि व्यक्तित्व परिस्थिति और दृष्टिभेद से इन दो साहित्यिक उपन्यासो मे पर्याप्त अन्तर है। 'नूतन ब्रह्मचारी' की कथावस्तु गुम्फन-शून्य एव सरल है। एक कथामात्र से कथानक का निर्माण करके लेखक सुकुमार मति बालको के प्रति सवेदनशील दिखलाई पडता है। कथानक मे केवल एक कहानी है और झाकियॉ—एक विनायक के यज्ञोपवीत की और दूसरी 15 वर्ष बाद सरदार की मृत्यु की। बालोपयोगी होने के कारण कथानक सरल, सहज एवं स्वच्छ है। वास्तव मे कथा से अधिक तो इस उपन्यास मे वर्णन है। भट्ट जी ने उत्तर प्रदेश के स्थान पर दक्षिण के नासिक प्रान्त को घटनास्थल बनाकर हिन्दी के राष्ट्रभाषा पद की सूचना दे दी है। कथा सर्वत: काल्पनिक है। पिडारियो के वर्णन से ही कथा के ऐतिहासिक काल पर कुछ प्रकाश पड सकता है। ऐतिहासिक वायुमण्डल से स्वतत्र होने के कारण ही इसे सामाजिक उपन्यास के वर्ग मे स्थान मिला।

सख्या की दृष्टि से उपन्यास मे 6 पात्र है—तीन ब्राह्मण और तीन डाकू, परन्तु विनायक और सरदार के अतिरिक्त शेष चार पात्रो का कोई विशेष चित्रण नही किया गया है। विट्ठलराव और उनकी पत्नी राधाबाई आदर्श ब्राह्मण दम्पत्ति है, ''ये दोनो पति-पत्नी एक मन दो तन होते हुए 'मम व्रते ये हृदय दधामि मम चित्त मनुचित तेस्तु' पाणिग्रहण के समय की इस ऋचा को चरितार्थ कर रहे थे।'' [2] इसी प्रकार दोनो डाकू सामान्य साहसिक[3] है : 'दया और प्यार अथवा मित्र भाव तो उनसे कोसो दूर थे और यही मन मे थी कि वे दोनो साक्षात् वृतान्त के सहोदर भाई है अथवा पिण्डीभूत क्रूरता और निठुराई के अशावतार है।' विनायक और सरदार दोनो का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक है। लेखकीय दृष्टि में विनायक मुख्य पात्र है, उपन्यास का नामकरण उसी के आधार पर है, उसका भोला-भाला जीवन भी विशेष अंकन का विषय है एव आद्यन्त वह उपन्यास मे व्याप्त है। सरदार का व्यक्तित्त्व दुर्बल है, उसके अच्छे सस्कार थे, परिस्थितियो ने उससे कुकर्म कराये, सुसंगति पाकर फिर उसके सुसस्कार जागे।

'नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास कथा प्रधान होने के कारण अद्भुत वर्णनात्मकता लिये हुए है, परन्तु कथोपकथन अपेक्षाकृत कम है। लेखक ने कानन और यज्ञोपवीत-समापवर्तन का बडा भावनामय चित्र अंकित किया है। भट्टजी की भाषा न तो सस्कृतनिष्ठ है और न हिन्दुस्तानी। वैसवाडी का प्रभाव पूर्वकालिक क्रिया 'जाय कह देगी', 'खिलौने को पाय', 'दै-दिवाय बिदा किया', 'पाव की आहट पाय' आदि मे और 'राजी न हुआ चाहते थे', 'आया ही चाहता था' आदि क्रियाओ में स्पष्ट है। खुशामदी, अपव्ययी, देश-दशा से उदासीन लोगो पर व्यग्य कस कर भट्ट जी ने भारतेन्दु-परम्परा का निर्वाह किया है। दूसरे परिच्छेद मे वे लिखते है कि 'जहॉ एकता है वहॉ यह कब सभव है कि कोई बाहरी आकर अपना प्रभुत्व जमा सके।' आर्य समाज और सनातन धर्म के झगडे को न उठाकर लेखक महोदय ने ब्राह्मणत्व का प्राचीन आदर्श नूतन ब्रह्मचारियो के सम्मुख रखा है।

'नूतन ब्रह्मचारी' के पाठक सुकुमारमति छात्र-छात्राऍ है, परन्तु 'सौ अजान और एक सुजान' के पाठक युवक वर्ग है। प्रथम उपन्यास मे लेखक की शैली बालोपयोगी, सरल एवं उपदेशमयी है, परन्तु इस उपन्यास मे साहित्यिक छटा, नीति के

---

1 नूतन ब्रह्मचारी की भूमिका से

2 दूसरा परिच्छेद, पृष्ठ 23

3 पहला परिच्छेद, पृष्ठ 18

वचन, वर्णन की रम्यता, एव कलात्मक सौन्दर्य पाठको की प्रौढता का सकेत देती है। 'सौ अजान और एक सुजान' पर परीक्षा गुरु का प्रभाव दिखाई पडता है। उपन्यास मे भिन्न घटना प्रसग है, लेकिन उसका लक्ष्य और ढॉचा वही है। इसमे भी प० चन्द्रशेखर नामक एक सदाचारी और विद्वान अध्यापक हैं जो सेठ हीराचद के पुत्र रूपचन्द के असामयिक निधन के बाद उसके कुसगत और दुर्गुणो मे फॅसे पुत्रो को सुमार्ग पर लाता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भट्ट जी को सफलता कम मिली। इस उपन्यास मे यह भी स्पष्ट नही है कि नायक पद किसको मिले। 'इसके पात्र वर्ग प्रतिनिधि एव गुण दोषो की मूर्ति होने पर भी गहरे रगो से अंकित नही किये गये है। उनकी रूपरेखा तो लेखक ने खीच दी है परन्तु रग पाठक की कल्पना पर छोड दिया गया है, इसलिए दूर से उनका रूप धुधला दिखलाई पडता है। कई बार पाठक की मसि बाहर फैलकर दूसरे पात्र पर भी कुछ धब्बे डाल देती है। चरित्र के विकास का तो प्रश्न ही नही आता।'[1] नूतन ब्रह्मचारी के समान इसमे भी कथोपकथन विरल है। भाषा सामान्यत: वैसवाडी प्रभाव से अकित व्यावहारिक खडी बोली है। बुद्धू पाडे अफीम के झोक मे ऊँघता हुआ पूर्वी भाषा ही बोलता है। मुसलमान चरित्रो के पास बैठकर लेखक-महोदय उर्दू-फारसी के शब्दो का प्रयोग कर लेते है। अग्रेजी एव सस्कृत के शब्द भी यत्र-तत्र दिखाई देते है।

श्रीनिवास दास का 'परीक्षागुरु' अपनी भाषा मे नई चाल की पुस्तक थी। भट्टजी के उपन्यास उस वर्ग मे नही है। 'निश्चय ही इनका कथानक कल्पित, समकालीन और यथार्थ है, फिर भी लेखक का कवित्व उपन्यास कला पर हावी हो गया है।'[2] 'ये दोनो ही वर्णन-प्रधान उपन्यास है और किसी भी कलात्मक उपलब्धि की अपेक्षा काफी स्थूल ढग से चरित्र-निर्माण को ही अपना लक्ष्य मानकर चलते है।'[3]

वस्तु विन्यास की दृष्टि से मेहता लज्जाराम शर्मा वैचारिक स्तर पर सनातन हिन्दू दृष्टि के समर्थक उपन्यासकार है, जो समाज मे तीव्र गति से विकसित अंग्रेजी सभ्यता और शिक्षा के दुष्प्रभावो को अकित करके भारतीय सस्कृति और सस्कारो को प्रतिपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते है। उनकी धारणा है—

> ''जिन सुलेखको को अपने उपन्यासों की रोचकता का अधिक गर्व है वे यदि ऐयारी, तिलस्मी और जासूसी रचना के साथ-साथ इस ओर ढल पडे तो मेरी समझ मे हिन्दू समाज का अधिक उपकार कर सकते है, क्योकि लोगो ने ऐसे-ऐसे उपन्यासो की रचना द्वारा पाठको की अरुचि छुटाकर पोथियॉ पढने का चटरस उनके मन मे पैदा कर दिया है।''[4]

मेहता जी मनोरजन को साहित्य का सर्वोपरि प्रयोजन स्वीकार नही करते, अत: वे घटनावैचित्र्य की मोहिनी से भी प्रसन्न नही है। उनका विचार था कि 'हर्ष से कहा जा सकता है कि अब हिन्दी लेखको की इस ओर प्रवृत्ति हुई है। अब चोरी और डकैती का जमाना चला गया। सौभाग्य है।'[5] स्पष्ट है कि 'घटना' को उपन्यास के तत्त्व के रूप मे स्वीकार करते हुए भी मेहता जी

---

1 प्रेमचन्द्र पूर्व हिन्दी उपन्यास —के० प्रकाश, पृष्ठ 112
2 प्रेमचन्द्र पूर्व हिन्दी उपन्यास —के० प्रकाश, पृष्ठ 113
3 हिन्दी उपन्यास का विकास —मधुरेश
4 'बिगडे का सुधार अथवा सती सुखदेव', भूमिका से
5 'विपित्ति की कसौटी', भूमिका से

ने, अपने समकालीन उपन्यासकारो के समान, उसे अधिक महत्त्व नही दिया। इस युग के वे पहले उपन्यासकार है, जिन्होने घटना से उबरकर चरित्र-निर्माण की ओर सकेत किया—

''इसमे नित्य की अनेक घटनाओ का एक ही मनुष्य के चरित्र मे सग्रह किया गया है।''[1]

प्रेमचन्द युग मे आकर चरित्र को जो इतना महत्त्व प्राप्त हुआ तथा प्रेमचन्द ने उपन्यास को 'मानव चरित्र का चित्र' की सज्ञा दी—उस विचारधारा का अस्पष्ट एव क्षीण मूल मेहता लज्जाराम शर्मा की विचारधारा मे प्राप्त होता है। कथोपकथन मे वे चरित्रानुसार भाषा के प्रयोग के समर्थक है, ''आजकल उर्दू राजभाषा है और यही मुसलमानो मे बोली जाती है, इस कारण राजकर्मचारियो और मुसलमान पात्रो की भाषा उर्दू रखी गई है।''[2]

मेहता लज्जाराम शर्मा ने अनेक उपन्यास लिखे है।' धूर्त रसिकलाल मे रसिकलाल नामक एक धूर्त व्यक्ति के मित्रघात और विश्वासघात की कहानी है। 'स्वतत्र रमा और परतत्र लक्ष्मी' रमा और लक्ष्मी नामक दो बहनो को आमने-सामने रखकर पश्चिमी और भारतीय जीवन पद्धतियो की तुलनात्मक समीक्षा मे प्रवृत्त होता है। 'आदर्श दम्पत्ति' मे वे स्त्री की सामाजिक असुरक्षा को अकित करते है। 'सुशीला विधवा' मे भारतीय समाज मे विधवा की दयनीय स्थिति का चित्रण है, जिसे चाहते हुए भी पुनर्विवाह का अधिकार नही है। 'बिगडे का सुधार अथवा सती सुखदेवी' भी अपने नाम के अनुरूप अग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवक बनमाली के बहुविध स्खलन और नैतिक विचलन को केन्द्र मे रखकर अन्तत· अपनी पतिब्रता पत्नी द्वारा उसके सुधार की कहानी है। 'आदर्श हिन्दू' मेहता जी का सबसे वृहत्काय और प्रतिनिधि उपन्यास कहा जा सकता है। 'उन्होने 'आपबीती' शीर्षक से अपनी जीवनी लिखी थी। यदि उसके साथ इसे रखकर देखे तो यह उनका आत्मकथात्मक उपन्यास दिखाई देता है। इसे उन्होने अपनी पत्नी प्रेमकुँवरि के देहावसान के पश्चात् आबू प्रवास काल मे लिखा था। इन्होने इस उपन्यास के कथानायक पडित प्रियानाथ से अपने को तथा कथानायिका प्रियवदा को अपनी पत्नी से तदाकार कर दिया था। उपन्यास का आरम्भ आबू मे पंडित प्रियानाथ और प्रियवदा के प्रेम-सम्भाषण से किया गया है। अपनी ही भाँति प्रियानाथ और प्रियवदा को सतानविहीन चित्रित किया है। अपनी इच्छापूर्ति के रूप मे दिखाया है कि प्रियवदा अत मे एक महात्मा के आशीर्वाद से पुत्रवती हो जाती है।

अपने पूर्ववर्ती अन्य उपन्यासो की अपेक्षा इसमे अधिक कथा प्रवाह है। 'इसे उन्होने स्वात·सुखाय आत्माभिव्यक्ति के रूप मे लिखा है। मुख्य पात्रो मे अपनी आत्मा उडेल दी है और चरित्रो को जीवत बना देने के बाद उनकी लेखनी जिस रीति से प्रवाहित होती रही उसी रीति से लिखते गये। इससे उनके इस उपन्यास की कथा मे एक अकृत्रिम प्रवाह आ गया है। उनके अन्य उपन्यासो की भॉति इसकी कथा मे भी कल्पना का मेल अवश्य है, और ऐसा प्रतीत होता है कि इसके बहुत से पात्र लेखक के देखे-सुने चरित्रो के आधार पर गढे गये है।'[3]

उपन्यास की कथा की बुनावट एक यात्रा वृत्तान्त के रूप मे है। इसमे एक आचारनिष्ठ, धर्मनिष्ठ, दृढ सनातन धर्मी आस्तिक सयुक्त हिन्दू परिवार के पारिवारिक जीवन का अतरग चित्रण है। कुटुम्ब मे दो भाई प्रियानाथ (एम० ए०) तथा

---

1 'धूर्त रसिक लाल' भूमिका से

2 वही

3 प्रेमचन्द्र पूर्व के हिन्दी उपन्यास, —ज्ञानचद जैन, पृष्ठ 228

कातानाथ (बी०ए०) और दोनो की स्त्रियाँ है। प्रियानाथ की पत्नी 'प्रियवदा' का चरित्र मन को छूने वाला है। पति-पत्नी का लोचनो की भाषा मे एक-दूसरे से बातचीत करना अथवा दोनो का अपने हृदयगत भावो को मानसिक टेलीफोन के द्वारा एक-दूसरे तक पहुँचा देना—जैसे वर्णन जहाँ उपन्यास लेखक की मानव-चरित्र की सूक्ष्मनिरीक्षण शक्ति का परिचय देते है, वही यह भी प्रकट करते है कि इस उपन्यास के चरित्रो का सृजन करते समय उनकी कलम अपनी जीवन-स्मृतियो मे आकठ डूबी थी।' अपने छोटे भाई कातानाथ की कर्कशा पत्नी 'सुखदा' का चित्रण प्रियवदा के चरित्र को और पैना तथा तत्कालीन हिन्दू परिवारो के घरो का यथार्थ बिम्ब प्रस्तुत करने के लिए किया था।

उपन्यास मे लगभग एक दर्जन ऐसे चरित्र है, जो मन पर छा जाते है। इसमे सबसे स्मरणीय चरित्र बूढे काछी भगवानदास का है। लेखक ने उसके रूप मे उस काल के ग्रामीण समाज का एक सजीव चित्र खडा कर दिया है। उपन्यास मे दिखाया गया है कि भगवानदास शूद्र होने पर भी अपने गाँव के ब्राह्मणो, राजपूतो, वैश्यो सबका 'बाबा' था। इस काल का हिन्दू समाज छुआछूत, ऊँची-नीची सैकडो जातियो मे बटे होने, उनमे आपस मे खान-पान और रोटी-बेटी का व्यवहार न होने पर भी, एकता के सूत्र मे बँधा था जो धार्मिक-सामाजिक कार्यो एव जातीय त्योहारो मे प्रकट होती थी। उपन्यास मे यह भी चित्रित किया गया है कि उस काल के हिन्दू तीर्थ ठगो, उठाईगारो, जेबकतरो, गाय के पाँचवाँ पैर लगाकर नदिकेश्वर के नाम से पुजापा चढाने वाले धूर्तो, धर्मवचको, नराधम साधुओ, श्रद्धालु तीर्थयात्रियो की लूट-खसोट करने वले निरक्षर लठाधिराज, पडे-पुजारियो तथा तीर्थ गुरुओ के अड्डे बन गये थे। इन तीर्थो मे भिखारियो तथा कोढियो की भारी भीड़ देश की दुर्दशा का सच्चा चित्र प्रस्तुत करती थी।

पुस्तक की भाषा गम्भीर, सरल, किन्तु तत्सम शब्दों से युक्त है। यह बात पूरी तरह सच है कि उपन्यास का शिल्प पक्ष लेखक का सबल पक्ष नही है। 'उपन्यास कला की दृष्टि से 'आदर्श हिन्दू' उपन्यास का विशेष महत्त्व नही है, परन्तु समकालीन धार्मिक जीवन का जैसा घटना शून्य विस्तृत वर्णन इस उपन्यास मे है वैसा हिन्दी के किसी अन्य उपन्यास मे नही।'[1] प्रेमचन्द के उपन्यासो की जो कडी राधाकृष्णदास अथवा श्रीनिवास दास के प्रथम उपन्यास से जोडी जा सकती है, उसके सूत्र मेहता लज्जाराम के उपन्यास से भी जुडे है। प्रेमचन्द ने जहाँ एक ओर देवकीनदन खत्री और किशोरी लाल गोस्वामी के पाठको को अपना पाठक बनाया वही दूसरी ओर लज्जाराम मेहताके उपन्यासों की पाठिकाओ को भी अपना पाठक बनाया।

किशोरीलाल गोस्वामी भी वैचारिक स्तर पर सनातन हिन्दू धर्म के समर्थक रचनाकार है। यह सनातन धर्म गोस्वामी जी मे तीन रूपो मे दिखाई देता है—आस्था, खडन का विरोध और सुधारो की स्वीकृति। गोस्वामी जी ने 65 उपन्यास लिखे, जिनकी प्रामाणिक सूची रामनरेश त्रिपाठी सम्पादित 'कविता कौमुदी' मे उपलब्ध है। शिवपूजन सहाय के शब्दो वे वह 'धक्कड़ लिक्खाड' थे। उन्होने अपने उपन्यासो की रचना मुख्यत: पाठकीय रुचि को ध्यान मे रखकर की। उनके समय मे तिलिस्मी ऐयारी, जासूसी, ऐतिहासिक तथा घटनावैचित्र्य प्रधान सामाजिक उपन्यास की बड़ी माँग थी। उन्होंने सभी प्रकार के उपन्यासो की रचना की। 1889 के आसपास उन्होंने सत्य घटना समन्वित 'कुसुमकुमारी वा स्वर्गीय कुसुम' की रचना कर सामाजिक उपन्यासो के लेखन मे एक नया प्रयोग किया।

---

1 प्रेमचन्द्र पूर्व हिन्दी उपन्यास, —के० प्रकाश, पृष्ठ 154,

'कुसुमकुमारी' प्रेमचन्द के सेवासदन से तीन दशक पहले लिखा गया हिन्दी का पहला उपन्यास था, जिसमे वेश्या जीवन की त्रासदी को एक मार्मिक कथा के माध्यम से उभाडा गया है। यह हिन्दी का ही नही, भारतीय भाषा का पहला उपन्यास था जिसमे समाज की दूषित देवदासी प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई गई थी। उसे समाज की सत्यानासिनी प्रथा बताकर बद करने की मॉग की गई थी। जिस जगन्नाथी पडे ने कुसुमकुमारी को बचपन मे पाला था, उसके मुँह से कहलाया गया था—"अब इस घोर कालिकाल मे यह सत्यानासिनी प्रथा बद हो जाये तो अच्छा है, क्योकि धर्म की व्यवस्था देश, काल और पात्र के अनुसार ही की जाती है, इसीलिए शास्त्रो मे प्रत्येक युग मे धर्म की भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ की गयी है।" कुसुमकुमारी भी जब अपने पिता राजा कर्ण सिह से मिलती है तो प्रश्न करती है—'जिस प्रथा से व्यभिचार और वेश्यावृत्ति की दिन दूनी और रात चौगुनी बढवार हुई जा रही है, उस प्रथा को धर्म का अग मानना—यह कैसा विचार है?' और राजा कर्ण सिह देवदासी प्रथा का नाम-निशान मिटा देने की प्रतिज्ञा करते है।

लेखक ने उपन्यास के केन्द्रीय चरित्र—कुसुमकुमारी के चरित्र-चित्रण मे तो सधी हुई कलम का परिचय दिया ही है, अन्य छोटे-बडे पात्रो—बसंत कुमार, राजा कर्ण सिह, कुसुमकुमारी की सहोदरा गुलाबदेई, चुन्नी रडी, झगरु सपरदाई आदि का चरित्र-चित्रण भी बडे सजीव ढग से किया है। उपन्यास शिल्पगत प्रयोग की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। उसमे वर्णनात्मक शैली और आत्मकथात्मक शैली दोनो का मिश्रण है। कथा का प्रस्तावना भाग, जिसमे हरिहर क्षेत्र के मेले में सन् 1840 मे घटने वाली नौका दुर्घटना का वर्णन है जिसके फलस्वरूप कुसुमकुमारी और बसंतकुमार का प्रथम मिलन हुआ, वर्णनात्मक शैली मे है। इसके बाद की कथा आत्मकथात्मक शैली मे है और बारी-बारी से उपन्यास के तीनो मुख्य पात्रो—कुसुमकुमारी, बसतकुमार तथा भैरो सिह के मुख से वर्णित कराई गई है।

किशोरी लाल गोस्वामी का दूसरा सत्य घटनामूलक उपन्यास 'माधवी-माधव वा मदन-मोहिनी' है, जो 20वी शती के प्रथम दशक मे उस समय आया जब वे हिन्दी उपन्यास जगत मे खत्री जी के ही समान लोकप्रिय हो गये थे। इस उपन्यास के मुख्य शीर्षक तथा उपशीर्षक से ऐसा लगता था कि इसमे मुख्य रूपसे दो प्रेम कथाओ—माधव प्रसाद और माधवी तथा मदन मोहन और मदनमोहनी की प्रणयकथा—का वर्णन था, किन्तु उपन्यास का मुख्य कथा रस इन दो प्रणय कथाओ के साथ ही तत्कालीन परम धर्मिष्ठ और निष्ठावान मध्यवर्गीय हिन्दू परिवार के अत:पुर मे होने वाले पापाचार के भडाफोड पर केन्द्रित था। उपन्यास मे 20वी सदी के प्रथम दशक मे हिन्दू समाज की का चित्र भी दिखाई देता है। लेखक ने एक जगह कथानायक के मुँह से कहलाया है—'अभी हिन्दू समाज की उन्नति के दिन नहीं आये है और उसके आने मे अभी देरी बहुत है, क्योकि जब तक भली भॉति विद्या का प्रचार न होगा, तब तक अविद्या राक्षसी का नाश होने का नही।'
उपन्यास आत्मकथात्मक शैली मे लिखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कथानायक के मुँह से व्यक्त कराये गये विचारो से लेखक की पूर्ण सहानुभूति है।

किशोरी लाल गोस्वामी के तीसरे सत्य घटना मूलक उपन्यास 'अंगूठी का नगीना' की कहानी केवल सच्ची ही नही थी, उसमे वर्णित पात्रों के नाम भी सही-सही दिये गये थे। केवल जिले और गॉव के नाम कल्पित रख दिये गये थे। यह एक शुद्ध प्रेमकथा है। कथानायक मदनमोहन गॉव के प्रधान जमीदार का, जो उस काल के समाज मे गॉव का राजा ही नही, अपनी प्रजा का मॉ-बाप होता था, इकलौता पुत्र है। कथानायिका लक्खी उसकी एक गरीब प्रजा, एक सजातीय विधवा ब्राह्मणी की रूपवती, गुणवती विवाह योग्य इकलौती कन्या है। किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने इस उपन्यास मे भी अन्य उपन्यासो की

तरह ही वर्णनात्मक और आत्मकथात्मक शैली का प्रयोग किया है। आरम्भ मे अद्भुत नाटकीयता के बीच नायक–नायिका के बीच प्रेम का उदय होता है। उपन्यास मे दो दर्जन से अधिक छोटे–बडे पात्र है जो तत्कालीन सामती समाज के विविध स्तरो का प्रतिनिधित्व करते है। सभी पात्रों की रचना मे गोस्वामी जी ने जीवतता का परिचय दिया है। उपन्यास के सबसे स्मरणीय चरित्रो मे कथा नायिका के स्वर्गीय पिता प० कृष्ण गोविन्द शर्मा का चरित्र है, जो बाल कृष्ण भट्ट के 'सौ अजान और एक सुजान' के शिरोमणि मिश्र का अहसास करा देता है। 'लखनऊ की कब्र' की भॉति अपने इस उपन्यास मे किस्सागोई तथा दास्तानगोई के फन मे अपनी उत्कृष्टता का परिचय दिया है। उनके अन्य उपन्यासो की तरह ही इसकी कथावस्तु के गठन मे भी घटना–वैचित्र्य तथा कौतूहल तत्त्व की प्रधानता है। वह पाठक की कौतूहलवृत्ति जाग्रत रखने के लिए रहस्यात्मकता का पुट उत्तरोत्तर गाढा करते जाते है। कथा वर्णन मे प्रधान उद्देश्य यह रहता है कि पाठको की उत्सुकता उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त होती रहे और जब रहस्योद्घाटन करे तो पाठक चकित, मोहित और पुलकित हो जाये। उपन्यासकार की महत्त्वपूर्ण सफलता यह है कि एक से एक चकित कर देने वाली घटनाये कही भी अस्वाभाविकता लिये हुए नही है क्योकि उनका उद्गम उस काल के सामाजिक विश्वासो मे दिखाया गया है।

इसके अतिरिक्त 'त्रिवेणी वा सौभाग्यश्रेणी', 'लीलावती वा आदर्श सती', 'राजकुमारी', 'चपला वा नव्य समाज चित्र', 'पुनर्जन्म वा सौतियादाह' भी उनके सामाजिक उपन्यास है। इन सभी सामाजिक उपन्यासो की कला–विषयक एक विशेषता यह है कि उनमे से अधिकतर उपन्यासों की 'कहानी बिल्कुल सच्ची है और इसमे वर्णित पात्रो के नाम भी सही–सही है। केवल जिले और गॉव के नाम कल्पित है।'[1] अंग्रेजी उपन्यासकार डेफो के समान सच्चाई की शपथ से उपन्यास अधिक आकर्षक एव रोचक बन जाया करते थे। दूसरी विशेषता यह है कि इनके कथानक अभिजात हिन्दू परिवार से आये है, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सम्पन्न परिवारों की सामान्य समस्याऍ इनका विषय बनी है। 'ये उपन्यास युवावस्था के जीवन का चित्रण करते है, इसलिए इनमे स्त्री और पुरुष पात्रो की संख्या बराबर है और स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध पर ही किसी न किसी रूप में प्रकाश डाला गया है। नायिकाऍ सुन्दरी तथा गुणवती है और पुरुष धार्मिक एव सरल। लेखक ने नायकों को भाग्यापेक्षी बनाकर उनके व्यक्तित्त्व का विकास नही होने दिया, वे देवायत्त घटनाओ के अनुचर बनकर अपना 'पार्ट' निबाह रहे है।'[2] इन उपन्यासो की महत्त्वपूर्ण विशेषता उनका सुखान्त होना है जो दम्पत्ति–जीवन प्रणय से प्रारम्भ होकर वात्सल्य तक चित्रित किया गया है। सभी उपन्यासो मे 'धर्म की जय और पाप की पराजय' का भाव समाहित है। 'काम का फल मनुष्य को अवश्य मिलता है, कर्म अच्छे हुए तो विरोधी असफल हो जाते हैं, जिनकी कोई आशा शेष नही थी वे मिल जाते हैं (त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी)। कर्म बुरे हुए तो आदमी गल–गलकर बुरी तरह से पानी के लिए तडप–तडप कर मर जाता है। (चपला व नव्य समाज चित्त)

गोस्वामी जी के अधिकतर सामाजिक उपन्यासों के नाम नायिका के नाम पर है एवं दो–दो नाम हैं, जो 'वा' से जोडकर साथ–साथ लिखे जाते हैं। इन दो नामो मे से एक तो कथानक मे वर्णित व्यक्ति (प्रायः नायिका) की सज्ञा है, जैसे लवंगलता गुलबहार और चपला, और दूसरा उस कथानक का वर्ण्य गुण या उद्देश्य है जैसे 'आदर्श बाला', 'आदर्श भ्रातृस्नेह' और 'नव्य समाज चित्र'। अधिकतर उपन्यासों के कई–कई भाग हैं, और प्रत्येक भाग मे पूर्व–वर्णित वृत्त एव आगामी कथा का

---

1 'अगूठी का नगीना, भूमिका

2 प्रेमचन्द्र पूर्व हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ 126

सकेत फुटनोट में यथास्थान प्रसगपूर्वक लिख दिया गया है, जिससे पाठक को स्वय सोचने के लिए अधिक मानसिक व्यायाम न करना पडे साथ ही अन्य भागो को पढने के लिए भी वह उत्सुक हो।

इस परम्परागत सनातन हिन्दू दृष्टि से भिन्न साम्प्रदायिक सद्भाव की दृष्टि से राधाकृष्णदास का 'नि:सहाय हिन्दू' इस समय की महत्त्वपूर्ण औपन्यासिक कृति है। इस रचना मे गोवध की समस्या केन्द्र मे है, लेकिन इसका महत्त्वपूर्ण आयाम यह है कि यह किसी रूढ हिन्दू या धार्मिक दृष्टि के उत्साहपूर्ण समर्थन से मुक्त है।

स्पष्ट है कि हिन्दी उपन्यास का यह विकासकाल गहरे नैतिक आग्रहो एव दबावों का काल है। इसलिए ऐसा लगता है कि प्रेम को उपन्यास के लिए लगभग एक वर्जित क्षेत्र माना जाता था। युवा मानसिकता को दीक्षित करके सस्कारो का निर्माण ही इस काल के सामाजिक उपन्यासो का एकमात्र लक्ष्य था। ऐसी स्थिति मे ठाकुर जगमोहन सिह का 'श्यामा स्वप्न', ब्रजनदन सहाय के 'राजेन्द्र मालती' और 'सौन्दर्योपासक' तथा अयोध्या सिह उपाध्याय हरिऔध के 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' आदि इस वर्जित क्षेत्र मे प्रवेश के आरम्भिक महत्त्वपूर्ण प्रयास है।

ठाकुर जगमोहन सिह का 'श्यामा-स्वप्न' श्याम सुन्दर नामक क्षत्रिय युवक और श्यामा नामक एक ब्राह्मण लडकी के प्रेम को केन्द्र मे रखकर विकसित होता है। पडोस का साहचर्य भाव ही अनजाने ही उनके मन मे प्रेम बनकर समा जाता है। छोटी-बडी बाधाओ के बीच, श्यामा की छोटी बहन की मध्यस्थता और सहयोग से यह प्रेम काफी दूर तक जा पहुँचता है। प्रगाढ प्रेमानुभूति और सामाजिक रूढियों का द्वन्द्व उपन्यास में गहरी करुणा के साथ अंकित है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है,

> '' अपने हृदय पर अकित भारतीय ग्राम्यजीवन के माधुर्य का जो संस्कार ठाकुर साहब ने अपने 'श्याम-स्वप्न' मे व्यक्त किया है उसकी सरसता निराली है। बाबू हरिश्चन्द्र, पण्डित प्रताप नारायण आदि कवियो और लेखको की दृष्टि और हृदय की पहुँच मानव-क्षेत्र तक ही थी, प्रकृति के अपार क्षेत्रो तक नहीं। पर ठाकुर जगमोहन सिह जी ने नर क्षेत्र के सौन्दर्य को प्रकृति के और क्षेत्रो के सौन्दर्य के मेल मे देखा है। प्राचीन सस्कृत साहित्य के रुचि सस्कार के साथ भारत-भूमि की प्यारी रूपरेखा को मन में बसाने वाले पहले हिन्दी लेखक थे ।''

'श्यामा-स्वप्न' की ही परम्परा मे ब्रजनदन सहाय का 'सौन्दर्योपासक' अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ दृष्टि का सूचक है। इसका नायक अपने ही विवाह के समय अपनी साली के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उससे प्रेम करने लगता है। प्रेम की इस असफलता की गहरी कसक को लेखक गहरी सवेदना के साथ अकित कर सका है। दोनो ही प्रेमी अपने-अपने ढग से इस पीड़ा को झेलते-भुगतते है। सौन्दर्योपासक की पत्नी भी इस दु:खद व्यापार मे शामिल हो जाती है। साली और पत्नी दोनो ही अकाल मृत्यु को प्राप्त करते है और अन्त में शोक मनाने के लिए सौन्दर्योपासक कथानायक बचा रहता है। प्रेम की सूक्ष्म तरंगो और संसार की कटुता के प्रति नायक की हार्दिक और भावावेगपूर्ण प्रतिक्रियाओं में ही उपन्यास विकसित होता है।

'ठेठ हिन्दी का ठाठ' उपन्यास भी अपनी अद्‌भुत प्रेमकहानी के कारण उल्लेख्य है। देवबाला नामक किशोरी के देवनंदन नामक किशोर से हुए प्रेमानुभव के रूप में ही कहानी का ताना-बाना बुना गया है। उदात्त एवं आदर्श प्रेम के बलिदानपूर्ण समापन को लेखक ने करुणा के साथ अकित किया है। इसी प्रकार हरिऔध जी के दूसरे उपन्यास 'अधखिला फूल' मे भी एक हिन्दू स्त्री के आदर्श रूप को प्रस्तुत करते हुए सामाजिक अधविश्वासो की आलोचना की गयी है।

इन समस्त उपन्यासो का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है, किन्तु इनमे समाज के बुनियादी सत्यो की पकड नही है। इसलिए ये उपन्यास यथार्थ की सश्लिष्टता और चरित्रो की मनोवैज्ञानिक गहनता से अछूते है। नैतिकतामूलक उपदेशवादिता उपन्यास के वस्तु-विन्यास को कमजोर करती है।

(ख) ऐतिहासिक—इस युग मे ऐतिहासिक कथानक पर उपन्यास बहुत कम लिखे गये। इस दृष्टि से किशोरी लाल गोस्वामी उल्लेख्य है। अपने ऐतिहासिक उपन्यासो के सम्बन्ध मे अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है—

> ''इस उपन्यास मे हमने कही कही पर इतिहास के साथ विरोध किया है . जैसे जहाँदारशाह को उस वक्त, जब वह दिल्ली के तख्त पर बैठा था, लावल्द लिखा है, और ऐसी ही और भी कई बारीक-बारीक बाते है, पर ऐसा हमने क्यो किया, इसका सबब वे मर्मज्ञ पाठक जरूर समझ जायेगे, जो उपन्यास के जजाल से वाकिफ है,''[1]

'उपन्यास का जजाल' स्पष्टत: इस तथ्य की ओर सकेत करता है कि उपन्यास का आधार चाहे इतिहास ही क्यो न हो, उसे उसी रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसमें औपन्यासिक तत्त्व अनिवार्य है और इसी औपन्यासिकता को ही उन्होने 'उपन्यास के जंजाल' की सज्ञा दी है। औपन्यासिकता तथ्य को उपन्यास से पृथक करने वाला वह गुण है, जिसका प्रयोग उपन्यास लेखक कथानक निर्माण मे करता है। अत: यह स्पष्ट है कि किशोरी लाल गोस्वामी उपन्यास मे कथा की स्वीकृति तो देते ही है, उसमे उपन्यासकार की कल्पना का प्रयोग कर उसके उपन्यास योग्य कथानक निर्माण को भी मान्यता प्रदान करते है। इसे उन्होने स्वय ही स्वीकार किया है—

> ''जैसे 'इतिहास की मूल भित्ति सत्य है', वैसे ही 'उपन्यास की मूल भित्ति कल्पना है। सत्य घटना बिना जैसे इतिहास इतिहास नही, वैसे ही 'योग्य कल्पना' बिना उपन्यास भी उपन्यास नही कहला सकता। इतिहास मे जैसे 'वास्तविक घटना' बिना काम नही चलता, वैसे ही उपन्यास मे भी कल्पना का आश्रय लिये बिना प्रबन्ध नही लिखा जा सकता है।''[2]

स्पष्ट है कि किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यास मे कल्पना की विशिष्ट स्थिति है। उन्होने लिखा है—

> ''इसलिए हमने अपने बनाये उपन्यासो मे ऐतिहासिक घटना को 'गौण' और कल्पना को मुख्य रखा है, और कही-कही तो कल्पना के आगे इतिहास को दूर से ही नमस्कार कर दिया है। इसलिए हमारे उपन्यास के प्रेमी पाठक हमारे अभिप्राय को भली भॉति समझ ले कि यह उपन्यास है, इतिहास नही। यहॉ कल्पना का राज्य है, यथेष्ट लिखित इतिहास का नहीं और इसमें आर्यो के यथार्थ गौरव का गुण-कीर्तन है, कुछ मुसलमान इतिहास लेखको की भॉति स्वजातीय पक्षपात नही है।''[3]

इतिहास के प्रति उनकी यह सुविधाजनक दृष्टि पूरी समकालीन प्रवृत्ति की द्योतक है। उन्होने अपने उपन्यासो के लिए इतिहास का जो कालखण्ड चुना है, वह मुख्यत: मुस्लिम और राजपूत काल से सम्बद्ध है, किन्तु उन्होने ऐतिहासिक घटनाओ की व्याख्या 'हिन्दू दृष्टिकोण' से अधिक की है जिसमें यत्र-तत्र मुसलमानो से बदला लेने की उनकी इच्छा और प्रवृत्ति को

---

1 लाल कुॅवर वा शाही रगमहल, ऐतिहासिक भूमिका, पृष्ठ 15-16

2 'तारा वा क्षत्र कुल कमलिनी, निवेदन, पृष्ठ 'क'

3 वही, पृष्ठ ग

भी देखा जा सकता है। वे राजपूती शौर्य एव स्त्री की गरिमा को मुसलमानो के अत्याचारों एव नृशसता के विरोध मे खडा करते है। उनके प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासो मे 'प्रणयिनी-परिणय,' 'हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी', 'लवगलता वा आदर्श बाला', 'तारा वा क्षत्रकुल कमलिनी', 'सुलताना रजिया बेगम वा रगमहल मे हलाहल', 'सोना और सुगन्ध वा पन्नाबाई', 'लखनऊ का कब्र वा शाही महलसरा' आदि उल्लेखनीय है। इन उपन्यासो मे अभिप्रेत काल के समाज का यथार्थ बोध नही प्राप्त होता। डॉ० रामदरश मिश्र के शब्द है—

> ''इसमे उस काल की जटिल सामाजिक स्थितियो, मानव मन की आकाक्षाओ, प्रश्नो, व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्धो का तो सूक्ष्म निरीक्षण नही ही प्राप्त होता, सामान्य ऐतिहासिक तथ्यो का निर्वाह भी नही लक्षित होता। कल्पना और इतिहास का समन्वय भी दृष्टिगत नही होता।''[1]

इन उपन्यासो मे रोमाचकारी घटनाओ की सृष्टि कर इन्हे जहॉ एक ओर मनोरंजक बनाया गया है, वही उपदेश का स्वर भी मुखरित है। 'तारा' उपन्यास मे रानी चन्द्रावली अपने भाई से कहती है—

> ''भारतवर्ष के भाग्य विपर्यय का प्रत्यक्ष इतिहास ऑखो के आगे नाच रहा है, तो भी स्वार्थ से अधे होकर तुमने यवनो पर अधविश्वास कर लिया है। भाई जागो और मोहनिद्रा को छोड सनातन धर्म और क्षत्रिय कुल की गौरवता पर दृष्टि डालो।''

इतिहास के प्रति गम्भीर और किसी सीमा तक वस्तुनिष्ठ दृष्टि अपनाने के कारण मेहता लज्जाराम शर्मा कृत 'जुझार तेजा' और ब्रजनदन सहाय कृत 'लालचीन', मिश्र बन्धुओं का 'वीरमणि' अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय उपन्यास है। इसके बावजूद कहा जा सकता है कि प्रेमचन्दपूर्व युग के ऐतिहासिक उपन्यास सच्चे अर्थो मे ऐतिहासिक उपन्यास नही है। लेखको की प्रवृत्ति इतिहास की ओर से हटकर प्रणय-प्रसगो, विलास-लीलाओ रहस्यमय प्रसगो तथा कौतूहलवर्द्धक घटना चक्रो की कल्पना मे लीन हो जाती है। डॉ० रामचन्द्र तिवारी लिखते है—

> ''वे कल्पना से अधिक कार्य लेते हैं, ऐतिहासिक छानबीन कम करते है। अतीत उनकी मुक्त कल्पना की उडान के लिए सुविधा प्रस्तुत करता है ओर वे इतिहास की चिता छोडकर पाठको के चित्त का रजन करने वाली कथाधारा मे बह जाते है।''[2]

घटना प्रधान शुद्ध मनोरंजक उपन्यास—वस्तु विन्यास की दृष्टि से तीसरी धारा के अन्तर्गत शुद्ध मनोरंजन को लेकर लिखे गये उपन्यास—'तिलिस्मी ऐय्यारी' एव 'जासूसी' उपन्यास आते है, जो घटनाबहुलता से ओत-प्रोत है। घटना बहुलता तो प्रेमचन्दपूर्व उपन्यास काल की महत्त्वपूर्ण पहचान है, किन्तु इस धारा के उपन्यासो की रचना घटना वैचित्र्य के लिए ही हुई। विस्मयजन्य आनन्द की सृष्टि करना ही इनका एकमात्र प्रयोजन दिखाई पडताहै। ऐसे उपन्यासो पर आघात करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था—

> ''साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नही है। यह तो मदारियो, विदूषको और मसखरो का काम है। साहित्यकार का पद इससे कही ऊँचा है। वह हमारा पथ प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममे सद्भावो का सचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है।''[1]

---

1 हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा —डॉ० रामदरश मिश्र पृष्ठ
2 हिन्दी का गद्य साहित्य —डॉ० रामचन्द्र तिवारी पृष्ठ 132
3 प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, 'उपन्यास' निबन्ध, पृष्ठ 82

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास मे लिखा है—

"इन उपन्यासो का लक्ष्य केवल घटनावैचित्र्य रहा, रस सचार, भावविभूति या चरित्र-चित्रण नही। ये वास्तव मे घटना प्रधान कथानक या किस्से हैं, जिनमे जीवन के विविध पक्षो के चित्रण का कोई प्रयत्न नही।"[1]

देवकीनदन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' एव 'चन्द्रकान्ता सन्तति' उपन्यास के नवस्फुटित यथार्थवादी रुझान के प्रति उदासीन रहकर उपन्यास की एक नवीनधारा का प्रवर्तन करता है। उसका वैचारिक आधार बहुत क्षीण है। मध्यकालीन पद्यकथाओ के ढग पर ही उसमे प्रेम सम्बन्धो के विकास को अकित किया गया है। चन्द्रकान्ता का महत्त्व एक ओर यदि उसकी असाधारण कल्पनाशक्ति मे निहित है, तो दूसरी ओर रहस्य को सुरक्षित रखने वाले कथा सगठन मे। एक अन्य उपलब्धि यह है कि तिलस्मी कहानी मे भी वे अलौकिक चमत्कार और जादू-टोने के तत्त्वो का तिरस्कार करते हैं। इस उपन्यास मे बड़ा से बडा चमत्कार मानवीय बुद्धि का परिणाम है। इसी बात को उपन्यास का एक पात्र सिद्ध नाथ बाबा कहता है—

"जो काम आदमी के या ऐयारो के लिए नही हो सकता, उसे मै भी नही कर सकता ।"[2]

उत्सुकता बढाने के लिए लेखक अपने कथासूत्र को चरम तक ले जाकर अधूरा छोड़कर फिर दूसरा सूत्र उठा लेता है। इस सन्दर्भ मे उपन्यासकार की स्मरण शक्ति आश्चर्यजनक है। यही कारण है कि तिलिस्मी उपन्यास इनके युग मे हरिकृष्ण जौहर ने 'कुसुमलता' 'भयानक भ्रम', 'नारी पिशाच', 'मयकमोहिनी या माया महल', रामलाल वर्मा ने 'पुतली महल', किशोरी लाल गोस्वामी ने 'तिलस्मी शीशमहल' आदि लिखे, लेकिन इस विधा का जैसा सम्पूर्ण विकास और दोहन देवकीनदन खत्री ने किया, दूसरा कोई लेखक उसके आसपास भी नही पहुँच सका। इन उपन्यासो मे सनातन हिन्दू आदर्शो का आग्रह बहुत स्पष्ट है। कभी-कभी तो इसे सीधे लेखकीय हस्तक्षेप के रूप मे देखा जा सकता है। इन आदर्शो का यह आग्रह समाज मे स्त्री की नियति, विवाह, यौन-शुचिता और छुआछूत से लेकर मुसलमानों के प्रति घृणा और अविश्वास के रूप मे देखा जा सकता है। 'भूतनाथ' का केन्द्रीय चरित्र राजा या कोई राजकुमार न होकर एक साधारण ऐय्यार है। यह भारतीय सामाजिक व्यवस्था मे उदित होते मध्यवर्ग का एक प्रतिनधि चरित्र है।

तिलिस्मी उपन्यास के समान ही जासूसी उपन्यासों का मुख्य लक्ष्य पाठक वर्ग का मनोरंजन था। इन उपन्यासो का मुख्य आकर्षक अपराधी की पहचान को अंत तक सुरक्षित रखते हुए पाठकों के कौतूहल को बनाये रखना था। प्रेमचन्द ने जासूसी उपन्यासो की रचना प्रक्रिया के सन्दर्भ मे लिखा है—

"जासूसी उपन्यासो के लेखक कोई घटना सोचकर एक कल्पित जासूस को उसके सुलझाने मे लगा देता है। ऐसी घटनाओ मे सर्वश्रेष्ठ गुण यह है कि उस घटना का रहस्य खोलना जाहिरा असभव प्रतीत हो, पर लेखक जब उसे खोल दे तो पाठक को आश्चर्य हो कि मुझे यह बात क्यो नही सूझी, यह तो बिल्कुल साधारण बात थी।"[3]

गोपालराम गहमरी सर्वाधिक चर्चित जासूसी उपन्यासकार है। उन्होने सैकडो की सख्या मे उपन्यास लिखे, जिसकी कथाभूमि के लिए अपने सुपरिचित स्थानो—गहमर, जमनियॉ, काशी, बम्बई आदि को ही चुनते है। इसी कारण उनके ब्यौरो

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास —पृष्ठ 273

2 चन्द्रकान्ता-2, पृष्ठ 33

3

मे स्थानीयता के कारण प्रामाणिकता और विश्वसनीयता का पुट है। अपने अगम्भीर वस्तु विन्यास के बावजूद ये अपने युग के सुधारवादी आग्रहो से मुक्त नही है। कर्मानुसार फल प्राप्ति का दर्शन इसमे भी प्रस्फुटित होता था।

पूर्व प्रेमचन्द युगीन हिन्दी उपन्यास परम्परा पर दृष्टि डाले, तो दिखाई देगा कि हिन्दी उपन्यास का जन्म सुधारवादी भावनाओ के क्रोड मे हुआ था। इस युग के प्राय. सभी उपन्यासकारो ने कमोबेश इन्ही सुधारवादी भावनाओ का चित्रण करने का प्रयत्न किया है। सुधारवादी दृष्टिकोण के अतिरिक्त इन उपन्यासो का मुख्य आधार 'मनोरजन' है, जो कही-कही 'शिक्षा' को भी अपना उद्देश्य घोषित करता है। देवकीनदन खत्री ने लिखा है "जिस प्रकार पचतत्र, हितोपदेश आदि ग्रथ बालको की शिक्षा के लिए लिखे गये उसी प्रकार यह लोगो के मनोविनोद के लिए ।"[1] किंतु उपन्यासो की जनप्रियता ने उनमे जो आत्मविश्वास उत्पन्न किया, उसने उनकी विचार धारा बदल दी। "चन्द्रकान्ता के आरम्भ के समय मुझे यह विश्वास न था कि उसका इतना अधिक प्रचार होगा, यह मनोविनोद के लिए लिखी गई थी पर पीछे लोगों का अनुराग देखकर मेरा भी अनुराग हो गया, और मैने अपने उन विचारो को जिनको मै अभी तक प्रकाश नहीं कर सका था, फैलाने के लिए इस पुस्तक को द्वार बनाया और सरल भाषा मे उन्ही मामूली बातो को लिखा जिसमे मै उस होनहार मण्डली का पात्र बन जाऊँ जिसके हाथ मे भारत का भविष्य सौपकर इस ससार से विदा होना है।"[2] इस प्रकार खत्री जी मनोरजन एव शिक्षा को साहित्य के प्रयोजन के रूप मे स्वीकार करते है। मेहता लज्जाराम शर्मा ने भी लिखा है, "उपन्यास अवश्य ही मनोरजन के लिए है, परन्तु मेरा यह सिद्धान्त है कि इसके साथ पाठक-पाठिकाओ को किसी न किसी तरह की अच्छी शिक्षा मिलनी चाहिये।"[3] ब्रजनदन सहाय, किशोरी लाल गोस्वामी, हरिऔध, बालकृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवास दास, गोपालराम गहमरी जैसे उपन्यास लेखक भी इसी दृष्टिकोण से परिचालित दिखाई देते है। मेहता लज्जाराम शर्मा शिक्षण को अधिक महत्त्व देते है—

> "जिन सुलेखको को अपने उपन्यासो की रोचकता का अधिक गर्व है वे यदि ऐयारी, तिलस्मी और जासूसी रचना के साथ-साथ इस ओर ढल पडें तो मेरी समझ मे हिन्दू समाज का अधिक उपकार कर सकते है क्योकि लोगो ने ऐसे-ऐसे उपन्यासो की रचना द्वारा पाठकों की अरुचि छुटाकर पोथियाँ पढने का चटरस उनके मन मे पैदा कर दिया है।"

अत: सुधारवादी, शिक्षण एव मनोरजन को महत्त्व देने के कारण उपन्यासकारो ने उपन्यास शिल्प को विशेष स्थान नही प्रदान किया है। लेकिन यह समझना भूल होगी कि इन प्रारम्भिक उपन्यासों का कलात्मक आधार शून्य है। प्रारम्भिक चरण होने के कारण परिपक्व दृष्टि से अछूते हैं, जो परवर्ती काल में दिखाई देता है। "इस युग के अधिकांश उपन्यासो मे शिल्प-विकास का आधार ऐसी वृत्तियाँ हैं, जिनका सामाजिक यथार्थ से कोई सम्बन्ध नही है"[4] प्रेमचन्द ने लिखा है, "उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की सृष्टि करके उसमे मनमाने तिलस्म बॉधा करते थे। कही फिसानये अजायब की दास्तान थी, कही बौस्ताने ख्याल की और कही चन्द्रकान्ता सन्तति की। इन आख्यानो का उद्देश्य केवल मनोरजन था और हमारे अद्भुत रस प्रेम की तृप्ति। साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था।"[5] उपन्यास आधुनिक युग का

---

1 चन्द्रकान्ता सन्तति, 24 वॉ भाग, पृष्ठ 85
2 चन्द्रकान्ता सन्तति, 24 वाँ भाग, पृष्ठ 85
3 'आदर्श दम्पत्ति' भूमिका
4 हिन्दी उपन्यास : उद्भव व विकास —प्रताप नारायण टण्डन
5 साहित्य का उद्देश्य —मु० प्रेमचन्द्र

प्रतिनिधि साहित्य रूप है, लेकिन हिन्दी का कथा लेखन अभी मध्यकालीन चेतना से जुडा था। 'नये युग का साहित्य रूप बनने के लिए जरूरी था कि यह केवल मन-बहलाव की वस्तु न हो, केवल नायक-नायिका के सयोग-वियोग की कहानी न सुनाये, उन प्रश्नो मे दिलचस्पी ले जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते है।'[1]

आरम्भिक चरण के ये उपन्यास दायित्व बोध और निष्ठा से भरे हुए है। वे नैतिकता का उत्थान और सास्कृतिक परम्पराओ की रक्षा करना चाहते थे। इनमे धार्मिक एव सामाजिक सुधारो का ही विशेष वर्णन किया गया है, इस दृष्टि से उनका परिवेश अवश्य ही अत्यन्त सीमित है। भावबोध के नवीन स्तर स्थापित कर उन्होने किन्हीं नये आयामो की कल्पना नही की है और न उस दिशा मे कोई प्रयास ही किया है। इन उपन्यासकारो ने यथार्थवाद के युगीन जीवन एव परिस्थितियो का चित्रण नही किया है, इसीलिए वह अपूर्ण एव सतही है। इस काल के अधिकाश उपन्यासो मे तिलिस्मी विद्या एव ऐय्यारी के हथकण्डो एव जासूसी चमत्कारो का चित्रण किया गया है। जिनमे असगतियॉ और अस्वाभाविकताएँ भरी पडी हैं। ये सभी उपन्यास अधिकाशत: घटना प्रधान है। नरेन्द्र कोहली ने किशोरी लाल गोस्वामी के सन्दर्भ मे जो लिखा है, उसे पूरे युग सन्दर्भ मे रखकर देखने की जरूरत है, ''उनके अधिकाशत: उपन्यास घटना प्रधान है, अत: कथा तत्त्व पूर्णत: स्वीकृत है। घटनाये अधिकाशत: प्रेम सम्बन्धी है अथवा नैतिक एव आर्थिक पतन विषयक। ये घटनाये चरित्र उन्मेष अथवा अन्य किसी प्रयोग की सिद्धि हेतु कम है, स्वय सिद्धि ही अधिक है। घटनाओ का महत्त्व घटनाओ के लिए ही है।''[2] नियमत घटना प्रधान उपन्यासो मे चरित्र का महत्त्व नही होता, क्योकि उनमे चरित्र, घटनाओ के मात्र उपादान स्वरूप ही प्रस्तुत किये जाते है, किन्तु गोपालराम गहमरी इसके कुछ अपवाद प्रतीत होते है। अपने उपन्यासो मे चाहे उन्होने चरित्र-चित्रण को घटनाओ से अधिक महत्त्व न दिया हो, किन्तु सिद्धान्तत: उन्होने चरित्र की महत्ता स्वीकार की है—''चरित्र चित्रण मे जो जितना ही निपुण होता है, उतना ही वह अपने इस असरकारक अस्त्र से ससार का उपकार करने में समर्थ हो सकता है।''[3] मेहता लज्जाराम शर्मा मनोरजन को उपन्यास का सर्वोपरि प्रयोजन स्वीकार नही करते, अत: वे घटना वैचित्र्य की मोहनी से भी प्रसन्न नही है। तिलिस्मी-ऐयारी तथा जासूसी-डकैती को वे साहित्य का उपलब्धि नहीं मानते। किन्तु, उन उपन्यासो के दुर्दम्य प्रभाव से भी वे अनभिज्ञ नही थे। ''किन्तु हर्ष से कहा जा सकता है कि अब हिन्दी लेखकों की इस ओर प्रवृत्ति हुई है। अब चोरी और डकैती का जमाना चला गया सौभाग्य है।''[4] प्रचलित उपन्यास से असंतुष्ट मेहता जी की उपन्यास विषयक अपनी मान्यता है। ''यद्यपि उपन्यास आजकल बिल्कुल कल्पित वा ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर लिखे जाते है और इसलिए उनकी कथा कोई प्राणभूत नही मानी जाती है परन्तु मै मानता हूँ और बड़े-बडे विद्वान मानते है कि उपन्यास समाज का चित्र है और आज उपन्यास की जो कथा कल्पित मानी जाती है, वही समय पडने पर इतिहास बन जाती है इसलिए उपन्यास ऐसे बनने चाहिये जिनसे प्रजा के सच्चे चरित्र का बोध हो उन्हे पढने से पाठको के चरित्र सुधारे और वे दुराचारो से छूटकर सदाचार मे प्रवृत्त हो।''[5]

---

1 प्रेमचन्द्र कुछ विचार, साहित्य का उद्देश्य (भाग - 1)

2 हिन्दी उपन्यास सृजन और सिद्धान्त, पृष्ठ 10

3 'गेरुआ बाबा' वक्तव्य से

4 विपत्ती की कसौटी', भूमिका से

5 'आदर्श दम्पत्ति' भूमिका से

घटना को उपन्यास के तत्त्व के रूप मे स्वीकार करते हुए भी मेहता जी ने अपने समकालीन उपन्यासकारो के समान, उसे अधिक प्रमुखता नही दी। वस्तुत· जासूसी-डकैती, तिलिस्मी-ऐय्यरी उपन्यासो का विरोध अप्रत्यक्षत: उपन्यास मे घटना-प्रधानता का ही विरोधी है। उनका साध्य घटना नही थी, वे घटना से उबरकर चरित्र-र्मिाण की ओर सकेत कर रहे थे:

" इसमे नित्य की अनेक घटनाओ का एक ही मनुष्य के चरित्र मे सग्रह किया गाय है।"[1] स्पष्टत: घटनाये चरित्र-निर्माण का साधन है, अथवा वे चरित्र का उन्मेष करती है। उपन्यास की अपनी परिभाषा में भी उन्होंने इसी ओर संकेत किया है—

" इसलिए उपन्यास ऐसा-बनना चाहिये जिनसे प्रजा के सच्चे चरित्र का बोध हो।"

स्पष्ट है कि तिलिस्मी उपन्यासो को छोडकर आरम्भिक चरण के इन उपन्यासो की सबसे बडी विशेषता उनकी नैतिकता और शिक्षा है। कथानक चाहे सामाजिक हो या ऐतिहासिक, वे समाज के सामने एक ऐसा आदर्श रखना चाहते थे, जिससे वे अपना जीवन सुधार सके। इसीलिए उपन्यासकार प्राय: कथा वस्तु के साथ उनका सगुफन नही कर पाये है। इन सभी उपन्यासो की कथा वस्तु मे गतिशीलता नही है। यदि कोई कथा वस्तु गतिशील है भी, तो उपन्यासकार बीच मे अनायास टपकर 'तो हे पाठक' 'तो हे साहब !" आदि कहकर अपने पाठको से बात करने लगता है, जिससे कथा प्रवाह मे बाधा पहुँचती है। इनकी कथा वस्तु मे रोचकता, उत्सुकता, चरमोत्कर्ष तथा नाटकीयता का भी प्रभाव है। जहाँ नाटकीयता की थोडी बहुत स्थितियाँ रहती भी है, वहाँ उपन्यासकार को जैसे इतनी आतुरता रहती है कि वह शीघ्रतिशीघ्र अपने पाठको पर कथा के सारे रहस्य स्पष्ट कर देना चाहता है, जिससे नाटकीयता को बडी क्षति पहुँचती है। ऐसी स्थिति में इनकी स्वाभाविकता सदिग्ध हो जाती है। इन उपन्यासो मे कथा वस्तु को जान-बूझकर सुखान्त बनाने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है फिर भी यह स्वीकार करना पडेगा कि तिलिस्मी-जासूसी उपन्यासो को छोडकर इस युग के उपन्यास कथा के रूपो की दृष्टि से जटिलताएँ लिये हुए नही हैं। इतना निश्चित है कि उन्हें उद्धरणों की भरमार करके बोझिल बनाया गया है।

इस युग के अधिकाश उपन्यास कल्पना वैचित्र्य से भरे हैं। बहुत कम ऐसे चरित्र हैं जो जीवन के जीवन्त यथार्थ से जुडे हुए है। यहाँ पर गोपाल राम गहमरी उल्लेख्य हैं जो यद्यपि कि कथानक निर्माण मे कल्पना का महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार करते है, किन्तु इसके क्षेत्र को सीमित रखना उचित समझते है। 'निस्सार और अनहोनी गप्प के उपादान पर गढे हुए उपन्यासो'[2] तथा 'अनहोनी घटनाओं का तूमार लिये हुए बडी-बड़ी ठाट-बाट और लक्क-दक्क उपन्यासो[3] के प्रति उनका विरोध अत्यधिक उग्र है। उनके शब्द है :"लेकिन अश्लील, निस्सार और अनहोनी गप्प के उपादान पर गढे हुए उपन्यासो की इस समय इतनी बाढ है कि साहित्य के इस अग की इन दिनो बडी ही छीछालेदर हो रही है।"[4] मेहता लज्जाराम शर्मा का यह विचार पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है कि उपन्यास की कल्पित कथा भी समय के एक विशिष्ट अन्तराल के पश्चात् इतिहास बन जाती है। अत: उपन्यास लेखक को अपने दायित्व का अहसास होना चाहिये, अन्यथा वह अपने पूर्वाग्रह अथवा सनक से भावी समाज को भ्रान्त इतिहास एव सूचनायें देने का अपराधी एव वर्तमान के प्रति विश्वासघाती होगा।

इन उपन्यासकारो की कोशिशो के बावजूद बहुत कम ऐसे पात्र है, जो जीवन के यथार्थ से लिखे गये है या अपनी सप्राणता और सजीवता का आभास देते हैं। प्राय: सभी चरित्र सपाट हैं, जो नायक-खलनायक के बीच विभाजित है। नायक-

---

1 'धूर्त रसिकलाल', भूमिका से।
2 'गेरुआ बाबा' का वक्तव्य से
3 'गेरुआ बाबा', वक्तव्य से
4 'गेरुआ बाबा', वक्तव्य से

नायिकाये आदर्शवादी, जो सभी प्रकार सद्वृत्तियो से भरी हुई है। खलनायक कुप्रवृत्तियों के प्रतीक है, जो आदर्शो की हत्या करके बुरे मार्ग पर अग्रसर रहते है। स्पष्ट है कि यहॉ भी सुधारवादी दृष्टिकोण एव शिक्षण की मानसिकता से परिचालित है। कथोपकथन भी चरित्र-निर्माण का असफल साधनमात्र दिखाई देता है।, जो कही-कहीं घटना वैचित्र्य का उत्प्रेरक मात्र है। इनमे भावाभिव्यक्ति की समर्थता कम है, सक्षिप्तता एव अर्थवत्ता के स्तर पर भी कमजोर है। केवल 'भाग्यवती' एव 'परीक्षागुरु' मे कथोपकथन का कुछ स्वस्थ स्वरूप दिखाई देता है।

कथोपकथन से ही सम्बद्ध पात्रो की भाषा है, जो तीनो रूपों में दिखाई देती है— एक तो वे उपन्यास, जिनकी भाषा सस्कृत गर्भित है। उनमें भाषा को जान-बूझकर क्लिष्ट बनाया गया है और उसके साथ एक प्रकार से मजाक किया है है। बालकृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवास दास, अयोध्या सिह उपाध्याय 'हरिऔध' एव ठाकुर जगमोहन सिंह आदि ऐसे ही उपन्यासकार है। इनहोने सरल हिन्दी के शब्दो का प्रयोग करने का प्रयत्न किया अवश्य है, पर बहुत कम। ऐसा कदाचित आर्य समाज एव बगला से प्रभाव के कारण ही हुआ है। इस सस्कृत-गर्भित भाषा का प्रयोग करने वाले उपन्यासकारो के भी दो वर्ग है। एक वर्ग तो उन उपन्यासकारो का है, जिनमे सस्कृत शब्दो के साथ हिन्दी के सरल शब्दो का भी प्रयोग हुआ है और उनकी भाषा मे प्रवाह है। लाला श्रीनिवास दास ऐसे ही उपन्यास लेखक है, जो पात्रानुकूल भाषा प्रयोग के समर्थक है— " और उसको जैसा का तैसा (स्वाभाविक) दिखाने के लिए सस्कृत अथवा फारसी, अरबी के कठिन-कठिन शब्दो की बनाई हुई भाषा के बदले दिल्ली मे रहने वालो की साधारण बोलचाल पर ज्यादा दृष्टि रखी गयी है अलबत्ता जहॉ कुछ विद्या विषय आ गया है वहॉ विवस होकर कुछ-कुछ शब्द सस्कृत आदि के लेने पडे है ।"[1] मेहता लज्जाराम शर्मा भी चरित्रानुसार भाषा प्रयोग के समर्थक है : "आजकल उर्दू राजभाषा है और यही मुसुलमानो में बोली जाती है, इस कारण कर्मचारियो और मुसलमान पात्रो की भाषा रखी गई है।"[2] दूसरा वर्ग ऐसे उपन्यासकारों का है, जिन्होने अपनी भाषा मे संस्कृत के शब्द ठूॅस-ठूॅसकर भरे हैं तथा उसके प्रवाह की सहजता एवं स्वाभाविकता को समाप्त कर उसे कृतिम बना दिया है। दूसरी श्रेणी ऐसे उपन्यासकारों की है, जिन्होने चलती हुई व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया है। तिलिस्मी एव जासूसी उपन्यासो मे इस भाषा का प्रयोग अधिकता से हुआ है। तीसरी श्रेणी उन उपन्यासकारो की है, जिन्होने उर्दू के शब्दो का भी बहुतायात से प्रयोग किया है। इन उपन्यासो की भाषा मे थोडा बहुत प्रवाह दिखाई देता है।

(2) प्रेमचन्द युग

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती लेखको ने उपन्यास को या तो शिक्षा और उपदेश के लिए अपनाया था या फिर मनोरजन के लिए। उपन्यास भले ही समाज सुधार के कुछ प्रमुख मुद्दो को अपनी विषयवस्तु के रूप में उठाते दिखाई देते हो, लेकिन वे उस राजनीतिक समझ और सवेदना का कोई प्रमाण नही देते जैसे भारतेन्दु हरिशचंद्र के नाटको 'भारत-दुर्दशा', 'अधेर नगरी' या इस युग के निबन्धकारो के निबन्धो मे दिखाई देता है। प्रेमचन्द ही पहले लेखक थे, जिन्होने एक सहविकसित कलारूप के तौर पर उपन्यास की प्रतिष्ठा और स्वीकार्यता के लिए संघर्ष किया। उन्होने कहा—

> "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमे उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयो का प्रकाश हो- जो हमें गति, सघर्ष और बेचौनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[3]

---

1 'परीक्षा गुरु' निवेदन से

2 'धूर्त रसिक लाल' भूमिका से

3 कुछ विचार, पृष्ठ 25

स्पष्ट है कि उन्होने उपन्यास को सामाजिक एव राष्ट्रीय सवालो से जोडा। प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र के शब्दो मे कहे तो—

"प्रेमचन्द का महत्त्व ही इसी मे है कि उनका रचनात्मक—जगत विकासशील है, स्थिर नही, जबकि प्रेमचन्द के पूर्व—उपन्यासो की दुनिया देश और काल की दृष्टि से रहित—दुनिया है। बालकृष्ण भट्ट, श्रीनवासदास, श्रद्धाराम फुल्लौरी और देवकीनदन खत्री के उपन्यासो का जगत अनैतिहासिक और आदर्शीकृत है। कल्पना, जादू, तिलिस्म, स्वप्न और आवेग उसके तत्त्व है। उसके अभिसमय पचतन्त्रीय और वायवीय है। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओ में इन —रूपाकारो का प्रयोग अवश्य किया, परन्तु प्रारम्भ से ही वह —'देवस्थान के रहस्य' के उद्घाटन मे लग गये। मगलाचरण— मे सकलित रचनाओ की दुनिया मनुष्यो की दुनिया मे बदल जाता है। इसके बदलते ही प्रेमचन्द की रचनाओ का काल —और देश भी बदल जाता है। 'निर्मला' मे मनुष्य और उसका —ससार 'परिवार से सम्बद्ध समाज' के माध्यम से क्रमश·— फैलता जाता है। प्रारम्भिक रचनाओ का समस्याग्रस्त मनुष्य क्रमश 'सामाजिकता' को पहचानने लगता है। वस्तुओ का यह बढ़ता हुआ दायरा उन्हे अन्ततः उस मूल समस्या तक पहुँचाता है, जहाँ देवत्व की उत्पत्ति जडत्व से होती हुई प्रतीत होती है। इसीलिए प्रेमचन्द प्रारम्भ से ही देवत्वकरण और वस्तुकरण से मनुष्य को मुक्त करने का प्रयास करते है।"[1]

प्रेमचन्द ने जिन सवालो को अपने औपन्यासिक सर्जन का विषय बनाया वह उनके पहले 'कविता' एव 'निबन्ध' विधा का मुख्य विषय थी। भारतेन्दु, प्रताप नारायण मिश्र, प्रेमधन, बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे लेखको ने सामाजिक जीवन की विभिन्न धार्मिक कुरीतियो और अग्रेजो की लूट, कर्मचारियो की घुसखोरी, महामारी और करो के भार से पिसती हुई भारतीय जनता को उसकी पूरी विडम्बना के साथ अपने लेखन का विषय बनाया। इन रचनाकारो को हिन्दी भाषी समाज के लिए रचनाकार का नही वस्तुतः राजनीति के आगे चलने वाली मशाल' का कार्य करना पड़ता था। प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र ने लिखा है—

"प्रेमचन्द ने उपन्यासों की परम्परा मे द्विवेदी युगीन निबन्ध चेतना को आत्मसात करके ही उपन्यास लिखे। वस्तुतः प्रेमचन्द द्विवेदी युग की ही मुख्य देन हैं। साहित्य की परिभाषा प्रेमचन्द के दिमाग मे वही है, जो बालकृष्ण भट्ट, मैथिली शरण गुप्त और द्विवेदी युग के दिमाग मे थी।"[2]

शिवकुमार मिश्र प्रेमचन्द की विरासत की पडताल करते हुए लिखते है—

"यथार्थ प्रेमचन्द के लिए कभी कोई बना-बनाया नुस्खा नही रहा उसके लिए वह सदैव एक साधना रहा जिसे जिन्दगी के मुख्य प्रवाह से जोडकर विचार और अनुभव की तीखी टकराहट के बीच, सर्जनात्मक स्तर पर नाना प्रकार के जोखिम उठाकर ही पाया जा सकता है। यही कारण है कि हमे प्रेमचन्द मे निरन्तर प्रखर होते हुए, गुणात्मक रूप मे विकसित यथार्थ बोध के दर्शन होते है। प्रेमचन्द का यह यथार्थबोध न तो किताबी है और ना ही जैसा जो जो कुछ सतह पर दिखाई देता है उसकी प्रतिच्छवि। वह जिन्दगी को व्यक्तिवादी नजरिए से देखने वालो की अपनी मानसिकता अथवा दृष्टि, का नमूना भी नही है, वरन् उसके

---

1 गोदान का महत्त्व —स० प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, भूमिका पृष्ठ 195

2 गोदान का महत्त्व —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, भूमिका पृष्ठ 196

पीछे जिन्दगी के अतर्विरोधो के बीच उसके सारे वैविध्य तथा जटिलताओ से गुजरते हुए, उसके प्रतिनिधि रूप और उसके सारतत्त्व को पहचानने और उभारने वाली दृष्टि का योग है।''[1]

यही कारण है कि अपने समय के यथार्थ को उसके समूचे नगेपन के साथ उजागर करते हुए भी, उसके प्रति तनिक भी रोमानी अथवा भावुक न होते हुए भी प्रेमचन्द भविष्य के प्रति निराश नही होते। वे रचना के क्षेत्र मे एक गहरे आन्तरिक दबाव के तहत, अपने समाज और अपने देश के प्रति एक उत्कट सात्विक लगाव के साथ आये थे।

प्रेमचन्द ही पहले उपन्यासशिल्पी थे, जिन्होने एक सहविकसित कलारूप के तौर पर उपन्यास की प्रतिष्ठा और स्वीकार्यता की लडाई लडी। उन्होने उपन्यास को सामाजिक एव राष्ट्रीय सवालो से जोडकर उसकी कलात्मकता का विकास किया। 'भारतीय समाज मे विधवा की नियति, अनमेल विवाह, दहेज, और स्त्री-शिक्षा के महत्त्व का प्रतिपादन— मोटे तौर पर यही से प्रेमचन्द अपनी रचनात्मक-यात्रा शुरू करते हैं। इस मायने मे वे भारतेन्दुयुगीन उपन्यास परम्परा का ही विकास करते है और यदि लोग उन्हे इस युग के लेखको द्वारा स्थापित और विकसित करने वाले यथार्थवादी परम्परा से जोडकर देखते है तो कुछ गलत भी नहीं करते। भले ही इन पूर्ववर्ती लेखको को देखकर, जैसा कि आचार्य नलिन विलोचन शर्मा कहते है, 'प्रेमचन्द' को प्रत्याशित या प्रभावित मानना निराधार है, लेकिन यह भी सच है कि प्रेमचन्द को इस पहले से चली आती कथाधारा से अलग करके देखना भी गलत है। इस प्राप्त और उपलब्ध कथाधारा को अपने स्पर्श और उपस्थिति से वे इस हद तक बदल दते है कि वह एक नई उद्भावना जैसे लगने लगती है।'[2]

यह पूरी तरह सच है कि अपने पूर्ववर्ती लेखको से अपनी विषय वस्तु लेकर भी वे उसे उसी तरह से प्रस्तुत नही करते जैसे उनके ये पूर्ववर्ती लेखक करते थे। गिरिराज किशोर के शब्द है—

> ''प्रेमचन्द से पहले साहित्य के पात्र समाज का अभिजात वर्ग—होता था। राजे-महाराजे, तालुकदार, सेठ-साहूकार, नगर वधुएँ—आदि। प्रेमचन्द हिन्दी के पहले कथाकार है जिन्होने अपनी—कलाकृतियो के लिए ऐसे पात्रो को चुना जो साहित्य के लिए निर्धारित तत्कालीन अर्हता से पूरी तरह वचित थे।''[3]

'प्रेमचन्द के आगमन पर साहित्य के नायक -नायिकाओ की बडी लम्बी बिरासत वाले तख्ते हाउस पर होरी, घीसू, हल्कू, धनिया, सलोनी काकी आदि बेझिझक बडी शान से बैठे और जमाने का सिर श्रद्धा से नत हो गया'[4] वे हिन्दी उपन्यास को समाज के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की आकाक्षा और उपेक्षा से जोड़ते है। प्रेमचन्द की महत्ता का स्रोत उनकी रचनाओ मे व्यक्त मानवीय सहानुभूति ही नहीं, मनुष्य मनुष्य के बीच समानता का आग्रह है। ''उनकी कृतियाँ उनकी मानवतावादी दृष्टि के क्रमिक विकास की सूचक है— करुणा प्रेरित सुधारकामी भावुक आदर्शवाद से अन्याय के मूल वर्ग-वैषम्य का उद्घाटन करने वाले यथार्थवाद की ओर—सामाजिक सम्बन्धो को मानवीय बनाने की नैतिक अपील करने वाली मानवतावादी भावधारा से मनुष्य के इतिहास से विषमता के युग को सदा के लिए समाप्त करने की माँग करने वाली मानववादी विचारधारा की ओर।''[5] उनका मानववाद ''उन्नीसवी सदी के अनेक साहित्यकारो के मानववाद से भिन्न था। वह तॉल्सतॉय जैसे महान

---

1 प्रेमचन्द्र विरासत का सवाल —डॉ० शिवकुमार मिश्र, पृष्ठ 106

2 हिन्दी उपन्यास का विकास —मधुरेश, पृष्ठ 32

3 गोदान का महत्त्व —स० सत्य प्रकाश मिश्र, मे गिरिराज किशोर का लेख पृष्ठ 79

4 डॉ० राम विलास शर्मा द्वारा 'आस्था और सौन्दर्य मे उद्धृत अमृतलाल नागर का भाषण।

5 आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता —डॉ० नवल किशोर

लेखको के मानवतावाद से भी भिन्न था। वह समाजवादी क्राति के वाद का मानववाद था, वह राजनीतिक समस्याओ को गरीब जनता के दृष्टिकोण से देखने- परखने और हल करने का आदी था। धार्मिक सकीर्णता उससे दूर थी। इसके विपरीत विभिन्न मत-मतान्तरो की सहायता से धनी वर्ग द्वारा जनता की धार्मिक भावनाओ को सहानुभूति से देखता था।''[1]
प्रेमचन्द ने स्वय लिखा है— ''उपन्यासकार को अपनी सामग्री आले पर रखी हुई पुस्तको से नही, उन मनुष्यो के जीवन से लेनी चाहिए जो उसे नित्य ही चारो तरफ मिलते रहते है। मुझे विश्वास है कि अधिकाश लोग अपनी ऑखो से काम नही लेते।''[2]

शिल्प के स्तर पर प्रेमचन्द उपन्यास को 'मानव चरित्र का चित्र' मानते है और मानव चरित्र के रहस्यो का उद्घाटन ही, उनके अनुसार, उपन्यास का सर्वप्रमुख लक्ष्य है।''मै उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यो को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।''[3] लेकिन प्रेमचन्द को वास्तविक चरित्र का कल्पनाशून्य, यथावत् चित्रण स्वीकार्य नही है। उनकी मान्यता है कि 'कथा साहित्य मे सम्प्रति काल्पनिक घटनाओ को यथार्थवृत्त करने का प्रयत्न किया जाता है, भविष्य मे यथार्थ पर कल्पना का आलेप करना होगा, ताकि वह कथा प्रतीत हो।'[4] यथार्थ के साथ कल्पना और कल्पना के साथ यथार्थ का यही योग कला है और प्रेमचन्द ने कलावादी न होते हुए भी कला की अवहेलना कही नही की है। इन दोनो अवधारणाओ को उन्होने 'आदर्श' और यथार्थ के माध्यम से प्रस्तुत किया। उनके शब्द है: ''यथार्थवाद यदि हमारी ऑखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमे उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुॅचा देता है इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते है, जहॉ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो''[5]

प्रेमचन्द पूर्व युग के उपन्यास जहॉ घटना वैचित्र्य से ओत-प्रोत थे, वहॉ प्रेमचन्द ने चरित्र को ही प्रधानता दी और उपन्यास की परिभाषा 'मानव-चरित्र का चित्र' की है। उनका विश्वास था कि निकट भविष्य मे उपन्यास 'मानव-चरित्र' के और अधिक निकट आ जायेगा, अत: उपन्यास का पात्र यथार्थ जीवन के समीप होना चाहिये।''पात्र सर्वथा यथार्थ नही होता, उसमे औपन्यासिकता (कल्पना) का योग होना चाहिये तथा पात्र समाज के किसी भी वर्ग का हो सकता है, उसके महत्त्व का निकष धन-सम्पत्ति न होकर उसका जीवट अथवा जिजीविषा होनी चाहिये।''[6] प्रेमचन्द के लिए पात्रों का सामाजिक-आर्थिक स्तर महत्त्व नही रखता। उनकी धारणा थी कि साहित्य के पात्र जन सामान्य के लिए प्रेरणा के स्रोत होते है। इसीलिए प्रेमचन्द ने लिखा कि ''इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र-पोजिटिव हो, जो प्रलोभनो के आगे सिर न झुकाऍ, बल्कि उनका दमन करे, जो किसी विजयी सेनापति की भॉति शत्रुओ का संहार करके विजय नाद करते हुए निकले। ऐसे ही चरित्रो का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पडता है।''[7] मानवता का परिष्कार, अथवा हृदय का विस्तार उपन्यास का ही नहीं, सम्पूर्ण कला का उद्देश्य है, और प्रेमचन्द इसी के समर्थक हैं :''जिस उपन्यास को समाप्त करने के बाद

---

1 प्रेमचन्द्र का मानवतावाद —डॉ० रामविलास शर्मा 'आस्था और सौन्दर्य', पृष्ठ 116
2 प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —स० प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, पृष्ठ 78
3 प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —स० प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, पृष्ठ 80
4 कुछ विचार, पृष्ठ 69
5 प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —स० प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, पृष्ठ 82
6 कुछ विचार, पृष्ठ 69
7 साहित्य का उद्देश्य, पृष्ठ 58

पाठक अपने अन्दर उत्कर्ष का अनुभव करे, उसमे सद्भाव जाग उठे, वही सफल उपन्यास है।''[1] उनकी दृष्टि मे उपन्यासकार की सफलता साधारणीकरण मे है : ''सफल उपन्यासकार का सबसे बडा लक्षण है कि वह अपने पाठको के हृदय मे उन्ही भावो को जागृत कर दे, जो उसके पात्रो मे हो।''[2]

उपन्यास मे प्रेमचन्द का साध्य चरित्र है, शेष तत्त्वो का कार्य चरित्र को यथासम्भव पूर्णतम बनाने मे है। उन्होने अपने पूर्व के और समसामयिक साहित्य-प्रवाह मे अपर्याप्तता, जीवन का असाम्पर्क्य और रूढिवादी मान्यताओ का साक्षात्कार किया था। उनके दृष्टिकोण का आधार ही मानवीय अर्थवत्ता है और इसी को खोज उन्होने की है। उनकी उपन्यास यात्रा वैसे तो उर्दू मे सन् 1905 से शुरू होती है और 'असरारे मआविद', 'हम खुर्मा व हमसवाव', रूठी रानी की रचना होती है, किन्तु हिन्दी मे सन् 1918 मे 'सेवासदन' के साथ आये और 1936 मे गोदान के प्रकाशन के कुछ महीने बाद ही उनका निधन हो गया। लेकिन यह काल खण्ड उपन्यास के कलात्मक उत्कर्ष और सामाजिक स्वीकार्यता की दृष्टि से आश्चर्यजनक एव अभूतपूर्व उपलब्धियो का है। भले ही प्रेमचन्द ने आगे चलकर उपन्यास को 'मानव चरित्र के अध्ययन' से जोडने की बात घोषित रूप मे कही हो, लेकिन व्यवहार के धरातल पर लगभग शुरू से ही वे इस लक्ष्य के प्रति सजग दिखाई देते है। 'यही कारण है कि वे उपन्यास को उसकी इकहरी बुनावट से निकालकर, उसकी वाह्य स्थूलता को काट-छाटकर, एक सश्लिष्ट कला-रूप की प्रतिष्ठा दिला पाने मे सफल होते है, क्योकि मानसिक तनावों और अर्तद्वन्द्व के कारण उनके पात्र सहज और स्वाभाविक ही नही लगते, हमारे बहुत निकट भी लगते है। उपलब्ध उपन्यास की घटनात्मकता से मुक्ति की दिशा मे वे कोई उल्लेखनीय प्रयास भले ही न करते हो, लेकिन वर्णित घटनाओ और पात्रो के अतर्सबन्धो को लेकर वे पर्याप्त सजग दिखाई देते है।''[3] प्रेमचन्द की साहित्य साधना इस बात का साक्ष्य है कि उन्होने जिन्दगी की चुनौतियो को साहस के साथ स्वीकारा और समय के एक-एक तेवर को पहचानते हुए अपनी रचनाओ मे उन्हे इस तरह प्रस्तुत किया कि वे उस समय और उस जिन्दगी के प्रामाणिक दस्तावेजो के रूप मे अपनी पहचान बना सके।'[4] उन्होने उपन्यास जैसी विधा को जिदगी के जाग्रत यथार्थ तथा समाज की अहम समस्याओ से जोडकर एक सम्मानित हैसियत प्रदान की, उसे मनुष्य की ही चरित्र का नही, समाज तथा व्यवस्था के चरित्र का चित्र तथा आइना बनाया। देश की पराधीनता अथवा मानुष सत्य का अपमान, वृहत सामाजिक अन्याय की विधायक शक्तियो पर कठोर प्रहार करते हुए मिसाल विरल ही है।

'सेवा सदन' ने सर्व प्रथम उपन्यास विधा की परिभाषा को बदला। प्रेमचन्द ने इसे उर्दू मे ही लिखा था, लेकिन पहले उसका प्रकाशन हिन्दी मे हुआ। अस्थि व रक्त से समन्वित पूर्ण विकसित पात्र, सगठित कथानक सघटना, कलात्मक पात्रानुकूल सवाद और कलागत अनुशासन की शर्तो पर रूपायित होने वाली मूल्य दृष्टि सेवा सदन का महत्वपूर्ण शिल्पगत अवदान है। यद्यपि की सुमन का चरित्र एक वास्तविक वेश्या के प्रामाणिक अनुभवो की सहज परिणति न होकर प्रेमचन्द के अपने आदर्शो मे ढले चरित्र का उदाहरण ही अधिक है, लेकिन उसके प्रति प्रेमचन्द की मानवीय दृष्टि ही, जिसमे वेश्या के रूप मे उसके प्रति लेशमात्र भी घृणा नही, युगीन परिस्थितियो मे विशिष्टता प्रदान करती है। प्रेमचन्द वेश्यावृत्ति के विरोध मे सामाजिक अभियान चलाते हुए भी उनके प्रति कही घृणा का भाव नही रखते है। इस अभियान मे अग्रणी पद्म सिह शर्मा

---

1 कुछ विचार, पृष्ठ 68
2 साहित्य का उद्देश्य, पृष्ठ 69
3 हिन्दी उपन्यास का विकास, मधुरेश, पृष्ठ 34
4 प्रेमचन्द्र विरासत का सवाल —शिव कुमार मिश्र, पृष्ठ 18

कहते है, ''हमने वेश्याओ को नगर से बाहर रखने का प्रस्ताव इसलिए नहीं किया है कि हमे उनसे घृणा है। हमे उनसे घृणा करने का कोई अधिकार नही । यह हमारी कुवासनाएँ, हमारे सामाजिक अत्याचार, हमारी कुप्रथाएँ है जिन्होने वेश्याओ का रूप धारण कर लिया है''[1] कुँवर अनिरूद्ध सिह इससे भी आगे जाकर हराम की कमाई को वेश्यावृत्ति का मूल कारण बताते हुए इस बुराई को समाज की व्यवस्था का ही अनिवार्य अग होने पर जोर देते है, ''जिस दिन नजराना, रिश्वत, और सूद-दर-सूद का अत होगा, उसी दिन दालमडी उजड जायेगी पहले नही ''[2] प्रेमचन्द उनके सम्मानपूर्वक जीने के अधिकार की लडाई लडते है।

स्पष्ट है, इस आन्दोलन को प्रेमचन्द भारतीय समाज मे नारी की व्यापक पराधीनता के सवाल से जोडकर देखते है। इस धधे के पीछे छिपी वास्तविकता को वे विश्वसनीयता पूर्वक अकित करते है, किन्तु उनके समाधान अवास्तविक एव हवाई है। राम विलास जी लिखते है, 'प्रेमचन्द समस्या का समाधान देना चाहते थे, लेकिन उचित समाधान देने मे ऐतिहासिक सीमाए बाधक थी। नारी की स्वाधीनता व सम्मान - रक्षा का प्रश्न देश की आम सामाजिक और राजनैतिक समस्याओ का ही अग है वे शक्तियाँ जिन्होने सुमन को वेश्या बनाया, पीछे कलकिनी बनाकर उसे गगा की तरफ ठेला, समाज पर अपना प्रभुत्व जमाए हुए थी। इनके बिरूद्ध सघर्ष-समस्या का समाधान यही हो सकता था। लेकिन पहले महायुद्ध के दिनो में स्वाधीनता आन्दोलन असंगठित और कमजोर था, इसलिए प्रेमचन्द उसे चित्रित नही कर सके। वे समाज की प्रगति रोकने वाली शक्तियों को देख, रहे थे लेकिन पुरानी व्यवस्था को बदलने वाली शक्तियाँ उनके सामने तब मैदान मे आई न थी।'[3]

'प्रेमाश्रम' (1922) हिन्दी मे पहली बार, इतने विस्तृत फलक पर औपनिवेशिक व्यवस्था मे ग्राम-जीवन को अकित करने का उद्यम करता है। प्रेमचन्द ने इसमे एक ओर विभिन्न प्रकार के जमीदारो और उनकी मानसिकता को अकित करने के साथ ही उनके समूचे तत्र-कारिन्दे, कचहरी-कानून, पुलिस और दूसरा सरकारी अमला-अकित किया है, वही वे किसान चेतना के विभिन्न स्तरो को भी अकित करते है। 'सेवा सदन' की तरह यहाँ भी जमीदारी व्यवस्था को लेकर यूटोपिया का निर्माण करते है, जिसमे प्रेमशकर जैसे जमीदार स्वेच्छा से अपने भूस्वामित्व को त्याग देते हैं। फिर भी 'प्रेमाश्रम' वर्ग शत्रुओ की सघन पहचान और उनके बिरूद्ध किसानो की सगठित कार्यवाही की दृष्टि से, एक ऐतिहासिक महत्त्व की रचना होने का जीवन्त दस्तावेज है। रामविलास जी के शब्दों मे कहे, 'न तो इसमे कोई एक व्यक्ति नायक है और न ही ज्ञानशकर के सारे खलनायकत्व के बावजूद, कोई एक व्यक्ति इसका खलनायक है। यहाँ परस्पर विरोधी दो मूल्य और जीवन-दृष्टियाँ ही आमने-सामने खड़ी है—नायक और खलनायक क रूप में। एक ओर लखनपुर के गाँव के किसान है, विकसित होती अपनी प्रतिरोध और संघर्ष क्षमता के साथ और दूसरी ओर ज्ञानशंकर के साथ उसका समूचा दमन-तत्र है।' लखनपुर के ये किसान ही सामूहिक रूप मे 'प्रेमाश्रम' के नायक है और अपनी पूरी शक्ति के साथ भारत मे औपनिवेशिक व्यवस्था को सहायता पहुँचाता ज्ञानशंकर और उसका समूचा तत्र ही प्रेमाश्रम का खलनायक है।

प्रेमचन्द अपने युग की सामाजिक -राजनीतिक आहटों के प्रति अत्यन्त सजग और सवेदनशील लेखक का उदाहरण है। प्रारम्भ मे वे यूटोपियाई समाधान की ओर आकृष्ट हुए, लेकिन जैसे-जैसे सामाजिक राजनैतिक सघर्ष मे तेजी आती है और

---

1 सेवा सदन, पृष्ठ 191
2 सेवा सदन, पृष्ठ 192
3 प्रेमचन्द्र और उनका युग, पृष्ठ 40

उसमे जनता की व्यापक हिस्सेदारी बढती है, वे यथार्थ के कठोर धरातल पर उतर आते हैं। इस दृष्टि से रगभूमि (1925) व्यापक बहुवर्णी यथार्थ पर उतरता दिखाई देता है। इसमे नवविकसित पूंजीवाद और भारतीय परम्परा का द्वन्द्व दिखाई देता है। सूरदास अपनी जिस जमीन और उसके माध्यम से भारतीय किसान के नैतिक सस्कारो—धरती माँ होती है और माँ बेची नही जाती— को बचाने की लडाई लडता है, उस पर अन्तत: ज्ञानसेवक का अधिकार हो जाता है। लेकिन प्रेमचन्द औद्योगिक पूँजीवाद को विजयी दिखाकर भी, सूरदास को कही हताश नही दिखाते।

'कायाकल्प' (1926), की असफलता और आलोचना के बाद प्रेमचन्द विस्तृत फलक वाले सामाजिक-राजनीतिक घटना-प्रसगो वाले उपन्यास की अपेक्षा घर-परिवार और उसके बीच स्त्री की नियति, सघर्षयात्रा पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करते है और 'निर्मला' (1927), 'प्रतिज्ञा' (1929), 'गबन' (1931), 'कर्मभूमि' (1932) की रचना होती है।

प्रेमचन्द आर्य समाज द्वारा सचालित स्त्री-सुधार सम्बन्धी आन्दोलन मे विश्वास करते थे, जिसका तेजस्वी रूप 'प्रतिज्ञा' मे है।'प्रतिज्ञा दो परस्पर विरोधी मूल्य दृष्टियो-एक ओर आर्यसमाजी सुधारवादी मूल्यदृष्टि है, जो विधवा विवाह का उत्साहपूर्ण समर्थन करती है और दूसरी ओर सनातन हिदू दृष्टि है, जो ऐसे किसी सगठित प्रयास को अनाचार की सज्ञा देती है—के द्वन्द्व व तनाव को रेखाकित करने वाला उपन्यास है पुरुष वर्चस्व वाले समाज मे, पति की मृत्यु के बाद, स्त्री की नियति कितनी विसगतिपूर्ण है, 'प्रतिज्ञा' इसका स्पष्ट प्रमाण है।इसके पूर्व की रचना 'निर्मला' ऊपर से देखने पर, मध्यवर्गीय समाज मे निरन्तर पल्लवित-पुष्पित होती अनमेल विवाह की कहानी लगती है। लेकिन वह सिर्फ इतना ही नही है। भालचन्द्र की व्यवहारगत काईयांपन की पर्ते एव निर्मला -मसाराम के मानसिक द्वन्द्व व तनाव की रेखायें इसे वृहत्तर सन्दर्भ प्रदान करती है। निर्मला इस दृष्टि से भी प्रेमचन्द की महत्त्वपूर्ण रचना है, क्यो कि हिन्दी उपन्यास मे मनोवैज्ञानिक चरित्राकन का विकास यहीं से शुरू होता है। सौतेले हमउम्र पुत्र मंसाराम के प्रति निर्मला का सहज आकर्षण और पिता की उम्र के पति मुशी तोताराम के प्रति उसके गहरे विकर्षण भाव को प्रेमचन्द ने पर्याप्त कलात्मक निपुणता के साथ अकित किया है।

'गबन' 'परिवार' से शुरू होकर 'राष्ट्र' मे सक्रमित होने का उल्लेखनीय उदाहरण है। यह उपन्यास उस सक्रमण की शुरुआत है जिसमे वे गाधीवादी सोच की सीमाओ से बाहर निकलने का प्रयत्न करते हैं। यह प्रेमचन्द मे विकसित होती वर्ग चेतना का भी सकेत है, जिसका प्रौढ रूप गोदान मे दिखाई देता है। 'कर्मभूमि' से पुन: परिवार को लाघ कर देश के घटनासकुल और उथल-पुथल भरे जीवन के अकन की ओर आकृष्ट होते हैं।राष्ट्रव्यापी आर्थिक मन्दी और महात्मागाधी के नेतृत्व मे चलने वाले स्वाधीनता आन्दोलन का परिवेश उपन्यास मे पूरी तरह व्याप्त है। राष्ट्रीय आन्दोलन भले ही दिशाहीन और नेतृत्व विहीन हो, लेकिन छोटे-छोटे कोनो से उभरा स्थानीय नेतृत्व इस राष्ट्रव्यापी शून्य को भर पाने मे सक्षम है। अछूतो के सामाजिक जीवन मे स्वीकृति का सवाल, सामाजिक राजनैतिक कार्यकलापो में स्त्रियो की भूमिका, महगी अंग्रेजी शिक्षा का जनविरोधी चरित्र और देशी पूंजीवाद के सहयोग से सामाजिक राष्ट्रीय सुधारवाद की सार्थकता का प्रश्न भी कर्मभूमि को व्यापक जीवनसत्य से जोड़ता है। सुखदा के माध्यम से स्त्री का सामाजिक स्थिति का सवाल प्रेमचन्द उठाते है।

'गोदान' आश्रमवादी और सदनवादी समाधान पद्धति से प्रेमचन्द की मुक्ति का दस्तावेज है, लेकिन यह यात्रा 'गबन' से शुरू होकर 'कर्म भूमि' से होते हुए यहाँ तक पहुँची है। गोदान के केन्द्र में अवध के गाँव बेलारी का एक कृषक परिवार है- होरी का परिवार। 'होरी एक सामान्य धर्म-भीरू पर व्यवहार बुद्धि से युक्त व्यक्ति है, जो जीवन भर परिवार और समाज से तालमेल रखने की कोशिश मे रहता है, और राष्ट्रीय जीवन की बड़ी समस्याओ के प्रति भी जागरुक है। प्रेमचन्द स्वय कहते •

है, "इस जमाने मे मोटा होना बेहयाई है। सौ को दुबला करके तब एक मोटा होता है। ऐसे मोटेपन मे क्या सुख? सुख तो जब है, कि सभी मोटे हो।" 'इस तालमेल की कोशिश मे वह अपनी 'मरजाद' का ध्यान बराबर रखता है, जिस वजह से तालमेल बहुत बार टकराहट मे बदल जाती है।' [1] अपने लिए वह कहता है, "इस जनम मे तो कोई आशा नही है माई। हम राज नही चाहते, भोग विलास नही चाहते, खली मोटा-झोटा पहनना और मोटा-झोटा खाना और मरजाद के साथ रहना चाहते है। वह भी नही सधता।" यही होरी की जीवनगाथा है, कृषक सस्कृति की गाथा।

'गोदान' की यात्ना ऐसी बेजोड है कि उसमे अनवरत सघर्ष, करुणा, सहानुभूति और त्नासदीपूर्ण अन्त के बावजूद कही किसी एक के प्रति कडवाहट नही आती, गहरा असतोष तन्त्र व व्यवस्था के प्रति उमडता-घुमडता रहता है। 'गोदान का समाज ठहरा हुआ है, सभी चरित्र जैसे प्रतीक्षारत है, जैसे कोई घटना घटेगी। लेकिन कोई घटना नही घटती। यह नही कि कुछ होता नही। हर बार यही लगता है कि घटना अनावश्यक बुलबुला बनकर समाज के अथाह ठहराव मे विलीन हो जाती है' [2] गोदान मे यथार्थवाद उपयोग की वस्तु नही है, वह एक दृष्टि बन जाता है, जिसके भीतर मानव का केन्द्रीय प्रश्न उठता हुआ दिखता है। 'गोदान अपने आप मे पारस्परिक आर्थिक और सामाजिक शोषण का ऐसा लैडस्केप है, जिसमे भारतीय किसान की पूरी तरह प्राण-प्रतिष्ठा हुई है। चाहे वह पूरब का हो या पश्चिम का, उत्तर का हो या दक्खिन का। इस उपन्यास को चाहे जितने भी भाष्य दे परन्तु मूल भाष्य मानवीय त्नासदी ही है।' [3] 'इसकी मूल सवेदना देवत्व के जड़त्व (धर्मकारण) और जडत्व के देवतव (अर्थ) से मुक्ति की है।' इस चिन्ता का केन्द्र मनुष्य है। इस अर्थ मे मानुष सत्य ही उसकी रचना की केन्द्रीय सरचना है। "गोदान' मे 'होरी की ट्रेजडी' उस अधेरे को घना करती है, जो प्रेमचन्द की मनोभूमि के भीतर पडी हुई दरार को दिखाने के साथ ही साथ गोबर के पुत्न मगल पर केन्द्रित उनकी आशा-किरण का भी सकेत करती है। 'निर्मला' का लेखक 'गोदान' मे अपनी आस्थाओ और विसगतियों सहित चूर-चूर हो जाता है, जडवादी मेहता और मालती आदि सभी दर्शक है, सिद्धान्तवादी है। अँधेरे को प्रकाश से भर देने का साहस उनमे नही है, क्योकि उनके मानव सम्बन्धो और विचारो मे अलगाव है।' [4]

धनिया होरी की पत्नी के रूप मे, उसके परिवार का प्रमुख घटक बनकर उसे सम्पूर्णता देती हुई, कृषक-जीवन की गाथा को और अधिक ट्रेजिक बनाती है। प्रेमचन्द की महत्त्वपूर्ण सफलता रायसाहब अमरपाल सिह के चरित्नाकन मे देखती जा सकती है। जमींदारी व्यवस्था के प्रति गहरी घृणा और विरोध के बावजूद प्रेमचन्द उसके चरित्न को इकहरा और यान्त्रिक नही होने देते। उसके चरित्न मे प्रेमचन्द एक ढहती हुई सांमन्ती प्रथा का अकन भी गहरी करुणा के साथ करते है। गोदान मे होरी से सम्बद्ध कथा को मेहता और गोबर का चरित्न निरन्तर विश्लेषित करके 'जड़त्व' की स्थिति से मुक्ति का सकेत करता है। मेहता कहता है कि गॉव वालो की 'निरीहता जड़ता की हद तक पहुँच गयी है, जिसे कठोर आघात ही कर्मण्य बना सकता है। उनकी आत्मा जैसे सब ओर से निराश होकर अब अन्दर ही टाँगे तोडकर बैठ गयी है। उसमे अपने जीवन की चेतना ही जैसे लुप्त हो गयी है।' [5] अतएव डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र के शब्दो मे कहे,—

---

1 गोदान का महत्त्व —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, मे प्रो० रामस्वरूप चतुर्वेदी का 'गोदान की बुनावट' लेख, पृष्ठ 27
2 गोदान का महत्त्व —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, मे विजयदेव नारायण साही का लेख, पृष्ठ 10
3 गोदान का महत्त्व —डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र मे गिरिराज किशोर का लेख
4 गोदान का महत्त्व —डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र, भूमिका, पृष्ठ 198
5 गोदान, पृष्ठ 294

'''निर्मला' और 'सेवासदन' के पात्र 'रगभूमि' 'कर्मभूमि' और 'प्रेमाश्रम' मे भिन्न दुनिया के अग बन जाते है और 'गोदान' मे 'निर्मला' और 'सेवासदन' के काल का समाज बिल्कुल उलट जाता है, प्रारम्भ का समूह बदलकर होरी आदि की दुनिया का समाज हो जाता है। फलत. कथा का रेखीय स्वरूप शिल्प की दृष्टि से अनुरूपो के सामजस्य के स्थान पर विपरीतो के सामजस्य पर केन्द्रित हो जाता है।'' [1]

गोदान की औपन्यासिक सरचना पर एक प्रकार के विषाद की छाया है, लेकिन उसमे निराशा का रंग चाहे कितना हो गहरा क्यो न हो, अपने सवेदनात्मक प्रभाव मे उसके नितान्त आशाहीन होने की शिकायत नही की जा सकती। यद्यपि प्रेमचन्द होरी की अतिम यात्रा इन शब्दो मे व्यक्त करते है— ''आज तीस साल तक लडते रहने के बाद वह ऐसा परास्त हुआ है, मानो उसको नगर के द्वार पर खडा कर दिया गया है और जो आता है, उसके मुँह पर थूक देता है।'' परन्तु होरी हार कर भी पराजित नही है। उसकी निराशा मे भी विजयी की सवेदनाये गुथी हुई है— ''कौन कहता है, जीवन सग्राम मे वह हारा है—इन्ही हारो मे उसकी विजय है उसके टूटे-फूटे अस्त्र उसकी विजयपताकाएँ है।'' 'होरी का अन्त साकेतिक रूप से उस जडीभूत समाज और सर्वग्रासी व्यवस्था के अन्त की अनिवार्यता की घोषणा करता है, जिसमे मध्ययुगीन सामाजिक अन्तर्विरोधो के अवशेषो के तौर पर धार्मिक विश्वासो की जकडबन्दी तथा जाति-प्रथागत भेदभाव से पैदा हुई संकीर्णता भी विद्यमान है तथा साथ ही आधुनिक युगीन विकास की देन के रूप मे पैदा होने वाले सामाजिक अन्तर्विरोधां के तौर पर गॉव और शहर का सास्कृतिक-आर्थिक द्वन्द्व एव किसानो, और सूदखोर महाजनो व व्यापारियों के निजी हितों की टकराहट भी विद्यमान है।' [2] इसलिए परमानन्द जी के विचार सत्य है—

''गोदान की सरचना पर विचार 'गोदान' के ऐतिहासिक-सामाजिक सन्दर्भ को छोडकर असम्भव है। महज शिल्पगत विशेषताओ या सीमाओ की कोटि बनाकर 'गोदान' की सरचना के मर्म तथा वैशिष्ट्य को समझ पाना कठिन है'' [3]

भाषा-शैली के स्तर पर भी 'गोदान' स्वतत्रतापूर्व हिन्दी उपन्यास यात्रा की महत्त्वपूर्ण कडी है। प्रेमचन्द गोदान मे पाठको के सामने एक से अधिक रूपो मे आते है और हर रूप के साथ उनकी भाषा-शैली भी बदल जाती है। जहॉ वे किस्सागो की भूमिका ग्रहण करते है, वहॉ भाषा बिल्कुल सरल एव आचलिक होती है। तद्भव शब्दो के साथ सस्कृत, अरबी-फारसी के उन्ही शब्दों का प्रयोग करते है, जो सामान्य बोल-चाल मे घुल-मिल गये हैं। नागरिक पात्रो की कहानी कहते समय वे आचलिक शब्दो के स्थान पर तत्सम शब्दो का अनुपात तो बढ जाता है, साथ ही अग्रेजी के भी बहुत से शब्द आ जाते है। स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की आसक्ति न तो किसी विशेष प्रकार के शब्द-चयन के प्रति है, न किसी विशिष्ट ढग से वाक्य गठन के प्रति। अपनी विशिष्ट भाव-दशा को सफल अभिव्यक्ति देने में समर्थ शैली ही उनकी शैली है। इसीलिए इसमे भाषा के कई तेवर, कई रग हैं। संवेदना की प्रगाढ अनुभूति और व्यापक बहुवर्णी यथार्थ इसकी पहली एवं अतिम विशेषता है। 'यहॉ व्यक्ति भाषा, वर्ग भाषा, विभाषा, मानक भाषा, इन सबकी बहुस्वनिकता के साथ-साथ लगातार विशेषण-प्रयोग से लेकर लगातार क्रिया-प्रयोग तक की परिचायित सम्प्रेषणशीलता प्राप्त होती है।' [4] 'इस दृष्टि से 'गोदान' मे यदि वस्तुगत गद्य

---

1 गोदान का महत्त्व —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, भूमिका पृष्ठ 203

2 गोदान का महत्त्व —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, मे डॉ० राजेन्द्र कुमार का लेख 'गोदान की रचना दृष्टि', पृष्ठ 117

3 गोदान का महत्त्व —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, मे प्रो० परमानन्द श्रीवास्तव का लेख 'गोदान की सरचना', पृष्ठ 99

4 गोदान का महत्त्व —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र मे पाण्डेय शशिभूषण 'शीताशु' का लेख, पृष्ठ 68

के दर्शन होते है, तो महाकाव्यात्मक गद्य के भी, यदि जीवन-यथार्थ के ग्राम्य गद्य के दर्शन होते है, तो नेताओ के भाषण और प्रोफेसरो के व्याख्यान वाले लचीले और मानक्र गद्य के भी। भाषा प्रयोग के इस वैविध्य के मूल मे कथ्य और चरित्र की व्यक्ति-सामाजिक विविधता द्रष्टव्य है।' 1

प्रेमचन्द से प्रभावित होकर उन्ही के ढग के उपन्यासो की रचना मे प्रवृत्त होने वाले उपन्यासकारो मे विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक, शिवपूजन सहाय, भगवती प्रसाद वाजपेयी, चण्डी प्रसाद हृदयेश, राजाराधिकारमण प्रसाद सिह, सियाराम शरण गुप्त आदि प्रमुख है। प्रेमचन्द युगीन लेखको मे विश्वभर नाथ कौशिक विषयवस्तु और भाषा दोनो ही दृष्टियो से प्रेमचन्द के सर्वाधिक निकट है। इन्होने दो उपन्यास 'माँ' (1929) और 'भिखारिणी' (1929) लिखे, जो एक साथ प्रकाशित हुए। लेकिन विषयवस्तु की ऊपरी और आशिक समानता के बावजूद कौशिक प्रेमचन्द की तरह बडे पाट वाले लेखक नही है। 'माँ' मे वे एक आदर्श माँ का चरित्र अकित करने का लक्ष्य लेकर चलते दिखाई देते है, लेकिन आगे चलकर अपने लक्ष्य से भटक जाते है और युग के सुधारवादी आग्रहो के परिणामस्वरूप वेश्यागमन की बुराइयो और उनसे बचाव के उपायो की ओर मुड जाते है। इससे रचना मे विखराव दिखाई देता है, जो उसकी प्रभावान्विति को क्षति ग्रस्त करता है। 'भिखारणी' एक प्रेमकथा के रूप मे लिखित रचना है, जिसमे घटनाओ का विकास नाटकीय होने के कारण सहज और विश्वसनीय नही बन पडा है। उपन्यास का प्रमुख बिन्दु प्रेम और कुलीनता का द्वन्द्व है, जिसमे अन्तत: कुलीनता की ही विजय होने से उपन्यास दु:खान्त रूप मे समाप्त होता है। रामनाथ विवाह करके अपनी सुन्दर पत्नी के साथ नई गृहस्थी मे रमकर अपने दु:ख को भुलाने का प्रयत्न करता है, लेकिन जस्सो (भिखारिणी) जीवन भर कुँवारी रहकर प्रेम के प्रति अपने एकनिष्ठ समर्पण का उदाहरण प्रस्तुत करती है। वस्तुत: जस्सो की मनोव्यथा में निहित अवसाद और करुणा की भूमिका मे ही उपन्यास का प्रमुख आकर्षण दिखाई देता है।

एक रचनारूप के तौर पर हिन्दी उपन्यास पश्चिम की देन है, लेकिन भारतेन्दु युग मे ही अपनी सांस्कृतिक जडों की जो तलाश शुरू हुई थी, उसकी तेजस्वी उपस्थिति इस युग मे भी देखी जा सकती है। सस्कृत साहित्य की गौरवशाली गद्य एव आख्यान परम्परा के बावजूद उपन्यास के क्षेत्र मे उसके पुरान्वेषण का कोई गम्भीर प्रयत्न नहीं किया गया। चण्डी प्रसाद शर्मा का इस दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व है कि उन्होने उपन्यास के रूप मे एक ऐसे साहित्य-रूप की परिकल्पना की जो कथानक और चरित्र-चित्रण की दृष्टि अग्रेजी उपन्यास के समान होने पर भी शैली और प्रकृति-चित्रण आदि मे सस्कृत की आख्यान -परम्परा के निकट हो। इसी लक्ष्य को सामने रखकर उन्होने दो उपन्यासो-'मनोरमा' (1924) और 'मगल प्रभात' (1926) की रचना की। 'मनोरमा' मे लेखक पति के शकाशील स्वभाव के कारण नायिका 'मनोरमा' के विचलन की कहानी कहता है। 'मगल प्रभात' 'मनोरमा' की अपेक्षा बडा उपन्यास है, जो धार्मिक या नैतिक उपन्यास दिखाई देता है। सुभद्रा, अन्नपूर्णा, आनन्द स्वामी, राजेन्द्र और बसत आदि के माध्यम से लेखक त्याग, सेवा और आत्मसयम के गुणो को उद्घाटित करता है। दूसरी ओर प्रेमतीर्थ, सग्राम सिह और यदुनदन सिह आदि खलपात्रो द्वारा सत् और असत् के सघर्ष मे सत्य की विजय के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने की चेष्टा की है। कथानक के बीच-बीच में प्रकृति के विस्तृत अलकृत वर्णन भी दिए गए है। शैली भी निष्प्राण हो गई है। इन उपन्यासो मे घटनाये सीमित और सक्षिप्त है। कथानक का विकास बिना किसी जटिलता के सीधे-सादे रूप में होता है। चरित्रो का विकास द्वन्द्वों एवं मानसिक तनावो से प्राय: अछूता है। वे अच्छे और बुरे दो स्पष्ट साचों में ढले हुए हैं। इनकी अलकृत और कवित्वपूर्ण शैली ही इनका मुख्य आकर्षण है।

---

1 गोदान का महत्त्व —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र मे पाण्डेय शशिभूषण 'शीताशु' का लेख, पृष्ठ 69

चण्डी प्रसाद शर्मा 'हृदयेश' से भिन्न शिव पूजन सहाय अपने 'देहाती दुनिया' (1926) मे ठेठ देहात की भाषा का देशज मुहावरा ढूढ और गढ रहे थे। 'देहाती दुनिया' की भूमिका मे उन्होने लिखा है, ''मैं ऐसी ठेठ देहात का रहने वाला है जहाँ इस युग की नई सभ्यता का बहुत ही धुधला प्रकाश पहुँचा है। वहाँ केवल दो ही चीजे प्रत्यक्ष देखने मे आती है—अज्ञानता का घोर अधकार और दरिद्रता का ताण्डव नृत्य। वही पर मैने स्वय जो कुछ देखा-सुना है, उसे यथाशक्ति ज्यो का त्यो इसमे अकित कर दिया है। इसका एक शब्द भी मेरे दिमाग की खास उपज या मेरी कल्पना नहीं है। यहाँ तक कि भाषा का प्रवाह भी मैने ठीक वैसा ही रखा है, जैसा ठेठ देहातियो के मुख से सुना है।'[1] 'देहाती दुनिया' का गाँव, अपनी निर्धनता, अज्ञानता, रूढियो और अधविश्वासो की मार सहता हुआ भारत का एक प्रतिनिधि गाँव है। कथानक पर्याप्त असबद्ध है, लेकिन व्यग्य और बिम्बो के मेल से बनी भाषा से चरित्राकन की जो पद्धति अपनाई गयी है, उससे ही उपन्यास को एक विशिष्ट पहचान मिलती है।

सियाराम शरण गुप्त की वास्तविक पहचान एक कवि के रूप मे रही है। लेकिन अपने तीन उपन्यासो, 'गोद' (1932) 'अतिम आकाक्षा' (1934) और 'नारी' (1937), द्वारा उपन्यास के क्षेत्र मे भी उनका सर्जनात्मक हस्तक्षेप कई कारणो से उल्लेखनीय है। अपने इन उपन्यासो मे उन्होनें भारतीय ग्राम जीवन के सामान्य पात्रो को ही केन्द्र मे रखा है। उपन्यास का फलक प्रेमचन्द के उपन्यासो की तरह बहुत व्यापक भले ही न हो, लेकिन ग्रामीण समस्याओ के प्रति युवा पीढी की हार्दिक सलग्नता मे ही उपन्यास का महत्त्व निहित है।

वृन्दावनलाल वर्मा और चतुरसेन शास्त्री जैसे लेखको ने आगे चलकर भले ही अपनी मुख्य पहचान ऐतिहासिक और सास्कृतिक पृष्ठभूमि पर लिखे जाने वाले उपन्यास लेखको के रूप में बनाई हो, लेकिन अपने उपन्यास लेखन की शुरुवात इन लोगो ने सामाजिक उपन्यासो से ही की थी। 'लगन', (1928), 'सगम' (1929), 'प्रत्यागत' (1929), 'कुण्डलीचक्र' (1929) और 'प्रेम की भेट' (1931) आदि सामाजिक उपन्यास है। प्रेमचन्दीय विचारो और इच्छाओ की ओर से काफी कुछ उदासीन रहकर वृन्दावन लाल वर्मा का 'गढ कुण्डार' ऐतिहासिक उपन्यास को एक आश्चर्यकारी प्रौढता प्रदान करता दिखाई देता है। प्राचीन आदर्शो के नाम पर समूची जीवन परम्परा मे पलते ढोग और पाखण्ड को भगवती चरण वर्ता अपने चित्रलेखा मे (1934) मे निर्ममता पूर्वक उद्घाटित करने का प्रयास करते है। जयशकर प्रसाद एव भगवती प्रसाद वाजपेयी इस युग के अन्य उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं, जिन्होने इस युग मे अपनी अलग पहचान बनाई। भगवती प्रसाद वाजपेयी ने प्रेम सम्बन्धो को लेकर अनेक उपन्यास लिखे। उनका पहला उपन्यास 'मीठी चुटकी' (1927) व्यक्तिवादी उपन्यासो की इस धारा की शुरुवात करता है। इसके पश्चात् 'पतिता की साधना' (1936), पिपासा, (1937), 'निमत्रण' (1942) आदि उनके उल्लेखनीय उपन्यास है, जिसमे सामाजिक सघर्ष की उपेक्षा करते हुए अवास्तविक पात्रो की भावुकतापूर्ण स्थितियो का अकन ही उनके अधिकतर उपन्यासो मे है। उनकी भाषा भी इस भावुकता को झेलने-सवारने के कारण न तो प्रेमचन्द के उपन्यासो की भाषा की भाति जीवन और धरती से फूटी भाषा है, न ही वह जैनेन्द्र और उग्र की भाषा की तरह नये आक्रामक तेवर वाली भाषा है। जयशकर प्रसाद भी यथार्थवादी उपन्यासकार हैं, किन्तु यथार्थ के प्रति प्रसाद का दृष्टिकोण यथातथ्यवादी नही, बल्कि अनुभूति केन्द्रित था, क्योकि प्रसाद मानसिक बुनावट को यथार्थ का हिस्सा मानते थे। 'वे आतिवादी आग्रहो के

---

1 देहाती दुनिया, भूमिका पृष्ठ 8

रचनाकार नही थे। प्रचार और कला दोनो की अद्वयता के आधार पर विकसित इस दृष्टि के कारण वे विषय और विषयी दोनो को महत्त्व देते है और यह दृष्टि उनके लेखन मे क्रमशः कला से प्रचार माध्यम या सोद्देश्यता की ओर उन्मुख रही है। एक 'दिव्य आर्य सस्कृति' की स्थापना का द्विवेदीयुगीन आदर्श प्रेमचन्द और जयशकर प्रसाद दोनो में है परन्तु 'गोदान' तथा 'ककाल' मे ये आदर्श चरमराते है। ककाल मे चरमरा कर रह जाते है और गोदान मे टूट जाते है। यह आर्य सस्कृति मैथिलीशरण गुप्त मे भी है परन्तु वहॉ वह अग्रेजो के विकल्प के रूप मे प्रस्तुत है। जय शकर प्रसाद की इस कल्पना मे परम्परा की जीवतता और विश्वास है, जबकि अन्य छायावादियो मे अतीतस्मृति भी नही है।'[1] प्रसाद ने अपने उपन्यासो ककाल, तितली, इरावती— मे धार्मिक शवता और सामाजिक अपगता, विद्रूपता को ऐतिहासिक सन्दर्भो से जोडकर सास्कृतिक प्रगतिशीलता का एक नया अर्थ भी देने का प्रयास किया है। 'प्रसाद जो कुछ जैसा है उसके साथ-साथ कैसा होना चाहिये की दृष्टि भी रखते है और यह दृष्टि व्यापक परिवर्तन की मॉग से जुडती है परन्तु प्रेमचन्द की भॉति वे 'वर्तमान' को ही प्रमुख नही मानते बल्कि भविष्य को भी ध्यान मे रखते है, जो उनके अतीत और करुणा' के सिद्धान्त से मेल खाता है।'[2] ककाल (1929 ई०) की अन्तर्वस्तु वही है, जिसे प्रेमचन्द ने 'देवस्थान रहस्य' मे उठा चुके थे। प्रसाद काशी मे रहते थे और धर्मपीठो मे धर्म के नाम से होने वाले अनाचारो से पूरी तरह परिचित थे। लेकिन उपन्यास मे वे काशी तक ही सीमित न रहकर काशी के बहाने प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन और हरिद्वार आदि प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों को भी कथा में समेट लेते हैं और उस समाज का चित्र पूरी विद्रूपता के साथ प्रस्तुत कर देते हैं, जहॉ धर्म के नाम पर मनुष्य की हीन वृत्तियों का नगा नाच होता है। उनके शब्द हैं,

> ''क्यो, क्या हिदू होना परम सौभाग्य की बात है। जब उस समाज का अधिकांश पददलित और दुर्दशाग्रस्त है, जब उसके अभिमान और गौरव की वस्तु धरापृष्ठ पर नही बची- उसकी सस्कृति विडबना, उसकी सस्था सारहीन और राष्ट्र बौद्धो के शून्य के सदृश बन गया है, जब ससार की अन्य जातियॉ सार्वजनिक भ्रातृभाव और साम्यवाद को लेकर खडी है तब आपके इन खिलौनो से भला उनकी सतुष्टि होगी।''[2]

देव निरजन के रूप मे प्रसाद कथित साधु जीवन के ढोग और पाखण्डो का निर्मम चित्रण करते हैं। तारा और घटी जैसी युवतियाँ जिस यातना और उत्पीडन का शिकार बनती है उसके पीछे इन धर्मपीठो की प्रमुख भूमिका रही है। ककाल मे प्रसाद ने हिदू धर्म के अतिरिक्त मुस्लिम और ईसाई समाज मे भी इस धार्मिक व्यभिचार की व्याप्ति को अकित किया है। समाज और सम्प्रदाय कोई भी हो, स्त्री की नियति सब कही हाशिये पर है और कुलीनता तथा पुरुष के वर्चस्ववादी अहकार का शिकार उसी को होना है। इसके बावजूद भी प्रसाद मनुष्य की सम्भावनाओ के प्रति कही भी उदासीन नही है।

ककाल की कटुता और व्यग्य धर्मिता को देखते हुए 'तितली' (1934) एक भिन्न धरातल की रचना है, जहाँ उपन्यास की विषयवस्तु और उसके निर्वाह मे वे प्रेमचन्द के निकटवर्ती दिखाई देते है। जमीदार के कारिन्दो के अत्याचार धांधलियॉ और सरल हृदय जनता पर उनके अत्याचारों का अंकन प्रसाद ने गहरी करुणा और संवेदना के साथ किया है। तितली में दो समानान्तर कथाएँ साथ-साथ चलती हैं। एक कथा इन्द्रदेव और शैल की दूसरी मधुवन व तितली की। तितली के माध्यम से

---

1 प्रसाद के सम्पूर्ण उपन्यास — स० सत्य प्रकाश मिश्र, भूमिका पृष्ठ 15

2 वही,

3 ककाल पृष्ठ 56

प्रसाद नारी जीवन के भारतीय आदर्श को मूर्त करते है। प्रेमचन्द के पात्रो की अपेक्षा प्रसाद के पात्रो मे काल्पनिकता और भावुकता अधिक है। ग्राम सस्कृति के मोहक व भावपूर्ण चित्र तितली मे बहुतायत से उपस्थित हैं।

'ककाल' और 'तितली' के बाद इरावती' प्रसाद का अपूर्ण उपन्यास है। यह कामायनी के बाद की कृति है, जिसमे प्रसाद नाटको की तरह से अतीत से वर्तमान की ओर प्रक्षेपण नही है, बल्कि इसमे वर्तमान मनुष्य की दशा के आधार पर अतीत को उदाहरण या आदर्श के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। पुष्यमित्र के युवापुत्र अग्निमित्र और इरावती की प्रेमकथा के रूप मे प्रसाद ने उसकी परिकल्पना की थी।

प्रेमचन्द युगीन लेखको मे अनेक कारणो से ऊषादेवी मित्रा का अपना अलग महत्त्व है। उन्होने सर्वप्रथम एक नारी के रूप मे नारी जीवन की समस्याओ को शब्द दिया। उनके उपन्यासो मे 'वचन का मोल' (1936 ई०) 'जीवन की मुस्कान' (1939 ई०) और 'पिया' तथा 'पथचारी (1940 ई०) आदि मे भारतीय नारी के अनेक रूप देखे जा सकते है। प्रेम और कर्तव्य का द्वन्द्व उनके उपन्यासो की केन्द्रीय समस्या है जिसमे अन्ततः नारी ममता, सेवा, करुणा, त्याग आदि मानवीय अनुभूतियो के साथ खड़ी दिखाई देती है। विषमताओ और रूढियो से पीडित नारियों के चित्रण मे एक ऐसी करुणा और अवसाद सर्वत्र उपस्थित है जो उन विषमताओ के प्रति गहरे आक्रोश को जन्म देता है।

प्रेमचन्द युगीन लेखको मे राजा राधिकारमण प्रसाद सिह भी अनेक कारणों से एक उल्लेखनीय लेखक हैं। प्रेमचन्द की भाँति इनकी रचना दृष्टि भी आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के ताने-बाने से तैयार हुई थी। इनके प्रमुख उपन्यासो में 'राम-रहीम' (1936), 'पुरुष और नारी' (1939 ई०) सूरदास (1942 ई०), सस्कार (1944 ई०) और पूरब और पश्चिम (1951 ई०) आदि उल्लेखनीय है। 'राम-रहीम' अपने शीर्षक से हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द्र पर केन्द्रित उपन्यास होने का भ्रम देता है, किन्तु इसकी केन्द्रीय समस्या वेश्या जीवन से सम्बद्ध है। यह 'बेला' और बिजली नामक दो लडकियो की कहानी है जो घटनाचक्र का शिकार होकर इस पेशे मे आती है। इनके सम्पर्क मे आये लोगो के रूप मे लेखक ने भारतीय समाज के अनेक वर्गो, जातियो और धर्मो का अध्ययन पूरी विडम्बना के साथ अकित किया है। 'सूरदास' मे दो अधे व्यक्तियो की भावनाओ को, ग्रामीण परिवेश मे अकित किया गया है। इन उपन्यासो की सबसे अलग विशिष्टता भाषा है। वे हिन्दी और ऊर्दू के मेल से क्लिष्ट शब्द-भण्डार वाली सानुप्रास भाषा के प्रति अधिक आग्रहशील है, जो उनके उपन्यासो की पठनीयता को प्रभावित करती है। उनकी भाषा मे सामान्य जन-जीवन की अनुभूतियाँ नही है। विषय और प्रसग के बाहर, दार्शनिक युक्तियो और प्रकृति-चित्रण के नाम पर बेजान, बोझिल और अलकृत भाषा का घटाटोप उनके उपन्यासो की सबसे बडी सीमा है।

(3) स्वतंत्रतापूर्व प्रेमचन्दोत्तर युग

प्रेमचन्द के जीवन काल मे तथा उनके परवर्ती दौर मे, हिन्दी उपन्यास अनेक नवीन दिशाओं के संधान और अन्वेषण मे सक्रिय दिखाई देने लगते है। प्रेमचन्द में यथार्थ के जिन दो आयामों—सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक का उद्घाटन हुआ वे प्रेमचन्द के बाद अलग-अलग धाराओ मे बॅटकर अपनी धारा की अन्य अनेक सूक्ष्म बातो से सश्लिष्ट होकर बहुत तीव्र और विशिष्ट रूप मे विकसित होते गये। अतः एक ओर मनोविज्ञान की धारा बही, तो दूसरी ओर समाज चेतना की। सामाजिक चेतना से सम्पन्न उपन्यासकारों की दो धाराये स्पष्टतः दिखाई देती है जो अन्तर्वस्तु एव शिल्प दोनों ही बिन्दुओं पर अलग-अलग हैं। इन सामाजिक उपन्यासकारों मे एक धारा समाजवादी या प्रगतिवादी उपन्यास की है, जो अपने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के कारण प्रेमचन्द के उपन्यासो की सामाजिक परम्परा मे आते हुए भी उससे अलग हैं। दूसरी धारा उन उपन्यासों की है, जो

सामाजिक जीवन के यथार्थ को तो लेते है, किन्तु उनकी दृष्टि मार्क्सवादी नही होती। ये उपन्यास भी प्रेमचन्द के उपन्यास से अलग है, यद्यपि उन्ही की परम्परा मे आते है, अलगाने वाला बिन्दु है, यथार्थवादी दृष्टिकोण। इन लेखको ने भले ही प्रेमचन्द के समान राजनैतिक परिपक्वता का परिचय न दिया हो, लेकिन अपने समाज के बहुवर्णी यथार्थ को इन लोगो ने पर्याप्त विश्वसनीयता के साथ अकित किया है। इनमे पाण्डेय वेचन शर्मा 'उग्र', निराला, भगवती चरण वर्मा, अमृतलाल नागर आदि आते है, जिनकी अपनी कुछ विशिष्ट पहचान है।

इन धाराओ के समानान्तर ही ऐतिहासिक उपन्यास की धारा भी दिखाई देती है जिसका प्रतिनिधित्व वृन्दावन लाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री करते है। इस प्रकार स्वतत्रतापूर्व प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास की निम्नलिखित धाराये है, जो शिल्प के धरातल पर अपनी निजी विशिष्टताये लिये हुए है—

1 मनोवैज्ञानिक उपन्यास

2 सामाजिक उपन्यास

(क) सामाजिक यथार्थवादी उपन्यास

(ख) प्रगतिवादी या समाजवादी उपन्यास

3 ऐतिहासिक –सास्कृतिक उपन्यास

प्रेमचन्द ने उपन्यास मे 'मानव चरित्र के अध्ययन' पर बल देकर मनोवैज्ञानिक उपन्यास के उदय की परिस्थितियॉ उद्घाटित कर दी थी, जिसे जैनेन्द्र के 'परख' (1929) एवं इलाचन्द्र जोशी, के 'घृणामयी' (1929) ने पूर्ण परिपक्वता दी। जैनेन्द्र का उदय हिन्दी मे एक प्रखर औपन्यासिक प्रतिभा के रूप मे हुआ। उनकी यह प्रखरता व्यक्ति–मानव को उपन्यास के अध्ययन का विषय बनाने मे परिलक्षित हुई है। व्यक्ति मानव के रचनादृष्टि का केन्द्र होने के साथ उपन्यास का शिल्प भी सम्पन्नतर हुआ। जैनेन्द्र ने बाहरी घटनाओ के सघात मे व्यक्ति को उपस्थित न कर उसके आन्तरिक तनावो को उपस्थित किया और इस प्रयोजन के लिए व्यक्ति चेतना की गहराइयो मे जाने वाली आधुनिक औपन्यासिक प्रविधियो का विनियोग भी। 'जैनेन्द्र को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने हिन्दी उपन्यास को एक गहरी शिल्प-सजगता दी। उपन्यास का यह रूपान्तरण भारतीय चेतना के विकास का एक साहित्यिक प्रतिफल भी था। पश्चिम के मानवतावादी विचारो के प्रभाव से हमारे यहॉ इसी दुनियॉ मे मनुष्य के कल्याण की जो चेतना विकसित हुई, उससे मनुष्य और उसके समाज की तात्कालिक चिन्तायें हमारी साहित्य सृष्टि की प्रेरणास्रोत हुई।'[1] प्रेमचन्द एवं उनके युगीन कथाकारो मे मनुष्य को समझने का प्रयास व्यक्ति सामान्य की चारित्रिक सम्भावनाओ को लेकर था। मनुष्य के प्रति इस चिन्ता मे मध्यकालीन सामाजिक चेतना जिसमे व्यक्ति और समाज के बीच किसी तरह के अलगाव का भावना का अभाव था–अनिवार्य निषेध था। इन कथाकारों ने मानव–व्यक्ति की प्रतिष्ठा समाज के उपेक्षित वर्ग को साहित्यिक अर्चना का अर्ध्य देते हुए की। जैनेन्द्र से हिन्दी उपन्यास मे व्यक्ति को मनुष्य–चरित्र की सामान्यताओ से अतिरिक्त एक सर्वथा विशिष्ट अस्तित्व के रूप मे समझने का उपक्रम हुआ। यह उपन्यास मे सामान्य मनुष्य–चिन्ता से व्यक्ति–विशेष की चिन्ता का ग्रहण था, जिसे स्वातत्र्योत्तर युग मे अज्ञेय, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश ने नया तेवर एव सघर्षशील क्षमता से जोडा।

1 आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता, नवल किशोर, पृष्ठ 46

मनोवैज्ञानिक उपन्यास यात्रा मे व्यक्ति-मनुष्य को महत्त्व देने का अर्थ था पाप-पुण्य और अच्छाई-बुराई के परम्परागत रूढ विभाजन का अस्वीकार। जैनेन्द्र अपने उपन्यासो मे व्यक्ति को महत्व देते हुए प्रचलित नैतिकता पर प्रश्नचिन्ह लगाते। स्त्री और पुरुष के बीच विवाहेतर प्रेम भी सम्भव है और वह पूरी भावात्मक निष्ठा लिये हो सकता है, यह पहली बार हिन्दी मे जैनेन्द्र के उपन्यासो मे प्रदर्शित हुआ। जहॉ इस दृष्टि से वे अग्रगामिता का परिचय देते है, वही व्यक्ति की एकान्त चिन्ता उनके उपन्यासो की सीमारेखा बन जाती है।'जयवर्धन को छोडकर उनके सभी उपन्यास स्त्री-पुरुष के बीच अधिक मानवीय सम्बन्धो की चिन्ता तक सीमित है, मनुष्य के बुनियादी अभावो की चिन्ता को अपने सर्जनात्मक कर्म का विषय नही बनाते। इस कारण उनके कृतित्त्व की मानवीय अर्थवत्ता प्रेमचन्द की तुलना मे बहुत सीमित हो जाती है। इसका परिणाम उनकी कृतियो मे वैविध्य के अभाव और दोहराव मे भी लक्षित है।' [1]

जैनेन्द्र की यात्रा 'परख' (1929) से शुरू होकर 'दशार्क' (1985) तक जाती है। स्वातन्त्र्योत्तर युगीन परिस्थितियो ने उनकी उपन्यास यात्रा-'सुखदा' (1952), 'विवर्त' (1953), 'व्यतीत' (1953) 'जय-वर्धन' (1956), 'मुक्तिबोध' (1965), 'अनन्तर' (1968), 'अनामस्वामी' (1974) और 'दशार्क' (1985) -मे नये भावबोध एव मनोवैज्ञानिक गहनता से समृद्ध किया, किन्तु स्वतन्त्रतापूर्व प्रेमचन्दोत्तर युग मे 'सुनीता' (1935) एव 'त्यागपत्र' (1937) उनकी महत्त्वपूर्ण खोज है। 'परख' प्रेमचन्द के समय मे ही हिन्दी उपन्यास ससार मे आ गया था, जिसमें एक युवती के वैधव्य को केन्द्र मे रखकर उसके जीवन मे घटित द्वन्द्वो और तनावों की खोजबीन करते है। समाज यहॉ भी है, पर प्रेमचन्दीय समाज से भिन्न अर्न्तमन की स्थितियॉ प्रधान है। यही से वे 'प्रेमिका' व 'पत्नी' के द्वन्द्व को भी रेखाकित करते हैं। जैनेन्द्र 'प्रेम' व 'विवाह' को दो भिन्न और समातर स्थितियो के रूप मे स्वीकार करते दिखाई देते हैं— प्रेम मे निजता होती है, जबकि विाह एक सामाजिक कर्म है। 'सुनीता' रबीन्द्र के 'घरे-बाहिरे' [2] व 'चार अध्याय' [3] के जबाब मे लिखा गया है— 'रवीन्द्र नाथ ने सामाजिक यथार्थ की अपनी रचना मे मानो रक्षा की है, गिरस्ती टूटी नही है। पत्नी द्वारा पश्चाताप कराया गया है और जो नायक महिमामय रूप मे कथा के आरम्भ मे अवतरित हुआ है, अन्त की ओर उसे ही स्खलित और परास्त होकर मुँह बचाकर भाग जाना पडा है। गिरस्ती तो सुनीता मे भी नही टूटी है, लेकिन जिस भॉति उसकी रक्षा हुई है वह पलायन का प्रकार नही है।' [4] उन्होने बाहर को निरे आक्रमण के रूप मे घर के भीतर प्रविष्ट नही किया, हरिप्रसन्न की वहॉ अपेक्षा है, जबकि 'घरे-बाहिरे' का सदीप उनके अनुसार मानो 'बाहर की ओर से प्रहार' है। इससे स्पष्ट है कि "सुनीता' की कथा जिन्दगी की पहचान से नही लिखी गयी—'एक विचार, या कहिए प्रश्न, लेखक के मन मे उदित हुआ और उसके लिए कथा की आवश्यकता हुई। सुनीता की सारी कथा तद्विचाराधीन कल्पना के आधार पर बुनती गयी है।' [5] परिणामत: 'घरे-बाहिरे' के पात्र जहॉ विश्वसनीय है, 'सुनीता' के पात्र इतने विलक्षण, लोकातीत आचरण के पुतले हो गये है कि हम उन्हे समीप नहीं पाते। रवीन्द्रनाथ मे घटनाओ के पीछे एक सुनिश्चित और सुनिर्धारित तर्क सदैव उपस्थित रहता है, जो जैनेन्द्र के सुनीता मे नही है। हिसा-अहिसा का द्वन्द्व ही सुनीता का केन्द्रीय कथ्य है। अपने प्रति हरिप्रसन्न की हिसा को वह अपनी अहिंसा से विजित करना चाहती है, लेकिन

---

1 आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता —नवल किशोर, पृष्ठ 47

2 'ये और वे' मे रबीन्द्र से भेट

3 'स्वय जैनेन्द्र अपनी दृष्टि मे —जैनेन्द्र : व्यक्ति, कथाकार और चिन्तक, पृष्ठ 108

4 वही, पृष्ठ 108-109

5 वही पृष्ठ 108

सुनीता की निर्णय हीनता उसके द्वन्द्व को प्रभावित करती है जिसके कारण वह न तो लौटकर पति का ही वरण कर पाती है और न अपनी सारी कथित वितृष्णा के बावजूद हरिप्रशन्न के आकर्षण को छोड पाती है। उपन्यास मे हरिप्रशन्न को एक क्रान्तिकारी बताया गया है, लेकिन उसे जो व्यक्तित्त्व दिया गया है, वह अत्यन्त विपन्न व दयनीय है।सुनीता मे चित्रित ससार वाह्य यथार्थ से भिन्न है, विच्छन्न है। पात्र किसी गहरे मानवीय साक्षात्कार से नही गुजरते है।

'त्यागपत्र' नारी जीवन के चित्रण की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। इसमे बुआ के माध्यम से जैनेन्द्र एक बार फिर स्त्रीत्व एव सतीत्व के प्रश्न खडा करते है। इसमे वे समाज के प्रचलित व स्वीकृत मूल्य दृष्टि को ही प्रश्नाकित करते है और अपनी अर्थात् समूचे समाज की उच्छल सवेदना को मृणाल के पक्ष मे ढाल देने का साहसिक उपक्रम करते है एक स्त्री की असहाय व त्रासद यातना और असीम करुणा बुआ मृणाल की उन आत्मस्वीकृतियो मे छिपी हुई है जो प्रमोद को पाकर फूट पडी है—

> " जिसको तन दिया, उससे पैसा कैसे लिया जा सकता, यह मेरी समझ से नहीं आता। तन देने की जरूरत मै समझ सकती हूँ, तन दे सकूँगी—शायद वह अनिवार्य हो। पर लेना कैसे ? दान स्त्री का धर्म है। नही तो उसका और क्या धर्म है? उससे मन माँगा जायेगा, तन भी माँगा जायेगा, सती का आदर्श और क्या है? पर उसकी बिक्री-न, न, यह न होगा ।"[1]

एक यह दुनिया है जहाँ वस्तुओ के मूल्य-मान नष्ट हो गये है—जहाँ कोई रास्ता नही और एक वह जहाँ "वस्तुओ का मान बँधा हुआ है और कोई झमेला नही है। जहाँ रास्ता बना-बनाया है और खुद को खोजने की जरूरत नही है। जिज्ञासा जहाँ शान्त है और प्रश्न अवज्ञा का द्योतक है।"[2] प्रमोद क्या कर सकता है? बुआ को क्या वह इस रास्ते से कुछ हटा सकेगा। उधर बुआ की मान्यताओ को तर्क से जाँच पाना कठिन है। पति के घर को त्यागकर, सामाजिक दृष्टि मे व्यभिचार समझे जाने वाले रास्ते पर आकर भी वह समाज को तोडना फोडना नही चाहती—

> "समाज टूटा तो हम किसके भीतर बनेगे? या कि किसके भीतर बिगडेगे? इसलिए मै इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मगलाकाक्षा मे खुद ही टूटती रहूँ।"[3]

यह वह ज्ञान है, जो बुआ को आत्मव्यथा मे मिला है।मृणाल अर्थात् बुआ गांधीवादी दर्शन की प्रतिरोधहीनता से सब कुछ बर्दाश्त करती है-किसी के प्रति कटुता के बिना। 'परख' की कट्टो भी चूड़ियाँ, टिकुली की डिबिया और सुहाग के अन्य उपकरण गरिमा को लौटाकर उसके और सत्यधन के जीवन से बाहर हो जाती है। इसीलिए नवल किशोर की धारणा है कि जैनेन्द्र पर गाधी चितन का ऋणात्मक प्रभाव है। इस ऋणात्मक प्रभाव के कारण ही एक निष्क्रिय प्रतिरोधहीनता उनमे सर्वत्र बनी रहती है। अपनी इस प्रतिरोधहीनता को ही वे एक दर्शनिक और नैतिक आयाम देने का प्रयास करते है, जिसका परिणाम यह होता है, 'जैनेन्द्र प्रेम की भावात्मक स्वतत्रता को ही मान्यता देते है, उससे आगे परम्परागत नैतिक विधान को चुनौती नही देते '[4]

---

1 त्यागपत्र से

2 वही,

3 वही,

4 आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता, पृष्ठ 52

मन की जटिल ग्रन्थियो को जो भाषा जैनेन्द्र ने दी है, उसका अपना स्वभाव है, अपना व्याकरण है, अपना राग रग है। ''मन मे एक गॉठ-सी पडती जाती थी। वह न खुलती थी, न घुलती थी। बल्कि कुछ करो, वह और उलझती और कसती ही जाती थी, जो होता था, कुछ होना चाहिये था, कुछ करना चाहिये, कही कुछ गडबड है। कही क्यो सब गडबड ही गडबड है।'' भाषा के स्तर पर यह बिखराव, छोटे-छोटे वाक्य खण्ड, मन की भीतरी व सघन पर्तो के अनुरूप है, जो जैनेन्द्र की एक सचेष्ट रूपविधि है। जैनेन्द्र की वाक्य रचना अपने आप मे अलग , अपना नियम स्वय ही है। मृणाल 'त्यागपत्र' मे ही महत्त्वपूर्ण स्थान नही रखती। बल्कि हिन्दी उपन्यास यात्रा की महत्त्वपूर्ण चरित्र है। 'मृणाल के कैशोर्य और यौवन के बीच की रेखा बहुत धुँधली है। अपनी अभिभाविका भाभी के कठोर व्यवहार से वह असमय बडी, वयस्क, दु:ख की सवेदना से परिचित हो जाती है—शीला के भाई से प्रेम उसके लिए प्रेम के नाम पर एकमात्र मूल्यवान अनुभव है जिससे प्रयत्नपूर्वक अपने को अलगाने की कोशिश ने उसमे भयानक गॉठे उत्पन्न कर दी है। जीवन के अगले हिस्से मे वह जिन पुरुषों को शरीर या मन देती है, वह उसका अपने उस क्रूर समाज से बदला है जिसने उसे अवाछित बधन से तब बाँध दिया जब उसका मन कही भी बॅधने के लिए तैयार नही था।' [1]

इस मनोवैज्ञानिक उपन्यास-यात्रा मे जैनेन्द्र के साथ इलाचद्र जोशी की सक्रियता भी उल्लेखनीय है। 'परख' के प्रकाशन वर्ष ही जोशी जी के 'घृणामयी' का प्रकाशन होता है,लेकिन रचनात्मक स्तर पर 'परख' जिस परिवर्तन और उससे जुडी सभावनाशीलता का परिचय देता है, 'घृणामयी' उससे दूर है। स्वतत्रतापूर्व युग मे 'सन्यासी' (1940) उनका अगला पडाव है, किन्तु इसी वर्ष अज्ञेय ने 'शेखर . एक जीवनी' का प्रथम भाग लिखकर हिन्दी उपन्यास जगत मे शिल्प विधि की क्रान्ति कर दी। सन् 1944 मे इसका दूसरा भाग प्रकाशित हुआ। अपने प्रकाशन के बाद से ही यह रचना और आलोचना दोनो ही स्तरो पर चुनौतीपूर्ण रहा है। डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र के शब्दो मे 'चीजो को देखने के दृष्टिकोण का बदलाव ही शेखर की रचना का कारण है। शेखर का देखना मूलत: वही से शुरू होता है जहॉ होरी' मरता है।' [2] अन्य स्थल पर डॉ० मिश्र लिखते है—

> ''अपने आप मे अज्ञेय की हिन्दी उपन्यास को यह एक बडी देन है कि उन्होने साहसपूर्ण स्वीकृति को मूल्य के रूप मे प्रस्तुत किया और उसके लिए जैनेन्द्र की तरह से किसी दर्शन या आदर्श की वैसाखी नही पकड़ी। प्रेमचन्द के उपन्यासों मे पाये जाने वाले सरलीकरणो या प्रश्नों के उत्तरो की अपर्याप्तता से अज्ञेय परिचित थे और 'गोदान' तक पहॅुचते -पहॅुचते प्रेमचन्द भी दिये गये उत्तरो से असतुष्ट थे। 'गोदान' उत्तरहीनता का उपाय है— वह प्रश्नो और समस्याओं को खुला छोड देता है।'' [3]

इसलिए इस आलोचक की दृष्टि मे 'शेखर एक जीवनी' ऐसी रचना है जिसकी रोशनी उससे पहले के और बाद के उपन्यास साहित्य पर पडती है। 'शेखर को पढते ही लगता है कि न केवल उपन्यास लिखने का तरीका बदल गया बल्कि उपन्यास पर विचार करने का तरीका भी बदल गया। द्विवेदीयुगीन मनोरंजन और सोद्देश्यतावादी धारणा से सहसा हम वैचारिकता और

---

1 उपन्यास का पुनर्जन्म —डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 40

2 शेखर एक जीवनी विविध आयाम —स० डॉ० रामकमल रायस मे डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र का लेख —'शेखर एक जीवनी—परम्परा, तकनीकि और उपलब्धि', पृष्ठ 109

3 वही, पृष्ठ 108

उद्देश्य की खोज के जगत मे प्रवेश कर जाते है।' 1 डॉ० राम स्वरूप चतुर्वेदी भी कुछ इसी स्वर मे 'शेखर एक जीवनी' को रेखाकित करते है—

> ''अज्ञेय ने जब शेखर लिखा उस समय हिन्दी उपन्यास घटना और कथानक बहुलता से ऊपर उठकर चरित्राकन को महत्व दे रहा था। चारित्रिक व्यजना की दृष्टि से प्रेमचन्द निश्चय ही हिन्दी के शीर्षस्थ उपन्यासकार रहेगे। पर चरित्र के आचरण और व्यवहार की दृष्टि से गहरे स्तर पर सगति की खोज अभी आरम्भ न हुई थी। जैनेन्द्र के साथ अज्ञेय इस दिशा के आरम्भिक प्रयोगकर्ताओं मे है, जिन्होंने चरित्र के आचरण को समझने के लिए समग्र व्यक्तित्त्व और उसकी सम्भावनाओ को समझने का उपक्रम शुरू किया।'' 2

इतना ही नही 'शेखर के माध्यम से लेखक ने न केवल हिन्दी उपन्यास के आभ्यन्तर को रूपान्तरित किया, वरन् स्वय अपनी रगहीन और सपाट कविता-भाषा का गहरा और रचनात्मक सघात पाया। अज्ञेय की काव्य भाषा का पहला महत्त्वपूर्ण साक्ष्य 'शेखर' ही है, जो स्वय गद्य-भाषा की उपलब्धि है, पर जिसने लेखक की अब तक प्राय भटकती और लडखडाती कविता-भाषा को भी एक नयी रचनात्मक दिशा की ओर उन्मुख किया।' 3

'शेखर : एक जीवनी' की कथानक - सघटना अपने पूर्ववर्ती उपन्यासो के कथानको जैसा सपाट और एक गति नही है, वरन् इसके तल मे अनेक कथासूत्र हैं जो विभिन्न, स्वतंत्र दिशाओ मे बढते हुए कथानक को विकसित करते है। घटना, कथानक और चरित्र से आगे बढकर वह प्रधानत: सवेदन को अकित करता है। स्थूल विवरण और इतिवृत्त पर बल न देने के कारण उपन्यासकार यह सम्भव पाता है कि वह मानव व्यक्तित्व को उसकी समग्रता मे देखे और उसकी सगति समझ सके। 'शेखर निस्सन्देह एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज a record of personal suffering है।' 4 परन्तु यहॉ समाज और युग बोलता है, जो वाह्य यथार्थ के चित्रात्मक रेखांकन के रूप में नही, जीवन-मूल्यो और आदर्शो के रूप मे है। 'शेखर' मे निजी व्यक्तित्त्व और राष्ट्रीय जीवन को संपृक्त रूप में प्रस्तुत करने की रचनात्मक चेष्टा बराबर मिलती है और इसमें सन्देह नही कि शेखर का निजी व्यक्तित्त्व जितना निजी है, राष्ट्रीय जीवन की चिन्तना उतनी ही व्यापक है। राष्ट्रीय जीवन को अधिकाधिक उन्मुक्त, समतल और सर्जनात्मक बनाने की बुनियादी चिन्ता शेखर के व्यक्तित्त्व में गहरे स्तर पर है।' 5 'शेखर: एक जीवनी' जो कि शेखर नामक व्यक्ति का जीवन चरित्र है— का 'कथानक घनीभूत वेदना की केवल एक रात मे देखे हुए 'विजन को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है।' 6 इस प्रक्रिया मे 'शेखर' विद्रोह का आख्यान है और यह विद्रोह वैयक्तिक स्तर पर जितना उत्कट है, जीवन के वाह्य क्षेत्रो में उतना प्रखर भी। शेखर की विद्रोही चेतना का प्रारम्भिक प्रस्फुटन इस यातना की छटपटाहट —एक ओर बालक की जन्मजात प्रवृत्ति का उन्मेष और दूसरी ओर उसे कॉट-छॉट कर रूढ एव टाइप बनाने वाली शक्तियॉ—मॉ, बाप, ब्राह्मण, भिक्षु-अतिथि, शिक्षक, जाति-धर्म—मे निहित है। शेखर का विद्रोही मन इन सबका

---

1 शेखर एक जीवनी . विविध आयाम, मे डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र का लेख, पृष्ठ 103

2 शेखर . एक जीवनी विविध आयाम —स० रामकमल राय, मे डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का लेख —'शेखर व्यक्तित्व का नया आयाम, पृष्ठ 20

3 वही, पृष्ठ 20

4 शेखर · एक जीवनी

5 रामस्वरूप चतुर्वेदी का लेख —शेखर : व्यक्तित्व का नया आयाम, पृष्ठ 28

अपने स्तर पर विरोध करता है। परपरा का एक शिकजा शिक्षा के रूप मे व्यक्ति की गरदन को कसता है। टाइप बना देने वाली इस शिक्षा के विरोध मे शेखर कान्वेट स्कूल की सिस्टर के प्रति विद्रोह करता है।स्कूली अनुशासन के प्रति विद्रोह करता है। शेखर तीन महती प्रेरणाओ का उल्लेख करता है—भय, अहता व सेक्स। घास-पूस से मढे शेर से डरने वाला शेखर अपनी अहता के बल पर अनुभव करता है कि डर डरने से होता है। डर पर आघात करने की बात इस विद्रोही के मन पर ऐसे जम जाती है कि वह हर व्यवस्था, शासन के डर पर भी आघात करता है।'असल मे शेखर जैसा जन्मजात विद्रोही का व्यक्तित्त्व कुछ ऐसा तरल परिवर्तनशील और संवेदनशील होता है कि हर नया सौन्दर्यानुभव उसके लिए अपने व्यक्तित्त्व को अतिक्रान्त करने का और नये स्तर पर उसे पुन· सगठित करने का कारण बनता है। सौन्दर्य मे हरखना, लय मे डूबना, महावीर की नग्न प्रतिमा मे सौन्दर्यानुभव करना शाति की मधुर शीतल सॉस मानो उसके मन पर एक हल्का सा परिमल बिखेर गयी।' [1]
—वह सोचता है—

> ''मै अकेला इसलिए हूॅ कि मै उस प्रकार का नही हूॅ, जिसे लोग अच्छा कहते हैं, मै पढता नही हूॅ, किसी का कहना नही मानता ढीठ हूॅ, लडाका हूॅ, शैतान हूॅ'' [2]

वस्तुत: ये निर्णय समाज के है, जो शेखर पर आरोपित कर दिये गये है। शेखर आत्मलीन होकर, अपने को रूढ समाज से काटकर 'सविनय अवज्ञा' के ढग पर विद्रोह करता जान पडता है। वह इसीलिए देख पाता है कि ''उसके ससार के अलावा एक और ससार है, जिसमे पक्षी रहते है, जिसमे स्वच्छन्दता है। जिसमें विश्वास है, जिसमे स्नेह है, जिसमे सोचने की या खेलने की अबाध स्वतत्रता है जिसका एक मात्र नियम है— वही होओ जो कि तुम हो'' [3] यही विद्रोही चेतना सामाजिक-विषमता से जुडकर उसे क्रान्तिकारिता के मार्ग की ओर उन्मुख करती है। उसकी धारणा है—

> ''मुझे तो फॉसी की कल्पना सदैव मुग्ध की करती रही है . एक सम्मोहन एक निमन्त्रण जो कि प्रतिहिंसा के इस यत्न को भी कवितामय बना देती है। '' [4]

इसीलिए डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र की धारणा सत्य है कि''शेखर में सर्वत्र 'मुक्ति', 'स्वतत्रता', 'निर्बन्धता', 'अपने को जानने और पाने की खोज-'आत्म की खोज' (युग के अर्थ में) और यौन वर्जनाओ से मुक्ति की कोशिश संरचना तत्त्व के रूप मे विद्यमान है जिसका प्रमाण बचपन से नौजवानी तक के अनुभव पर केन्द्रित यह उपन्यास ही है जहॉ चेतन-अचेतन के खजाने से अनेक मूल्यवान रत्न और आकाक्षाएँ स्मृति के माध्यम से रूप ग्रहण करती है।'' [5]

शशि के साथ सम्बन्ध और उसकी सघन-प्रगाढ संवेदना शेखर की मुक्ति और सार्थकता दोनो ध्रुवान्तो से जुडी है। दोनो प्रेम के उस स्तर तक जाते है जहॉ तक पहुॅचने के लिए उन्हे बहुत कुछ तोडना पडा और नये सिरे से सिरजना पडा। शेखर कहता है—

> 'सबसे पहले तुम, शशि। इसलिए नही कि तुम जीवन मे सबसे पहले आयी या कि तुम सबसे ताजी स्मृति हो। इसलिए कि मेरा होना अनिवार्य रूप से तुम्हारे होने को लेकर है—ठीक वैसे ही जैसे तलवार मे धार का होना सान की पूर्व कल्पना है।'

---

1 शेखर : एक जीवनी . विधि आयाम — स० डॉ० रामकमल राय, मे चन्द्रकान्त वादिवडेकर का लेख —'शेखर के विद्रोह का स्वरूप', पृष्ठ 33
2 शेखर एक जीवनी, भाग एक, पृष्ठ 57
3 वही, पृष्ठ 61
4 वही, पृष्ठ 15
5 शेखर . एक जीवनी विविध आयाम —स० डॉ० राम कमल राय, मे डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र का लेख, पृष्ठ 107

शशि के प्रति शेखर का प्रेम भाई-बहन के सामान्य प्रेम से कुछ विशिष्ट है। शेखर और शशि दोनो बचपन से ही एक-दूसरे को भाई-बहन के रूप मे जानते है, यद्यपि भाई-बहन की तरह दोनो साथ नही रहते।

वस्तुत: 'शशि और शेखर का सम्बन्ध जिस रूप मे प्रस्तुत हुआ है, उसे कोई नाम नही दिया जा सकता, वह 'स्वस्थ सयत सम्बन्धातीत सम्बन्ध है, जिसके लिए समाज अब तक कोई नाम गढने मे समर्थ नहीं हो पाया है। सच पूछे तो शशि-शेखर का सम्बन्ध समाज द्वारा निर्धारित प्रेम-सम्बन्ध को गहरी चुनौती है।' [1] वे समाज द्वारा बनाये गये सम्बन्ध मर्यादाओ के शिकार तो होते है, पर ज्यो ही उन्हे स्थिति का ज्ञान होता है वे उस जड सडी गली मर्यादा को चुनौती देते है। उन्होने शशि-शेखर की कहानी के माध्यम से एक ऐसे मानवीय, निसर्गसिद्ध सम्बन्ध की खोज की है जो किसी जड मर्यादा की देन न होकर व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सहज रूप से मानवीय उष्मा से उभरा है।

'शेखर : एक जीवनी' मे अज्ञेय ने आत्म विश्लेषण, पूर्व-दीप्ति, चेतना-प्रवाह तथा क्लोज-अप, स्लो-अप जैसी अनेक नूतन शिल्प प्रविधियो का प्रयोग किया है। चरित्र-नायक 'शेखर' जीवन के अतिम क्षणो मे अपने सम्पूर्ण अतीत का प्रत्यवलोकन करता है। इस विषय के प्रतिपादन के लिए लेखक के लिए नवीन शिल्प विधि का प्रयोग किया, जो विविधता लिये हुए है। शेखर जहाँ अपने विगत जीवन का पुनर्वेक्षण करता है वहाँ लेखक ने 'पूर्व-दीप्ति' या 'कट बैक', शिल्प-प्रणाली का प्रयोग किया है और जहाँ शेखर अपने गत जीवन से एकाकार हो जाता है वही उपन्यास लेखक प्रथम पुरुष वर्तमान काल मे कथा कहने लगता है। अत: डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र के शब्दो मे कहे तो, 'यह उपन्यास पात्र, घटना, ऐतिहासिकता, यथार्थ का स्थूल चित्रण, काल की ऋजुरेखीय अवधारणा और निष्कर्षात्मकता, स्थिरता आदि को नकारता है और उपन्यास की वह परिभाषा निर्मित करता है जो शेखर के आधार पर ही बनती है।' [1]

सामाजिक-यथार्थवादी धारा मे महत्त्वपूर्ण बदलाव स्वातत्र्योत्तर उपन्यास यात्रा मे ही स्वस्थ एव विकसित रूप मे दिखाई देता है। किन्तु स्वतंत्रतापूर्व युग मे निराला का 'कुल्लीभाट' (1939), 'बिल्लेसुर बकरिहा' (1942) उपन्यास विधा को एक अलग पहचान देता है। भगवती चरण वर्मा की शुरुवात भले ही 'पतन' (1928) से हुई हो, लेकिन उनकी पहचान 'चित्रलेखा' (1934) से बनी, जो प्रेमचन्द के समय की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इन्होने उपन्यास को फिर मनोरजन से जोडकर देखा और प्रेमचन्द परम्परा के कथाकारो पर आरोप लगाया कि वे उपन्यास के मूलतत्त्व के रूप मे स्वीकृत मनोरजन की उपेक्षा करते है।

> ''प्रगतिवाद मे राजनैतिक दर्शन और समाजशास्त्र को साहित्य का साक्ष्य माना गया है, आनन्द और मनोरंजन को केवल साधन के रूप मे स्वीकार किया गया है। मेरे मत मे यही प्रगतिवाद की सबसे बडी कमजोरी है, क्योकि प्रगतिवाद मे कला के मूल स्रोत को ही अस्वीकार करके साहित्य की महत्ता हरण कर ली गयी है।''

'चित्रलेखा' पाप-पुण्य की समस्या से अलग, चित्रलेखा की कथा है और जीवन के भौतिक धरातल पर वासना के माध्यम से प्रेम की उदात्त भूमि पर आरोहण करने का चित्रलेखा का प्रयत्न इस उपन्यास का मुख्य विषय है। चित्रलेखा मे अपेक्षाकृत

---

1 गोपाल राय का लेख, शेखर एक जीवनी:: विविध आयाम —स० डॉ० रामकमल राय

2 शेखर एक जीवनी · विविध आयाम —स० डॉ० रामकमल राय, मे डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र का लेख —'शेखर · एक जीवनी · परम्परा, तकनीक और उपलब्धि, पृष्ठ 112

3 साहित्य की मान्यताएँ पृष्ठ 26

अधिक साहस और स्पष्टता से हमारी पूर्वस्वीकृत धारणाओं पर प्रश्न-चिन्ह लगाया गया है। इस उपन्यास की कथा की घटनाये और पात्रो की स्वभाव विशेषताये इतनी घुल-मिल गई है कि ऐसी एक भी घटना या प्रसग अलग नही किया जा सकता, जो कथा के विकास एव मोड की दृष्टि से अनावश्यक हो। ऐसा एक भी प्रसग नही है जो पात्रो के स्वभाव वैशिष्ट्य से मेल न खाता हो। प्रसग और पात्र-वैशिष्ट्य की यह एकात्मकता शिल्प की दृष्टि से अद्भुत है। उपन्यास की एक अन्य विशेषता उसकी नाट्यात्मकता है। भोगी चित्रगुप्त और योगी कुमारगिरि के बीच झूलती हुई चित्रलेखा इस नाटकीय विधान के केन्द्र मे है।

उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृतलाल नागर, नरेश मेहता का अवदान स्वातंत्र्योत्तर युग मे ही प्रमुखता के साथ उपस्थित है। प्रगतिवादी धारा के राहुल, यशपाल, नागार्जुन, रागेय राघव, अमृत राय, भैरव प्रसाद गुप्त, भीष्म साहनी जैसे अन्यान्य रचनाकारो मे यशपाल 'देशद्रोही' (1943ई०), 'दिव्या' (1945) के साथ एव राहुल जी 'सिह सेनापति' (1942) के साथ स्वतत्र्योत्तर युग के महत्त्वपूर्ण पडाव है, जो वहॉ पर शोध का विषय होगा।

ऐतिहासिक उपन्यास धारा प्रेमचन्द के समय मे ही 'गढ़कुण्डार' (1928, वृन्दावन लाल वर्मा) के द्वारा अपनी अलग पहचान रखे हुए है, किन्तु प्रेमचन्द के बाद वृन्दावन लाल वर्मा ने 'मृगनयनी', अचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'वैशाली की नगरवधू' हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'वाण भट्ट की आत्मकथा' द्वारा इसे गहरा सास्कृतिक एव ऐतिहासिक तेवर दिया। शिव प्रसाद मिश्र ने 'बहती गगा', (1952ई०), शिव प्रसाद सिह ने 'नीला चॉद' (1988) लिखकर ऐतिहासिकता को समकालीनता से जोड दिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस धारा की शिल्प विधि का अध्ययन स्वातत्र्योत्तर परिवेश मे ही युक्तिसगत है। 'वाणभट्ट की आत्मकथा' (1946 ई०) यद्यपि की स्वतत्रतापूर्व युग में लिखा गया, किन्तु इसकी चेतना स्वातत्र्योत्तर युग की चेतना की आहट है, जो कही-कहीं समकालीनता का भाष्य भी है। अतः इसे स्वातत्र्योत्तर युगीन शिल्प विधि के शोध मे रेखाकित करूँगा।

अध्याय : 3

स्वातंत्र्योत्तर भारत और हिन्दी उपन्यास

स्वातंत्र्योत्तर भारत और हिन्दी उपन्यास

स्वातंत्रयोत्तर भारत : विविध दिशाएँ

सन् 1945 से अब तक का समय भारत के ही नही विश्व इतिहास मे भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। द्वितीय महायुद्ध की भीषण घटना से मनुष्यता का जो विध्वस हुआ उसके साथ पुरानी दुनिया अपने समस्त जीवन्त मूल्यो तथा जीवनमान के साथ ध्वस्त हो गई। साम्राज्यवादी मूल्य, पूँजीवादी व्यवस्था, तानाशाही तथा धर्मकाड का ढाचा धीरे-धीरे निर्बल होकर खण्ड-खण्ड होने लगा। यह समय नवोन्मुक्त देशो की स्वतत्रता के साथ एशिया, अफ्रीका की तीसरी दुनिया के लिए नवजागरण का परिवेश लेकर उपस्थित हुआ। सन् 1947 मे भारत विभाजित होकर स्वाधीन हुआ और उसी के साथ नई समाज रचना और मानवीय मुक्ति की नई चुनौतियॉं, नये प्रश्न उत्पन्न हुए। सही माने तो 'सन् 47 में चौदह अगस्त की रात और 15 अगस्त की सुबह के बीच देश की स्वाधीनता बहुत कुछ एक झटके की तरह आई। वैसे एसे बहुत लोग थे जो इस रात सोये ही नही थे, लेकिन सोकर सुबह उठने वालों को कही कुछ अजूबा और चमत्कार नही लगा। बलतत सिह के 'काले कोस' के निसार की तरह जो लोग मर-पिचकर पाकिस्तान गये थे,उन्हे एक सा ही आसमान देखकर हैरत हुई थी और कृष्णा सोबती की 'आजादी शम्मोजान' की तरह जो लोग यही रह गये थे, गली में हुई सजावट और झडियों के बावजूद उनके लिए कमरे की उन्ही बोसीदा दीवारो और झिलंगी खट पर वे ही पुरने और कुछ बीमार से ग्राहक थे, जिनके साथ उसे पहले की तरह ही वही सब कुछ करना था।'[1]

स्वातत्र्योत्तर भारत मे व्यक्ति और समाज दोनो ही एक विशिष्ट सक्रमण प्रक्रिया से गुजर रहे है। यह काल देश के आर्थिक नव-निर्माण के समान ही नये जीवन निर्माण का काल भी बनकर सामने उपस्थित हुआ। सविधान बना, पच-वार्षिक योजनाएँ बनी, प्रजातत्रात्मक शासन व्यवस्था के नारे भी गूँजे परन्तु इन

1 हिन्दी उपन्यास का विकास—मधुरेश, पृ० 181

सभी के बीच व्यक्तिवाद, वर्गवाद, भ्रष्टाचार तथा विघटन के तत्त्व तेजी से जनमानस में पसरने लगे। अपना सब कुछ देश की स्वाधीनता के लिए फूँककर जो लोग स्वतत्रता संग्राम मे कूद पडे थे और अपना सब कुछ लुटाकर स्वतत्र भारत से उन्होने जो आशाएँ लगा रखी थी, वे सब धूल धूसरित हो गये थे क्यो कि स्वतत्रता के बावजूद जहॉ एक ओर सब कुछ विघटित हो रहा था, वहॉ व्यापक दृष्टि से नव-निर्माण की कोई आशा उन्हे नही दिख रही थी। नेहरू भ्रष्टाचार और कालाबाजारी के बिरूद्ध लम्बी-चौडी घोषणाओ के बावजूद, तेजी से फैलती और पसरती इस हाहाकारी बाढ के आगे असहाय थे। 15 अगस्त 48 को यशपाल ने 'विप्लव' के दो पृष्ठो पर फहरते हुए राष्ट्रीय झण्डे का चित्र देते हुए मोटे-मोटे अक्षरो मे जो लिखा उसकी आहट वर्तमान सन्दर्भ मे भी सुनाई देती है— '15 अगस्त 1948 के दिन' और इसके बाद की पूरी इबारत इस प्रकार है: '15 अगस्त के दिन राष्ट्र का तिरगा झण्डा उन सरकारी इमारतो पर फहरायेगा जिनसे जनता के दमन के और सार्वजनिक अधिकारो को कुचलने के हुक्मनामे निकलते है। पद्रह अगस्त के दिन राष्ट्र का तिरगा झण्डा उन थानों और कोतवालियो पर फहरायेगा जहाँ रोटी की पुकार करनेवाले निहत्थे किसानों और मजदूरो पर आक्रमण किया जाता है। पन्द्रह अगस्त के दिन राष्ट्र का तिरंगा झण्डा उन जेलो पर फहरायेगा जिनमे निरपराध राजनैतिक बन्दी सिसक रहे हैं; यह राजनैतिक बन्दी भूखी जनता के वही प्रतिनिधि है जिन्होने ब्रिटिश दमन की चोट को सबसे आगे बढ़कर सहा था। पन्द्रह अगस्त के दिन इस झण्डे के नीचे जमीदारशाही सैकडो वर्षो तक निरीह जनता को लूटने रहने की वीरता के परिणाम मे अपनी आय से अधिक मुआवजे का आश्वासन पायेगी। पन्द्रह अगसत के दिन राष्ट्रीय झण्डे की छत्र-छाया मे पूँजीपति शाही अपनी मुनाफे की लूट पर राष्ट्रीय अधिकार को ऑच न आने का आश्वासन पायेगी।'[1] थोडा आगे चलकर मुक्तिबोध अनुभव करते हैं, "आज 1963 मे 46 वर्ष मे मै उद्घिग्न हूँ। मेरा इसान अपने देश मे भी रहकर एकातिक और उन्मूलित जीवन व्यतीत कर रहा है। इसलिए आज Lonlıness नि सगता का प्रश्न इतना प्रचण्ड है— Modernısm का अग । चाहे पालो नेरूदा हो या ज्यापाल सार्त्र हो, या नेहरू हो Modernıst लेखक एक अजीबोगरीब व्यक्तित्त्व रखता है, उसका एक कारक है उसकी उन्मूलितावस्था।"

1 विप्लव, अगस्त 48

स्वतत्रता के बाद भारत ने विज्ञान और टेक्नोलॉजी के क्षेत्र मे बुनियादी ढॉचे से सम्बन्धित क्षमता के विस्तार और अनुकूल नीतिगत उपायो से भारत ने अच्छी प्रगति की है। कृषि के क्षेत्र मे विज्ञान और टेक्नोलॉजी के उपयोग के अच्छे परिणाम सामने आये है। अनुसधान और विकास के लिए पर्याप्त राशि का प्रावधान करके जब इस नीति को सुनियोजित तरीके से लागू किया गया तो इसके नतीजे हरित क्राति के रूप मे आये, परन्तु इसका लाभ छोटे एव मझोले किस्म के किसानो को न होकर बडी जोत वाले किसानो को हुआ। हरित क्राति ने भारत को बडे पैमाने पर खाद्यान्न का आयात करने वाले देश से अनाज के निर्यातक देश मे बदल दियॉ जहॉ 1950–51 मे देश मे 5 1 करोड टन अनाज पैदा हुआ, वही 20 वी सदी के अन्तिम दशक मे 20 करोड टन से भी ऊपर पहुॅच गया। हाल के वर्षो मे नाइट्रोजन युक्त उर्वरको के उत्पादन के लिहाज से दुनिया का तीसरा सबसे बडा उत्पादक और उपभोक्ता बन गया है। श्वेतक्रांति ने भारत को दुनियॉ मे दूध का सबसे बडा उत्पादक बना दिया नीली क्राति ने मत्स्य उत्पादन को 52 लाख टन तक पहुॅचा दिया परमाणु उर्जा के क्षेत्र में भारत के पास नयी परमाणु सामग्री के इस्तेमाल से लेकर बिजली पैदा करने मे काम आने वाले विशाल रिएक्टरो की स्थापना तक के लिए तमाम तरह की टेक्नोलॉजी उपलब्ध है। अग्नि–2 एव पोखरण–2 ने भारत को नई ऊचाइयाँ दी है। इस क्षेत्र मे अनुसधान से कई तरह की सहायक टेक्नोलॉजी उभरकर सामने आयी है, जिनसे कृषि, चिकित्सा, विज्ञान और पर्यावरण प्रबध जैसे क्षेत्रो मे उल्लेखनीय प्रगति हो रही है। सुपर कम्प्यूटर, क्रायोजेनिक टेक्नोलॉजी ने तो भारत को अग्रिम पक्ति के देशो अमेरिका, जापान के समक्ष खडा कर दिया है। रक्षा अनुसधान और विकास सठन की 52 प्रयोगशालाओ कई महत्त्वपूर्ण तकनीकि क्षेत्रो मे क्षमता हासिल कर ली है। उनके प्रयासो से चालक रहित विमानो, निर्देशित प्रक्षेपास्त्रो, ऊॅचाई पर उडने वाले टोही विमानो का पता लगाने वाले रडार, लक्ष्य का पता लगाकर कई दिशाओं मे मार करने वाले टारपीडो, उच्च सॉफ्टवेयर, एसाल्ट ब्रिज और जीवन रक्षक प्रणालियो का विकास किया गया है। दूर संवेदन के लिए निचली कक्षाओ मे चक्कर लगाने वाले उपग्रहो से लेकर दूरसचार, प्रसारण, मौसम विज्ञान और प्राकृतिक आपदाओं की चेतावनी देने वाले उपग्रहो को अब देश मे ही बनाया जा सकता है। आज भारत चन्द्रमा पर मिशन भेजने की तैयारी कर रहा है। फिर भी भारतीय विज्ञान और टेक्नोलॉजी की ताकत अधिकतर भारतीयो के जीवन मे झलकती दिखाई नहीं देती। इस समृद्ध एवं विकसित भारत के समानान्तर ही वह भारत भी है जहॉ कि 40% आबादी गरीबी की रेखा

के नीचे जीवनयापन कर रही है। उसमे भी 30% आबादी तो भूखी और नगी है, झोपडियो मे रहती है और आदमी द्वारा बनायी या प्रकृति द्वारा लायी गयी विपदाओ की आये दिन शिकार होती है। उसे जीने का अधिकार भी अभी हासिल नही है। हालॉकि सत्ता उन्ही के नाम पर चलती है, वह सत्ता के आकलनो से बहिष्कृत है। सत्ता परमाणु बमो से लैस है और हजारो मील दूर मार करने वाले एटी बैलिस्टिक मिसाइल से सज्जित है, लेकिन समाज न केवल भौतिक साधनो के मामले मे गरीब है बल्कि दिमागी तौर पर भी अभी आदिम अवस्था मे है। वह धार्मिक अधविश्वासो मे जकड़ा है और जरा सा अवसर आने पर धर्म के नाम पर मरने-मारने के लिए तैयार हो जाता है।

सत्ता और समाज का यह अलगाव बहुत व्यापक और क्रूरता की हद तक गहरा है। वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था इस अलगाव को नही देख पा रही है। समाज की चिन्ताओ से मुक्त होकर सत्ता मोह से ग्रसित है। सत्ता के लिए किसी भी प्रकार के समझौते, गठबधन करने के लिए तत्पर है। राजनीति का अपराधीकरण एव अपराधी का राजनीतिकरण के बीच आज की भारतीय राजनीति विकसमान है। चम्बल के बीहडो से लेकर आर्थिक अपराधी भी इसमे फल फूल रहे है।राष्ट्रवाद, मानवतावाद, गाधीवाद, समाजवाद, साम्प्रदायिक सद्‌भाव, समतावादी समाज, सामाजिक न्याय, गरीबो का कल्याण, देशभक्ति जैसे मुहावरे आज केवल नारे हो गये है। राजनीतिज्ञो, भ्रष्ट अफसरो, महत्वाकाक्षी उद्योगपतियो, चालाक वित्त व्यवस्थापको और तस्करो, गुडों, अपराधियो के बीच जितने सम्बन्ध अब दिखाई दे रहे है, वे स्वतत्रतापूर्व के परिवेश मे अनुपस्थित थे। आजादी के बाद एक अच्छा प्रशासन तंत्र बनाना हमारे लिए एक नया काम था, साथ ही एक नई पीढी को भी तैयार करना था। अत: यह आवश्यक हो गया कि राजनैतिक नेतृत्व और प्रशासन अपनी गुणवत्ता बनये रखे। जहॉ तक प्रशासन के व्यवहार का प्रश्न है, वह अहकारी है, नियम अत्यधिक जटिल होने के कारण जनता और प्रशासन के बीच की दूरी अत्यधिक चौड़ी है। नये उद्देश्यो के लिए न तो हमने अपने ढॉचे को बदला और न ही इसके प्रशिक्षण की व्यवस्था की गयी, राजनैतिक नेतृत्व भी उसे अच्छा मार्ग न दिखा सकी। पूर्व नियत्रक एव महालेखा परीक्षक टी० एन० चतुर्वेदी ने अपने एक लेख मे लिखा–"आजादी के बाद हमने ब्यूरोक्रेसी को निर्माण और लोककल्याण की जिम्मेदारी भी दे दी। वह इसके लिए न तैयार थी न प्रशिक्षित। इसने न सिर्फ उसे दभी बनाया बल्कि कोटा-परिमिट और इस्पेक्टर राज की अवधारणा को भी पुख्ता किया। वह लोकजीवन पर हावी हो गई,

सब कुछ उसके नियत्रण मे आ गया। इन पचास वर्षो मे वह धीरे धीरे इससे बाहर निकल रही थी और अपनी जिम्मेदारी समझने लगी थी। लेकिन आर्थिक उदारीकरण के साथ अचानक उसकी पूरी भूमिका पलट गई। पहले पचास वर्षों मे उसने सीखा कि हर चीज पर नियत्रण करो, हर चीज अपनी निगरानी मे कराओ, जनता को चीजे अपने ढग से नही करने दो। क्योकि न सिर्फ तुम पर निर्माण का दायित्व है, बल्कि उनका कल्याण किसमे है, यह भी तुम्ही ठीक से समझ सकते हो। अचानक उदारीकरण के साथ उसकी यह भूमिका बदल गई।'

हमारा प्रखर राष्ट्रवाद आजादी के बाद अपनी खुद की पहचान बढाने तथा आम आदमी की जरूरत के प्रति जागरूकता पैदा करने के रास्ते से भटक कर तथाकथित विकसित देशो का पिछलग्गू बनने लगा, उनकी कॉर्बन कॉपी बनने के जुनून मे अपने मूल्यो, परम्पराओ एव सस्कारो से विमुख हो उठा है, तभी तो देश को 'आपातकाल' एव 'बाबरी मस्जिद विध्वस' से रूबरू होना पडा। 'हिद स्वराज' के नये सस्करण की भूमिका मे गाधी जी ने लिखा था, 'जिस ससदीय लोकतत्र के लिए मै अभी प्रयत्नशील हूँ वह मेरा अतिम आदर्श नहीं है।' उनका आदर्श था ग्राम स्वराज्य जिसमे समाज का प्रत्येक व्यक्ति, तबका और क्षेत्र एक साथ ऊपर उठे। उन्होने कसौटी तैयार की कि हर काम करने से पहले यह देखा जाना चाहिये कि उससे समाज की सबसे निचल सीढी पर बैठे आदमी को कितना फायदा होता है। स्वतत्रता के बाद का भारत गाधी के स्वप्न को भूलकर जाति, वर्ण, धर्म पर आधारित समाज बनाने मे लग गया। मण्डल कमीशन के लागू होने के बाद जहाँ एक ओर पिछडे एवं दलित वर्गो मे जागृति आयी, वही दूसरी ओर ऊँची जातियो एवं पिछडे वर्गो के बीच समरसता और भ्रातृत्व पैदा करने के बदले उसे स्पष्ट रूप से दो हिस्सो मे बॉट दिया है और यह आपसी कटुता का कारण बन रही है। बिहार जैसे राज्य में जाति के आधार पर चुन-चुन कर कत्लेआम मचा है। इस आरक्षण व्यवस्था का मूल उद्देश्य समाज के गिरे तबके का उठाना था, लेकिन उसके बदले इस समाज का प्रभु वर्ग ही समृद्ध से समृद्धतर हो रहा है। समाज का दबा कुचला वर्ग आज भी दो जून की रोटी के लिए तरस रहा है, उसकी पत्नी-बच्चे दवा के अभाव मे दम तोड रहे हैं, नाबालिग-अबोध बच्चे बलात्कार के शिकार हो रहे है। जनसत्ता, 14 नवम्बर 1999 के अक मे छपे ये रिपोर्ट स्वाधीन भारत मे इस वर्ग की तस्वीर को बहुत बेबाकी से स्पष्ट करते है—

- 'हम तेरह लडकियो को 500-500 रूपया देकर उसने खरीदा। बहुत दिन हम ट्रेन मे चले। रात में वो हमारा मुह बाध देता था। दो लडकिया मर गई। उन्हे चलती ट्रेन से उसने नदी में नीचे फेक दिया '

- 'अम्मा पैसा दे ' छः सात बरस का बच्चा लाल बत्ती पर भीख माग रहा है। उसका कमीज कमर से ऊपर है। उसका जननाग काट दिया गया है। पेशाब की बूँद गिर रही है। बार-बार इस ओर इशारा करता है।

- मेरे जीजा जी और चाचा मुझे एक अधेरे घर मे ले गये। कहा, तुम्हारी बीमारी ठीक करने के लिए तुम्हे यहाँ सात आदमियो के साथ बारी-बारी से सोना पडेगा।' ये लडकी नौ साल की है ऐसे अनेक तथ्य है, जो स्वाधीन, स्वतत्र भारत के क्रूर सामाजिक यथार्थ को उद्घाटित करते है।

आजाद देश का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि स्वतत्रता के 53 वर्ष बाद भी शासक वर्ग न तो अग्रेजो द्वारा विकसित शिक्षा प्रणाली की गुणवत्ता को कायम रख सके और न ही अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने वाली शिक्षा सस्कृति विकसित कर सके। पूरी िाक्षा पद्धति 'परीक्षा प्रणाली' तक सिमट गयी है, सभी का उद्देश्य परीक्षा उत्तीर्ण करने तक सीमित रह गया है। इस कागजी शिक्षा के कारण ही रोजगार की अपार सम्भावनाओ के बावजूद बेरोजगारी बढ रही है। विगत 53 सालो की हमारी उपलब्धियाँ यह है कि हमने शिक्षा के माध्यम से वर्गीय समीकरण को पहले से भी ज्यादा जटिल बना दिया है। स्कूल है तो शिक्षक नदारद। शिक्षक है तो ब्लैकबोर्ड नही, पुस्तकालय नही, लैबोरेटरीज मे प्रयोग के साधन नही। ग्रामीण क्षेत्रो मे शिक्षक की तादाद बढी है लेकिन उनमे शिक्षक कहलाने के गुण कम नजर आते है।

अन्तत अली सरदार जाफरी के शब्दो मे कहे—

कौन आजाद हुआ

किसके माथे से गुलामी की सियाही छूटी

मेरे सीने मे अभी दर्द है, महकूमी का

मादरे हिन्द के चेहरे पे उदासी है वही

खजर आजाद है सीने मे उतरने के लिए

मौत आजाद है लाशो पर गुजरने के लिए ।[1]

आजादी के बाद भारत के इतिहास मे बहुत से हादसे हुए है, जिनका प्रभाव भारतीय राजनीति पर ही नही सामाजिक सास्कृतिक मूल्यो पर निर्णायक रहा है। गाधी जी की हत्या सन् 1948 मे, भारतीय सविधान की स्थापना 1950 मे, चीन से अपमानजनक पराजय 1962 और 1971 मे बग्लादेश का विश्व मानचित्र मे उदभव, 1990 मे, देश की राजनीति का मडलीकरण, 1992 मे बाबरी मस्जिद का विध्वस और 1991 मे आर्थिक उदारीकरण का उदय। इन सब हादसो का ऐतिहासिक -सामाजिक-सास्कृतिक महत्व तो है ही लेकिन 25 जून 1975 को लगाई गई इमरजेंसी इन सबके मुकाबले मे हर तरह से अलग है, जो अपने बदले रूप मे आज भी व्यवस्था मे फल-फूल रहा है। 'आपातकाल ने भारतीय नागरिको के सामने एक राजनैतिक दुर्घटना से अधिक एक नैतिक सकट उपिस्थत किया। यह एक ऐसी नैतिक त्रासदी थी जो न केवल हमारी लोकतान्त्रिक मर्यादाओ को ठेस पहुँचाती थी, बल्कि नागरिक की स्वतत्रता छीनकर स्वयं मनुष्य को उसके मनुष्यत्व से वचित करती थी। यह लोकतत्र का सकट तो था ही, उन सब नैतिक-आध्यात्मिक मर्यादाओ का विखण्डन भी था, जिसके आधार पर भारतीय सभ्यता का आदर्श निर्मित हुआ था।'[2] इमरजेसी अपने आप मे रोग नही था। भारतीय व्यवस्था के रोगग्रस्त होने का वह लक्षण था। 1966 से देश की राजनीति, समाज और अर्थ व्यवस्था मे जो अन्तर्विरोध पैदा हो रहे थे, उनको इन्दिरागाधी के नेतृत्व मे काग्रेस सरकार सभालने मे असमर्थ हो गयी, तो अपने निकम्मेपन के लिए इमरजेसी की ओट ली। रेल हडताल, नवनिर्माण आन्दोलन और किसानो के आन्दोलन, मजदूरो के आन्दोलन, 1971 मे तमिलनाडु के अन्दर उथल-पुथल और उत्तर पूर्व मे जनता के आन्दोलन और बगाल, आध्र प्रदेश, केरल मे नक्सवलवाद का उभार इस तथ्य को खोलते हैं, कि 1966 और 1975 के बीच भारतीय प्रजातत्र अपने आप को असमर्थ पा रहा था। 12 जून का जस्टिस सिन्हा का फैसला तो एक बहाना था।उन्हाने राजतत्र की मरम्मत करने के लिए लोकतत्र को इमरजेसी के वर्कशाप में बन्द कर दिया। इमरजेसी लगाकर उन्होंने संविधान को गहरा झटका दिया, तमाम सस्थाए जैसे संसद, न्यायपालिका, प्रेस और प्रशासन पर दहशतनाक

1 'फरेब, पन्द्रह अगस्त और उसके बाद' नज्म से
2 निर्मल वर्मा, जनसत्ता, 25 जून 2000 मे प्रकाशित लेख से

हमले किये। इसके अलावा आम लोगो को पीडा जनक तरीके से डराने के हथकडे अपनाये गये, बस्तियो को उजाडने का काम इसी मकसद से किये गए।

इमरजेसी का विरोध बडे पैमाने पर हुआ। मोटे तौर पर चार प्रकार के आन्दोलन दिखाई देते है—

(1) 1942 के भारत छोडो आन्दोलन के अनुरूप।

(2) गाधीवादी परम्पराओ के अनुसार सत्याग्रह और सिविल नाफरमानी का आन्दोलन चलाने की कोशिश की गई।

(3) सभा, रैलियॉ, प्रदर्शन इत्यादि कार्यक्रम

(4) भूमिगत आन्दोलन विशेषत: राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ की कार्यशैली के अनुरूप

ससद के अन्दर भी इमरजेसी का विरोध किया गया था। किन्तु महत्त्वपूर्ण तथ्य यह दिखाई देता है कि इमरजेसी का विरोध एक सीधे टकराव की राजनीति के रूप में उभरकर नहीं आया। यह विरोध वैचारिक स्तर पर ही था आम जनता की सक्रिय भागीदारी से यह अछूता था, यद्यपि की जनता के मन मे इमरजेसी विरोधियो के प्रति सहानुभूति थी। लेकिन इस सहानुभूति के इस्तेमाल करने क साधन दो वर्ष के अन्दर भी नही बनाये जा सके। इमरजेसी की चुनौती नयी थी, लेकिन उसके विरोध में खडी ताकते अग्रेजी साम्राज्यवाद से लडे गये पुराने औजार ही इमरजेन्सी आन्दोलन मे इस्तेमाल कर रही थी। वे चुनावी राजनीति तक ही सीमित होकर रह गये थे। लोकतत्र के लिए लडने वाले राजनैतिक दल अगर आम आदमी की राजनीति कर रहे होते तो इमरजेसी के विरोध की लडाई दूसरी शक्ल ले लेती। इमरजेंसी के बाद जनता पार्टी की सरकार बनी लेकिन उसमे जो पार्टियॉ विलीन हुई थी वे जेपी आन्दोलन के दबाव और इदिरागांधी के चुनाव करवाने की घोषणा से उत्पन्न स्थिति की मजबूरी मे एक हुई थी। यह दबाव और मजबूरी का लगाव जब ढीला पडा और सत्ता की बन्दरबाट ही सबसे बड़ी प्रेरणा हो गयी तो जनता पार्टी बिखरी और टूटी और उसकी सरकार भी गिर गई। जनसघ भारतीय जनता पार्टी बना, समाजवादियो के तीन–चार धडे हो गये। काग्रेस के जिस नेता को जहॉ सत्ता सुख दिखाई दिया, वहॉ चला गया, चरण सिह का लोकदल भी बिखरा और इंदिरा गांधी की सत्ता मे वापसी ने फिर इन पार्टियों को हासिये पर खडा कर दिया। अपने ही अगरक्षको की गोलियो से मारी गयी इदिरा गाधी की मृत्यु ने देश को सिख

अलगाववाद और राष्ट्र के विखडन के खतरे से अहसास कराया, पजाब एव देश के कुछ हिस्से दसो वर्ष तक जलते रहे। देश के जनमानस ने राजीवगाधी को ऐसा जबरदस्त बहुमत दिया जैसा प० नेहरू को भी नही मिला था। वी० पी० सिह राजीव गाधी के मत्रिमण्डल से निकलकर शीर्ष स्थानो पर व्याप्त भ्रष्टाचार के खिलाफ अभियान मे लगे और काग्रेस के खिलाफ फिर एक गठबधन बना। समाजवादी एव जनसघ की नवीन सस्करण भाजपा पुन एक मच पर दस्तक दी। 'इस चुनाव मे पहली बार हमारी राजनीति के दो प्रेरक लेकिन वर्जित तत्त्व ऊपर आ कर स्वीकृत हुए— पहला जातिवाद का और दूसरा साप्रदायिकता का। वी० वी० सिह के आस पास बने राष्ट्रीय मोर्चे मे जातिवादी शक्तियॉ जुटीथी और भाजपा ने रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद के प्रश्न को अपने राजनैतिक अजडे पर चढा कर साम्प्रदायिकता के मुद्दे को चुनावी मैदान मे उतार दिया था।'[1] अब तक सभी पार्टियॉ चुनावी रणनीति मे जाति का ध्यान रखती थी लेकिन जातिवाद को एक स्वस्थ और रचनात्मक शक्ति के रूप मे स्वीकार नही किया गया था। इसी तरह साम्प्रदायिकता का उपयोग काग्रेस, जनसघ आदि करते आये थे, लेकिन राजीव गांधी और काग्रेस को हराने के लिए पहली बार खुल्लमखुल्ला हिन्दू कार्ड का इस्तेमाल किया गया। काग्रेस हारी लेकिन वी०वी० सिंह की ग्यारह महीने और चन्द्र शेखर की चार महीने चली सरकार के दौरान मडल और कमडल ने अपने राजनैतिक, सामाजिक समाज को जातियो, उपजातियो, खाँचो और सम्प्रदायो मे बॉटा। राजीव गाधी की निर्मम हत्या ने काग्रेस को अकेली सबसे बडी पार्टी तो बना दिया लेकिन उसका बिखराव एव वैचारिक क्षरण भी तेजी से हुआ। नरसिह राव सरकार पॉच साल चला ले गये पर वे न तो जातिवादी ताकतो को रोक सके न साम्प्रदायिक ताकतो को और सामाजिक समरसता की भावना, गाधी के स्वप्नो का भारत खडित हो गया। तब से हमारे राजनैतिक समाज का ऐसा विखडन हुआ है कि किसी पार्टी को या व्यक्ति को बहुमत नही मिला। केन्द्र मे आज भी सत्ता सुख के लिए जुटी भीड की सरकार है जो न तो अन्तर राष्ट्रीय बाजार की उन ताकतो के सामने खडी हो पाती है जिन्हे नरसिह राव ने निमत्रित किया था और न उसमे कोई वैचारिक स्पष्टता और दृढ़ता है जो देश की समस्याओ के अपने हल ढूढ कर उन पर अमल कर सके। 'ये कमजोर सरकारे हमारे विखडित राजनैतिक समाज की देन है क्यो कि विखंडित समाज पुष्ट और शक्तिशाली जनादेश नहीं दे सकता।'[2]

1 प्रभाष जोशी, जनसत्ता, 25 जून 2000 मे प्रकाशित लेख से
2 प्रभाप जोशी, जनसत्ता, 25 जून 2000

सलमान रूश्दी ने कहा है कि इमरजेसी 635 दिन लबी अधेरी रात थी। लेकिन इस अधेरे मे कुछ ऐसे सवाल पैदा हो गये जिनका अभी तक जबाव नही मिला। इन सवालो पर लोकतत्र के लिए सक्रिय इमरजेसी विरोधी ताकते भी गौर नही कर पाई। इमरजेसी मे वशवाद का जन्म हुआ और सजय गाधी उसकी पहली पैदावार था। अब सजय गाधियो की हर पार्टी मे लडी लग गयी है। राजनीति पर लपटो, अपराधियो का बोलबाला उसी दौर मे शुरू हुआ था, जो आज भी अपने क्रूरतम एव वीभत्सम् रूप मे जारी है। भ्रष्टाचार के विरोध मे जेपी का आन्दोलन छिडा था। वह खत्म होने के बजाए व्यवस्था की नस-नस मे दौड रहा है। इमरजेसी के दौरान सविधान एव लोकतात्रिक सस्थाओ पर किया गया आक्रमण आज भी विद्रूपता की हद तक जारी है। आज की सरकार जो N D A के नाम पर सत्ता सुख भो रही है उसी ने सविधान समीक्षा का फैसला किया और उसके लिए ससद की पीठ के पीछे और राष्ट्रीय सहमति के बिना एक आयोग भी गठित कर दिया। नगर विकास मत्री जगमोहन झुग्गी-झोपडी बस्तियो पर उससे कही बैडे पैमाने पर बुलडोजर चलवा रहे है जो उन्होने आपातकाल मे दिल्ली के सुन्दरीकरण के नाम पर चलवाए थे। समाजशास्त्री सुरेन्द्र मोहन के शब्दो में—"भाजपा के नेतृत्व वाली राजग सरकार औद्योगिक संबन्ध अधिनियम मे ऐसे सशोधन लाना चाहती है जो आपातकाल मे लगाई गई पाबदियो से कही ज्यादा खतरनाक है तो यह पूछना वाजिब ही है ऐसा क्यों है? उस अधिनियम के पाँचवे अध्याय को समाप्त करने की योजना है जो कर्मचारियो और श्रमिको को स्थायी सेवा और उससे जुडने वाले सभी अधिकारो को खत्म कर देगी। जिस तीब्र गति से यह सरकार सार्वजनिक इकाइयो का निजीकरण कर रही है।वैसा नितात पूँजीवादी सरकारे ही कर सकती है। आपातकाल मे सजयगाधी राष्ट्रीय वस्त्र निगम को खत्म करके सभी कल कारखानो को उनके मालिको को वापस लौटाना चाहते थे। वे सफल न हो पाए, परतु अब तो राजग सरकार सीमा ही लाघ रही है।"[1] नामवर जी की भी धारणा कुछ इसी तरह है, 'भारतीय राजनीति मे जो प्रवृित्तियॉ उस समय छोटे पैमाने पर शुरू हुई वे विकराल हो गई है। आपातकाल के बाद से ही हिदू साम्प्रदायिक पार्टी क्रमश आगे बढती चली गयी और काग्रेस लगातार मुश्किल मे पडती चली गयी। वे सन् 77 की जनता पार्टी सरकार मे शामिल हुए और आज उन्ही लोगो के नेतृत्व मे केन्द्र सरकार चल रही है। हमे यह नही भूलना चाहये कि सघ प्रमुख गोलवलकर और संघ के कई बड़े नेता एक ओर इदिरा गाधी

1 प्रभाष जोशी, जनसत्ता, 25 जून 2000 मे प्रकाशित लेख से

को जेल से लिखित समर्थन दे रहे थे तो दूसरी ओर उनके लोग बिहार मे जय प्रकाश नारायण के आन्दोलन का समर्थन कर रहे थे। उनके दोनो हाथ मे लड्डू थे और सच पूछिये तो आपातकाल का सबसे बडा लाभ उन्ही लोगो को हुआ। आपातकाल को इसलिए भी याद किया जाना चाहिये कि पहली बार सजय गाधी के नेतृत्व मे जिस तरह के स्वेच्छाचारियो ने सत्ता पर कब्जा किया था आज वहस्वेच्छाचार की प्रक्रिया उत्कर्ष पर पहुच चुकी है। आज हर दल मे ऐसे लोगो की भरमार है। राजनीति का पूरी तरह लपटीकरण हो चुका है।'[1] इदिरागाधी ने उस समय प्रतिबद्ध ब्यूरोक्रेसी और प्रतिबद्ध न्यायपालिका का जो नारा दिया था, वह आज प्रचड रूप ले चुका है, जिसकी तस्वीर दिखायी दे रही है। आपातकाल मे फासीवाद छोटे तत्त्व के रूप मे विद्यमान था। वह लोकतत्र विरोधी तानाशाही थी। 'भयभीत, अवैध और अविश्वनीय आधार वाली सत्ताधीश इदिरागाधी ने सर्व सत्तावाद का सहारा लिया था। उन्होने सविधान के दायरे मे आन्तरिक आपातकाल लागू किया था। पर इमरजेसी हिदू फासीवाद नही था। इदिरा जी ने तो अपनी सत्ता की वैधता के लिए डेढ साल मे ही चुनाव करा दिया। आज जो केन्द्र मे सत्तासीन हैं उन्हे किसी वैधता की चिन्ता नही। ससद हाशिये पर डाल दी गई है। सारे महत्त्वपूर्ण वित्तीय और विदेशनीति सम्बन्धी फैसले ससद से बाहर किये जा रहे है।''[2] सतीश गुजराल की भी धारणा है कि, 'क्षेत्रवाद और विखडन की आधुनिक राजनैतिक व्यवस्था तो इमरजेसी के दौर की प्रक्रियाओ का साक्षात प्रतिफल है।' आपातकाल के बाद सामाजिक न्याय, दलित और अल्पसख्यकों के जरूरी मुद्दे कैसे राजनैतिक पाखंड का शिकार होकर रह गये है, हम प्रत्यक्ष देख रहे है। शिक्षा का मुद्दा सरकारो और पार्टियो की प्राथमिकता सूची मे अत मे है या है ही नही। इसका देश की जरूरतो से कोई सम्बन्ध नही। आधुनिक शिक्षा मे पारम्परिक ज्ञान की कोई जगह नही। डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र के शब्दो में तो 'मनुष्य ससाधन मात्र'[3] रह गया है। बुद्धिजीवी जतिनदास के प्रश्न सामयिक है, 'इमरजेसी मे सत्ता का दुरूपयोग हुआ, पर क्या आज यह दुरूपयोग पहले से भी बडे पैमाने पर नही हो रहा है? कहा गया लोकतत्र? उस समय प्रेस पर सेसरशिप थी, आज क्या प्रेस आजाद है? पैसे की ताकते प्रेस के साथ क्या कर रही है? देश एक अधी गली मे जा रहा है। मानवीय मूल्यो और जीवन की गुणवत्ता मे भयानक गिरावट आई है। उस समय

1 नामवर सिह, जनसत्ता, 25 जून 2000 मे प्रकाशित लेख से
2 वही
3 इलाहाबद सग्रहालय मे दिये भाषण के अश से

आपातकाल मे भी लोग विरोध कर रहे थे, आज सभी ओर चुप्पी क्यो है?[1] इसीलिए कवि धूमिल को नये प्रजातत्र की तलाश थी—

गावो के गन्दे पनालो से लेकर
शहरो के शिवालो तक फैली हुई
'कथाकलि' की एक अमूर्त मुद्रा है
यह जनता
उस की श्रद्धा अटूट है
उसको समझा दिया गया है कि यहॉ
ऐसा जनतत्र है जिसमे
जिन्दा रहने के लिए
घोडे और घास को
एक जैसी छूट है
कैसी विडम्बना है
कैसा झूठ है।
दरअसल, अपने यहॉ प्रजातत्र
एक ऐसा तमाश है
जिसकी जान मदारी की भाषा है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : विविध दिशाऍ—

स्वतत्र भारत मे 53 वर्षो के इतिहास मे आपातकाल एक विभाजक रेखा है, क्योकि यह एक राजनैतिक समस्या न होकर सास्कृतिक -नैतिक-सामाजिक विघटन था, जिसकी यात्रा आज भी जारी है, किचित अलग विशिष्ट सवेदनहीनता के साथ। इसीलिए हिन्दी उपन्यास यात्रा का इसे मै एक विभाजक बिन्दु मानता हूँ। वैसे तो आपातकाल 25 जून 1975 को लागू हुआ, किन्तु इसकी भूमिका 1966 से ही बनने

1 जनसत्ता, 25 जून 2000

लगी थी, जिसे मैने अपने विवेचन मे पीछे स्पष्ट किया है। यही दशक समकालीनता के उदय की भी कहानी कहता है। अतएव स्वातन्त्र्योत्तर भारत की उपन्यास यात्रा का अध्ययन इन दो बिन्दुओ के आधार पर करना, ऐतिहासिक सामाजिक-सास्कृतिक -नैतिक दृष्टि से समीचीन होगा—

(क) आपातकाल पूर्व हिन्दी उपन्यास

(ख) आपातकाल परवर्ती हिन्दी उपन्यास

आपातकाल पूर्व हिन्दी उपन्यास—

आपातकाल पूर्व स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास यात्रा के विकास की रेखाओ का स्वरूप प्रेमचन्द के समय से ही मिलने लगता है जिसका विकास ही विविध धाराओ मे किंचित अलग पहचान, विशिष्टता, विचारधारा लिये दृष्टिगत होता है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मे कथानक और चरित्र की परम्परागत ठोस रेखाएँ नही रह गई। आधुनिक उपन्यासकार के लिए कथानक, चरित्र, कथोप कथन आदि शिल्प के अगो का नियोजित क्रम टूट चुका है। आज का उपन्यास लेखक परिस्थिति और परिवेश को भी केवल प्रस्तुत नही करता। वह परिवेश को चरित्र मे, चरित्र को मनोविज्ञान और मनोविज्ञान को व्यक्तिगत रूपायन के उद्घाटन मे अतर्बद्ध करता है। स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासो में व्यक्तित्व की खोज अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य बन गया है। बढती उद्योग व्यवस्था, अभूतपूर्व तकनीकि, वैज्ञानिक तथा आणविक विकास के कारण मनुष्य अत्यधिक यात्रिक बन गया है। ऐसे परिवेश मे व्यक्तित्व जैसी कोई बात नही रह जाती। ऐसे खोये हुए व्यक्तित्व या 'आत्म' की खोज का प्रयत्न अज्ञेय, धर्मवीर भारती, जैनेन्द्र, मोहन राकेश, जैसे लेखक मनोवैज्ञानिक एव प्रयोगशील धरातल पर करते है, तो नागार्जुन, यशपाल, रागेय राघव, भैरव प्रसाद गुप्त, अमृत राय भीष्म साहनी, श्रीलाल शुक्ल, शिव प्रसाद सिह जैसे लेखक समाजवादी यथार्थवाद की आधुनिकता का वरण करते हैं। इन्ही दोनो विचारधाराओं के मध्य उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृतलाल नागर,भगवतीचरण वर्मा, नरेश मेहता अपनी अलग विशिष्टता लिये हुए है। नेमिचन्द्र जैन के विचार हैं, ''ये उपन्यास पहले की अपेक्षा अधिक नये रूप मे व्यक्ति को प्रतिष्ठा देते हैं, साधारण व्यक्ति मे उसके सहजीवन के साधारण सुख-दु:ख, हर्ष-विवाद मे मानवीय गरिमा की खोज करते है। एक प्रकार से साधारणता की यह महत्ता, बल्कि उसी मे विशिष्टता की खोज नवीन हिन्दी उपन्यास की एक सार्थक विशेषता है।''[1]

1 अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन, भूमिका से

'गोदान' के बाद हिन्दी उपन्यास मे नये मुहावरे की जो नई तलाश शुरू हुई उसमे 'शेखर एक जीवनी' एक महत्त्वपूर्ण पडाव है। अज्ञेय का 'नदी के द्वीप' शेखर के आगे की कहानी कहता है। 'नदी के द्वीप' भाषा के अभिजात्य के बल पर एक विशिष्ट किस्म की काव्यात्मक भाषा का जादू जगाकर पाठको को सम्मोहित करता है। 'अज्ञेय ने स्वीकार किया है कि 'नदी के द्वीप' व्यक्ति चरित्र का उपन्यास है। घटनाए यहॉ लगातार घटती रहती है पर घटनाप्रधान उपन्यास यह है नही— बहुत कुछ तो चरित्रो से अभिव्यक्त और निर्मित सवेदनाओ की ही कहानी है— एक दर्द भरी प्रेम कहानी, जिसमे कम से कम दो पात्रो मे, प्रेम मे व्यक्तिगत पूर्णता अनुभव करने-कराने की बडी क्षमता स्पष्ट झलकती है। ये दो पात्र, प्रत्यक्ष ही, रेखा और भुवन है जिनके प्रथम परिचय से उपन्यास शुरू होता है यद्यपि जिनके अलगाव के साथ उपन्यास खत्म नहीं होता। एक अर्थ मे अलगाव उनके बीच अधिक स्पष्ट है भी नही। सच तो यह है कि अलग होकर भी वे सवेदना के स्तर पर गहरे जुड़े रहते है।'[1] इसी लिए नदी के द्वीप की प्रणय सवेदना भिन्न और प्राय: असाधारण दिखाई देती है, पर अपनी विश्वसनीयता लिये हुए है। यह अज्ञेय की कलात्मक सफलता का द्योतक है। 'नदी के द्वीप' मे प्रेम का रोमास बिल्कुल भिन्न प्रकार का है जहॉ भावुकता को बौद्धिकता का आधार मिला, और राग मे भी एक खास तरह का सयम है। पर साथ ही साथ शरीर के उत्सव भाव को उन्मुक्त रूप मे स्वीकार किया गया है।[2]

'शेखर एक जीवनी' एव 'नदी के द्वीप' से शुरू हुई 'व्यक्तित्व की खोज' की यात्रा का 'अपने अपने अजनबी' मे उसकी एक ढग की निष्पत्ति है, जो शायद फिर आगे की खोज के लिए प्रेरणा दे। उपन्यास मे सर्वत्र व्याप्त मृत्यु गध इसे 'मृत्यु से साक्षात्कार' का आख्यान बनाती है। शिल्प के स्तरपर काफी गठित होते हुए भी विधान की दृष्टि से यह कमजोर उपन्यास है। इसका प्रमुख कारण उपन्यास के कथानक मे बहुत असाधारण परिस्थितियो का चुना जाना है।

लोकप्रियता को यदि आलोचनात्मक प्रतिमान की तरह इस्तेमाल किया जा सके तो धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' (1949) इस दौर की एक चर्चित कृति है। यह एक सरस और भावुकता पूर्ण प्रेमकथा के रूप में परिकल्पित है, जिसमे आदर्शवादी और अशरीरी प्रेम की त्रासद परिणति को अकित किया गया है। भारती की 'सूरज का सातवॉ घोडा' (1952) अपनी अन्तर्वस्तु और रचना कौशल के द्वारा

1 हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद मे प्रो० परमानद रीवास्तव का लेख
2 अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या—प्रो० रामस्वरूप चतुर्वेदी

अधिक उल्लेखनीय सफलता प्राप्त कर सका है। यह उपन्यास 'मणिक मुल्ला' की किस्सागोई से निर्मित है जिसमे 'मै' की भी विधायक और महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जमुना, लिली और सत्ती की कथाएँ निम्न मध्यवर्ग की स्त्री की नियति को परिभाषित करती है, जिनमे उनके पारिवारिक पार्श्व प्रकरान्तर से समाज के एक बडे और व्यापक वर्ग को समेटते है।

इसी कडी मे मोहन राकेश अपने 'अधेरे बन्द कमरे' 'न आने वाला कल' जैसे उपन्यासो के साथ अपनी न केवल एक सक्रिय उपस्थिति दर्ज करते हैं, वरन् अपनी प्रौढ शिल्प कला एव नाटकीय क्षमता से स्वातत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास यात्रा को महत्वपूर्ण मोड देते है। राकेश के उपन्यासो का मूल स्वर दाम्पत्य सम्बन्धो मे तनाव, कटुता, स्त्री-पुरूष का बधन, मुक्ति, अन्तर्द्वन्द्व का स्वर है।'अधेरे बन्द कमरे' की रीढ पति- पत्नी के जीवन मे तनाव और खिचाव के सूक्ष्म निरीक्षण और काव्यात्मक चित्रण मे उपलब्ध है, लेकिन यह इसकी सीमा नही है। इस उपन्यास मे महानगरी है और महानगरी मे निरन्तर टूटते हुए मानवीय सम्बन्धो की नियति, अकेलेपन का सत्रास है। इसके पात्र समाज के मध्यवर्गीय व्यक्ति है, जो अपने ही अन्दर बद, घुटे, छटपटाते है और बाहर निकलने के लिए तडपते है, किन्तु अधेरे बन्द कमरे मे कैद हो जाना ही जैसे उनकी नियति बन गयी है। इस उपन्यास मे पत्र विधि, नाटकीय विधि, पूर्वदीप्ति विधि, प्रतीक विधि, भावात्मक विधि और सूक्ष्म व्यजनात्मक विधि का प्रयोग हुआ है, जो शिल्प की दृष्टि से स्वातत्र्योत्तर युग की उपलब्धि है।

अकेलेपन की त्रासदी की दृष्टि से निर्मल वर्मा का 'वे दिन' मोहन राकेश की परम्परा को ही आगे बढाता है। अपनी कहानियो की तरह यहाँ भी निर्मल परिवेश को एक जीवन्त पात्र की तरह इस्तेमाल करते है। युद्ध के बाद की हताशा और अवसाद रायना मे मूर्त होते दिखाई देते है, जिसे निर्मल वर्मा ने गहरी सवेदनशीलता के साथ अकित किया है। 'वे दिन की सरचना भी पुरानी लकीर से हटकर है, इसका अन्त भी शायद इसलिए अन्तहीन है क्योकि जीवन-वास्तव को किसी निश्चित अन्त में बन्द नही किया जा सकता, अनुभूति की धारा उपन्यास के बाहर जाने को विवश है।'[1]

नागार्जुन, भैरव प्रसाद गुप्त, भीष्म साहनी, अमृत राय, यशपाल की पीढी की उपन्यास यात्रा का मूल बोध समाजवादी है, जो आधुनिकता बोध के दूसरे पहलू को उजागर करता है। भैरव प्रसाद गुप्त ने

1 आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर 76, मे डॉ० इन्द्रनाथ मदान का लेख

'गगामैया' (1952), 'सत्ती मैया का चौरा', भीष्म साहनी ने 'तमस' के द्वारा स्वातत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मे प्रेमचन्द की परम्परा को नया तेवर दिया है। यशपाल का 'झूठा सच', भीष्म साहनी का 'तमस', राही मासूम रजा के 'आधा गॉव' वदी उज्जमा के 'छाको की वापसी', मजूर एहतेशाम के 'सूखा बरगद' एव अब्दुल विस्मिल्लाह के 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' के साथ मिलकर देश के विभाजन एव उससे उत्पन्न सास्कृतिक विमर्श की कहानी कहता है। यशपाल का 'झूठा सच' एक महाकाव्यात्मक रचना है, जिसमे विभाजन की त्रासदी जिस ऐतिहासिक तथ्य परकता एव सूक्ष्म विवरणो के साथ उद्घाटित हुई है, वह इसे विभाजन का कलापात्र सरीखी विश्वसनीयता प्रदान करता है। विभाजन की छाया मे पजाबी समुदाय के लाहौर से उजडने और दिल्ली मे बसने तक का वृत्तान्त समेटे यह उपन्यास विभाजन की त्रासदी को व्यापक राजनैतिक एव सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे रेखांकित करता है। अपनी सम्पूर्णता मे यह उपन्यास विभाजन की महज एक शोक गाथा न होकर, विपरीत परिस्थितियों मे भी मनुष्य के दुर्दम्य साहस और धैर्य की शौर्यगाथा भी है। राजनीतिक अवसरवाद के शिकार के रूप मे पुरी का नैतिक और वैचारिक स्खलन अपने समय के यथार्थ को बेहतर ढग से अभिव्यक्त करता है। उपन्यास के दूसरे खण्ड 'देश का भविष्य' मे यशपाल काग्रेस की रीढविहीन अराजक राजनीति और उसके दूरगामी परिणामों की ओर सकेत करके अतत: उससे मुक्ति का आह्वान करते हुए देश का भविष्य देश की जनता के हाथ मे ही होने की बात कहते है।

देश के बॅटवारे के दौरान पंजाब की सरहद पर हुए भयानक साम्प्रदायिक दगो की पृष्ठभूमि पर भीष्म साहनी का उपन्यास 'तमस' विभाजन की नियामक शक्तियों को उनकी पूरी विद्रूपता के साथ बेनकाब करता है। इसके पात्रो के निजी व्यक्तित्त्व से अधिक उनका सामूहिक प्रभाव ही उपन्यास को महत्त्वपूर्ण बनाता है। वस्तुत· आदमी की सद्प्रवृत्तियो पर छा जाने वाला तमस ही इस पूरे उपन्यास पर छाया हुआ है। लेखक का समस्त कौशल इसी मे निहित है कि एक ओर जहॉ उसने इस अधेरे मे छिपे चेहरो की वास्तविकता को उद्घाटित किया है, वही दूसरी ओर इन चेहरो के पारस्परिक क्रिया-कलाप द्वारा घने होते इस अधेरे के स्वरूप को भी स्पष्ट कर सका है। कुल पॉच दिनों के घटनाक्रम पर केन्द्रित यह उपन्यास अग्रेजों द्वारा साम्प्रदायिकता को हथियार बनाकर 'फूट डालो और राज करो' की नीति के पर्दाफाश से लेकर राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ, हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग की भूमिका को भी उजागर करता है।

'झूठा सच' एव 'तमस' की तर्ज पर सीधे-सीधे विभाजन की कहानी न होकर भी राही मासूम रजा का 'आधागॉव' मे 'पाकिस्तान विमर्श' जिस सहज बोध एव तार्किकता के साथ प्रस्तुत होता है, वह हिन्दी उपन्यास की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इस उपन्यास मे न तो साम्प्रदायिक मारकाट है, न लाशो के ढेर और न ही बलात्कार की यातना क्योकि इसकी पृष्ठभूमि मे उत्तर भारत का एक ऊँघता सा गॉव है, लेकिन इस गॉव मे जो 'आलमे तनहाई' है,वह सीमात प्रान्तो के विध्वस से कही अधिक मारक है, 'आलमे तनहाई के मानी यह थे कि इकलौता बेटा पाकिस्तान मे था और हकीम साहब पोते पोतियो के साथ हिन्दुस्तान मे थे।   गरज कि आजादी के साथ कई तरह कि तनहाइया भी आयी। विस्तर की तनहाई से लेकर दिलो की तनहाई तक।[1] 'आधा गॉव' का रचनात्मक महत्त्व इस तथ्य मे निहित है कि पाकिस्तान बनने के औचित्य एव मुस्लिम नियति के प्रश्न जिस बेबाकी के साथ इस उपन्यास मे उपस्थित हुए है, वह विभाजन की पृष्ठभूमि पर लिखे गये किसी अन्य उपन्यास मे उपलब्ध नही है। हकीम साहब का कथन इसे पूरी विद्रूपता के साथ उद्घाटित करता है, ''ई पाकिस्तान त हिन्दू-मुसलमान को अलग करे को बना रहा। बाकी हम त ई देख रहे कि ई मिया-बीबी, बाप-बेटा और भाई बहन को अलग कर रहा है।'' बदीउज्जमा का उपन्यास 'छाको की वापसी' विभाजन की पृष्ठभूमि पर लिखित एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि इसके केन्द्र मे अभिजन न होकर सामान्यजन है, जो पाकिस्तान के निहितार्थ को भी नही समझता। उपन्यास के मुख्य पात्र 'छाको' को यह अहसास भी नही है कि दूसरे मुल्क की नागरिकता का परिणाम क्या होगा। राही की तरह बदीउज्जमा भी अपने पात्रों के माध्यम से पाकिस्तान के औचित्य पर जिरह करते है। 'आधा गॉव' एव 'छाको की वापसी' की तरह सीधे विभाजन की समस्या से मुठभेड न करने के बावजूद राही मासूम रजा का उपन्यास 'टोपी शुक्ला', शानी का 'काला जल', मजूरएहतेश्याम का 'सूखा बरगद' एव अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' मे भी मुस्लिम अस्मिता के प्रश्न के साथ -साथ पाकिस्तान विमर्श एक अतर्धारा के रूप मे उपस्थित है। यहॉ यह तथ्य चौकाने वाला है कि जहॉ मुस्लिम लेखको द्वारा हिन्दी मे लिखे गये इन सारे उपन्यासो मे विभाजन की समस्या को कौम के बटवारे के रूप मे प्रस्तुत करके पाकिस्तान की विचारधारा को ही चुनौती दी गयी है, वही गैर मुस्लिम लेखक विभाजन को विस्थापन, पलायन एव साम्प्रदायिक दगो तक केन्द्रित करते हुए उसकी राजनीतिक परिणतियों को रेखांकित करते हैं।

1 आधा गाँव —राही मासूम रजा

जिन्दगी के वाह्य यथार्थ से साक्षात्कार की एक अन्य अभिव्यक्ति हुई है आंचलिक उपन्यासो मे, जिसका उदय रेणु के मैला आँचल से होता है। डॉ० शिव प्रसाद सिंह, 'आचलिकता की प्रवृत्ति को स्वातत्र्योत्तर हिन्दुस्तान की सास्कृतिक प्रवृत्ति मानते है, जिसके भीतर भारतीयता को अन्वेषित करने की सूक्ष्म अन्तःधारणा काम कर रही थी' [1] आचलिक उपन्यास स्वातत्र्योत्तर भारत के तेजी से बदलते हुए परिवेश मे इसके आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक परिवर्तनशीलता के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देश की नयी मानसिकता तथा प्रगतिशील चेतना के उन्नायक -उद्घोषक बनकर आये। इन उपन्यासो के माध्यम से रचनाकारो ने विशिष्ट भूखडो की ज्वलत समस्याओ, उनके पारस्परिक अन्तर्विरोध, जीवन-सघर्ष, मानसिक बदलाव, नये सम्बन्ध बोध, मूल्य विघटन, सामाजिक विखराव, राजनीतिक अवमूल्यन और सास्कृतिक खोखलेपन आदि को प्रामाणिक सन्दर्भो मे उदघाटित करने का प्रयत्न किया है। इसीलिए 'आचलिक उपन्यासो मे लेखकीय प्रतिबद्धता का सरोकार उसके कथ्य, समूचे यथार्थवादी परिवेश, जीवन के अभावो, तज्जनित विसगतियो तथा समय की निर्मम सच्चाइयो के बीच से गुजरते मनुष्य की आन्तरिक सवेदनाओ से है।' [2] इन उपन्यासो मे स्वतत्रता के बाद की अनन्त सम्भावनाये और रगीन सपनो से लदी आशाए है, भारतीय जनमानस मे उद्भूत नवीन चेतना की लहरें है, देश की सुदीर्घ सास्कृतिक विरासत की अस्मिता की खोज और पुनरूद्धार के संकल्प है और युग-युग से उपेक्षित, तिरस्कृत तथा शोषित सामान्यजन के प्रति सुदृढ प्रतिबद्धता। स्वतत्रताप्राप्ति के समय देखे गये वे सारे सुनहले सतरगे सपने धीरे-धीरे कठोर वास्तविकता की चट्टानो से टकराकर चूर-चूर होते गये और विकास, उन्नति तथा सुन्दर सुखद भविष्य की आशाए, देश के रहनुमाओ के चारित्रिक पतन, स्वार्थ, गदी राजनीति और भ्रष्टाचार की राख के नीचे दब गयी। अन्याय व शोषण के यत्र बदल गये पर प्रक्रियाए नहीं बदली। 'अलग-अलग वैतरणी' में लेखक इसी स्थिति का विश्लेषण करता है, 'स्वतत्रता आयी, जमीदारी टूटी, 'करैता' गॉव के किसानो को लगा कि अब उनके दिन फिरेगे। मगर क्या हुआ? अलग-अलग वैतरणी अलग-अलग नाटक- जिसे निर्मित किया है भूतपूर्व जमीदार ने, धर्म तथा समाज के पुराने ठेकेदारो ने, भ्रष्ट सरकारी ओहदेदारो ने और इस वैतरणी मे जूझ छटपटा रही है गॉव की प्रगतिशील नयी पीढी।'' गॉव शहर के निकट तो आये, पर इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी अपनी परपरागत सरलता गयी, उदारता और आत्मीयता गयी और ऊपर से सारी शहरी

1 आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिव प्रसाद सिह, पृ० 118
2 आचलिक उपन्यास सवेदना और शिल्प —डॉ० ज्ञान चन्द्र गुप्त

बुराइयाँ भी प्रवेश कर गयी— टुच्ची राजनीति, दलबदी, जाति, वर्गवाद, स्वार्थ, द्वेष, अनतिक योनाचार। तभी तो 'मैंला ऑचल' का बावनदास बालदेव जी से कहता है— "सब चौपट हो गया यह बेमारी ऊपर से आयी। यह पटनहिया रोग है। अब तो धूम-धाम से फलेगा। भूमिहार, राजजूत, कैथ, जादव, हरिजन, सब लड रहे है अगले चुनाव मे तिगुना मेले चुने जायेगे। किसका आदमी ज्यादे चुना जाय, इसी की लडाई है।"[1]

हिन्दी उपन्यास साहित्य मे ग्राम यथार्थ के वर्णन की आदर्शोन्मुखीय वस्तुपरक परपरा का प्रारम्भ प्रेमचन्द से ही शुरू हो गया था लेकिन प्रेमचन्द की पद्धति सामान्य से सामान्य तक पहुँचने की थी, इसीलिए उनकी कृतियो मे व्यापक मानवीयता और गहरी सामाजिक व्यथा तो मिलती है, परन्तु वह बौद्धिक क्षमता नही। आचलिक उपन्यासों मे सामान्य के विशेषीकरण की पद्धति अपनायी गयी, इसीलिए इनमें अधिक गहराई और सूक्ष्मता है। यही कारण है कि 'गोदान' की कथा भूमि 'बेलारी' गॉव के स्थान पर उत्तर भारत का कोई भी गॉव रखा जा सकता है, परन्तु रेणु के उपन्यासो के कथाचल 'मेरीगज' तथा 'परानपुर' अथवा 'अलग-अलग वैतरणी' और 'आधा गॉव' की कथाभूमि 'करौता' और 'गगौली' का स्थनापन्न दूसरा कोई अचल या गॉव नही हो सकता, क्योकि इनकी भौतिक -सामाजिक सास्कृतिक विशिष्टताए अपनी है, निजी है, सामान्य नही। बावजूद इसके इनके निष्कर्ष सर्वव्यापक एव सामान्य है।

श्रीलाल शुक्ल एव विवेकी राय की कथा भूमि उस रूप मे आंचलिक नही है, जैसी वह आचलिकता के आन्दोलन के दौर में दिखाई देती थी। उनके यहाँ आचलिकता का मतलब अपने सुपरिचित क्षेत्र से आत्मीयता और सवेदना के स्तर पर जुडना ही है। इस अचल के पर्वो-प्रयोजनो के प्रति,उनके पुनराविष्कार को लेकर, उनमे गहरा उत्साह है। स्वाधीनता आन्दोलन के दौर मे मूल्यो और जनता के सपनो के रूप मे स्वीकृत शब्दों, पदों और अवधारणाओ का वे गूढ, व्यंजनागर्भी और व्यंग्यात्मक उपयोग करके उन्हे एक नई अर्थवत्ता देते हैं। लोकतत्त्व व लोकभाषा के अप्रचलित रूपो के प्रति उत्साह जगाकर वे वस्तुत: इस अचल को ही सजाने-सवारने और उसे एक सुगढ व्यक्तित्त्व प्रदान करने की कोशिश करते है। नागार्जुन का 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ' और 'वरूण के बेटे' आचलिक उपन्यासो की समस्त शिल्पगत विशेषताओ से पूर्ण न होते हुए भी मात्र अचल केन्द्रित कथावस्तु

---

1 मैला आँचल, पृष्ठ 310

और आचलिक भाषा प्रयोग के कारण ही आचलिक माने जाते है। विवेकी राय का 'बबूल', श्रीलाल शुक्ल का 'रागदरबारी' केशव प्रसाद मिश्र का 'कोहवर की शर्त' केवल आचलिक भापा प्रयोग के आधार पर ही आचलिक उपन्यास मान लिया जाता है, जबकि इनमे से अधिकाश मे आचलिक वातावरण का भी निर्माण नही हुआ है। अमृत लाल नागर के 'बूँद और समुद्र' के बाद शहरी आचलिकता का भी प्रश्न उठा। जनपदीय, प्रादेशीय एव स्थानीयता के रग से रगे हुए उपन्यास भी इस युग को नयी पहचान देते है।

ऐतिहासिक -सास्कृतिक विचारधारा को स्वातत्र्योत्तर उपन्यास यात्रा में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नया सस्कार दिया 'वाण भट्ट की आत्मकथा' यद्यपि कि 1946 मे प्रकाशित हुई थी, किन्तु इसकी चेतना स्वातत्र्योत्तर भारत से जुडी चेतना का आभास देती है। इसका मुख्य उपजीव्य वाणभट्ट और श्री हर्ष की रचनाएँ ही है, लेकिन लेखक इस ऐतिहासिक फ्रेम मे ही नारी-नियति को परिभाषित करते हुए टिप्पणी करता है, 'बडे करुणा-जनक सयोगो के बीच से मैने यह अनुभव किया है कि स्त्री के दु:ख इतने गम्भीर होते है कि उसके शब्द उसका दशमाश भी नहीं बता सकते। सहानुभूति के द्वारा ही उस मर्म वेदना का किचित आभास पाया जा सकता है निपुणिका मे इतने गुण है कि वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती थी पर हुई नहीं निश्चय ही कोई बडा असत्य समाज मे सत्य के नाम पर घर बना बैठा है ' ऐतिहासिक उपन्यास , अतीत की पृष्ठभूमि पर भी, अपने वर्तमान समाज की चिता को ही अपने केन्द्र मे लेकर चलता है। यही कारण है कि जार्ज लूकाच ने वाल्टर स्कॉट के उपन्यासो पर टिप्पणी करते हुए उन्हे तत्कालीन सामाजिक अंग्रेजी उपन्यास की परम्परा मे ही रखकर पढे जाने की सलाह दी है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'वाणभट्ट की आत्मकथा' के अतिरिक्त 'चारूचन्द्र लेख' (1963), पुनर्नवा (1973), 'अनामदास का पोथा' उपन्यास द्वारा समकालीन जीवन की विसगतियो एव तनाव को इतिहासधारा मे खोजा। शिव प्रसाद मिश्र का 'बहती गंगा' काशी के साहित्यिक सांस्कृतिक इतिहास के साथ ही यह उसके जन-जीवन का भी, दो-सौ वर्षों का एक आकर्षक और विश्वसनीय चित्र है। इसमें अनेक कथाएँ है जो अपने में स्वतत्र होने पर भी एक श्रृंखला की अग है। इसमे इतिहास का बहुत व्यवस्थित एव प्रमाणसिद्ध आकलन करने की अपेक्षा इतिहास की पृष्ठभूमि और परिवेश लोक विश्वासों, निजधारी कथाओ और श्रुति परम्परा का अधिक प्रयोग किया गया है। काशी के जीवन का रगारग वैविध्य,

उसकी मस्ती, फक्कडपन, प्रेम के लिए सर्वस्व बलिदान की आकाक्षा और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरूद्ध प्रतिरोधी चेतना, आदि का अकन इन कहानियो मे आकर्षक ढग से किया गया है।

स्वाधीनता ने लोगो की आशाओ एव आकाक्षाओ को तोडा था और लगभग समूचे देश को हताशा एवं मोह भग की ऐसी अधी सुरग मे धकेल दिया था, जिसमे घुटन-बेबसी और अधेरे के सिवा कुछ नही था। लेकिन इन सबके होते हुए भी उसने समाज की जडता को एक झटके से तोड दिया था और विभाजन की विभीषिका के बाद जब स्थिति सामान्य हुई तो ऐसा लगा कि हम एक पर्याप्त बदले हुए परिवेश मे है। शिक्षा और नौकरी की सम्भावनाओ ने और पजाबी समाज एव सस्कृति के अपेक्षाकृत खुलेपन एव वर्जनाहीनता ने उत्तर भारतीय समाज को भी गहराई से प्रभावित किया था। लडको की बेरोजगारी की तुलना मे लडकियो के लिए नौकरी के अवसर अधिक थे। इस कारण घर-परिवार और समाज मे उनकी परम्परागत स्थिति मे अन्तर आना स्वाभाविक था। नौकरी की खोज में गॉव से शहर आने वाले युवको ने जिस नगरीय सभ्यता को जन्म दिया, उसने नये सामाजिक-सास्कृतिक मूल्यो को पैदा किया। इन्ही मूल्यो ने स्वातत्र्योत्तर उपन्यास साहित्य की दिशा बदल दी। इन उपन्यासो मे व्यक्ति एव समाज के सम्बन्धो का मूल्याकन -पुर्नमूल्याकन व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्ध सूत्रो को अन्वेषित करने की दृष्टि से हुआ। उपन्यासकारो का मुख्य लक्ष्य सामाजिक परिधि मे व्यक्ति को भयमुक्त एवं आशकारहित करके वह आत्म विश्वास देना था, जिससे व्यक्ति मे उस समर्थता का विकास हो सके, जिसके माध्यम से वह उन सकटो, अन्तर्विरोधो, उलझनो एव अवरोधो का साक्षात्कार कर सके, जो नित्य उसकी अनुभूतियो से, आस्थाओं से टकराकर उसे जर्जरित करती रहती है। स्वाधीनता के बाद का हिन्दी उपन्यास एक स्तर पर समकालीन जीवन के दूरव्यापी विस्तार को अपने भीतर समेटता है, और दूसरे स्तर पर गहराई के आयाम में कुण्ठित और खण्डित व्यक्तित्त्व की करूणा को भी अभिव्यजित करता है। कुल मिलाकर उसमे समकालीन जीवन के विविध रूपो की, विशेषकर पूर्ववर्ती युग की तुलना मे, पर्याप्त विविध झॉकी मिलती है, मनुष्य के कई एक परिचित- अपरिचित रूपो के, परिवेश और उसके साथ सम्बन्ध के, मानवीय सम्बन्धो और परिस्थितियो के चित्र मिलते है। स्वाधीनता के पूर्व और बाद साहित्य के क्षेत्र मे महिलाओ के अनुपात और उनके लेखन मे आये गुणात्मक अन्तर एव वैविध्य से यह स्पष्ट हो जाता है। नई कहानी आन्दोलन ने अनेक लेखिकाओ को आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रेरित किया और उन्होने अपने ओर अपने परिवेश के प्रति

एक भिन्न, खुली एव मुक्त दृष्टि से लिखकर समाज की वर्जना को तोडा। इन लेखिकाओ ने हिन्दी उपन्यास यात्रा मे सक्रिय उपस्थिति दर्ज कर उसे एक नई पहचान दी। कृष्णा सोबती, उषा, प्रियवदा, मन्नू भण्डारी, का इस दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। कृष्णा सोबती स्त्री स्वाधीनता और नारी मुक्ति के सवाल को वे अपनी धरती और मिट्टी से जोडकर देखती है और समूचे सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे उसकी अनिवार्यता को रेखाकित करती है। आपातकाल पूर्व स्वातत्र्योत्तर युग में 'डार से बिछुड़ी' (1958), 'सूरजमुखी अधेरे के' (1972) उनकी उपन्यास यात्रा की महत्त्वपूर्ण कडी है। इस युग मे उषा प्रियम्बदा की 'रुकोगी नही राधिका ?' (1967), मन्नू भण्डारी का राजेन्द्र यादव के साथ लिखित सहयोगी उपन्यास 'एक इच मुस्कान' (1962) उपन्यास के नये मुहावरो को तलाश करता है, जिसका पूर्ण विकास पर्याप्त विविधता के साथ परवर्ती युग मे दिखाई देता है।

आपातकाल परवर्ती उपन्यास : बदलती दिशाएँ—

जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि आपातकाल 1975 मे लागू हुआ, किन्तु परिस्थितियॉ 1966 से ही बनने लगी थी। अतएव 7वे दशक से ही इसकी विशिष्टताए, विघटित मूल्य चेतना की आहट हिन्दी उपन्यास मे सुनायी पडने लगी थी, जो आठवे दशक तक आते-आते मुखरित नाद मे परिवर्तित हो चुकी थी। यही युग समकालीनता की खोज का भी युग है, विद्वानों द्वारा घोषित साठोत्तरी युग की पहचान भी यही से शुरू होती दिखाई देती है। संपूर्ण क्रान्ति, आतंकवाद, और मूल्यहीन भ्रष्टाचार पोषित राजनीति के अभूतपूर्व विकास का दौर भी यही है, जिसमें राजनीति में अपराधी तत्त्वों के व्यापक संरक्षण की शुरुआत होती है, जिसकी कहानी रागदरबारी अपनी भदेस शैली मे पूरी मार्मिकता के साथ उठाता है। राग दरबारी स्वाधीन भारत मे सब कहीं बनते शिवपाल गंज की सच्चाई को उसी भदेस शैली एव व्यग्यात्मक लहजे से उठाता है। रबीन्द्र बर्मा के 'निन्यानबे' का फलक भारतीय आजादी के पचास वर्षो मे देश के तापमान को मापने की सफल कोशिश है, जिसमे एक परिवार की सवेदनायें लेखकीय कथ्य का माध्यम बनती है। एक ही परिवार कैसे राष्ट्रीय चरित्र को प्रत्यक्ष करता है, कैसे मूल्यो का विघटन होता है और कैसे सिक्को के आगे सम्बन्ध, नीति, मर्यादा और मनुष्यता समाप्त हो जाती है, यह उपन्यास उसे बखूबी प्रस्तुत करता है। नरेश मेहता का 'उत्तर कथा' उनके पूर्ववर्ती उपन्यास 'यह पथ बन्धु था' का विस्तार लगता है, जिसमे एक नारी की अपने विरोधी परिस्थितियो-वातावरण से सघर्ष का साहसिक अकन है। यह दुर्गा है, जो अपने

स्वत्व के लिए अनवरत सघर्ष करती है और अपने अनुकूल परिस्थितियॉ बनाती है। भीष्म साहनी के इस बीच के अनेक उपन्यासो मे 'मैय्यादास की माडी' उल्लेखनीय रचना है, जिसमे पराधीन भारत के दौरान पजाब की सामती और जमीदारी व्यवस्थाओ की विरूपताओ और परिवर्तनो का बेबाक विश्लेषण है।

इस अवधि मे निर्मल वर्मा के दो उपन्यास आये— 'एक चिथडा सुख', 'रात का रिपोर्टर'। 'एक चिथडा सुख' के प्रसग मे कुँवर नारायण ने निर्मल वर्मा के गद्य को खरगोश की खाल की तरह कोमल और सवेदनशील बताकर प्रशसा की है। इसमे निर्मल वर्मा सम्बन्धो की जटिलता और अन्यमनस्कता के बीच मनुष्य के सुख की तलाश का उद्यम किया है। इस उपन्यास मे भौतिक सुखो के लिए समझौते और क्षणिक स्वार्थो के कारण समर्पण करती आत्माओ को बडी सजीदगी से विश्लेषित किया है। 'रात का रिपोर्टर' उनका अकेला उपन्यास है जिसमे वे इमरजेसी को पृष्ठभूमि के रूप मे बडी उर्वरता के साथ इस्तेमाल करते है। यह उपन्यास रिशी नामक पत्रकार द्वारा भोगे गये आतक को मानवीय नियति के सकट के रूप में देखे जाने पर बल देता है।

इस उपन्यास यात्रा मे जगदीश चन्द्र के कई उपन्यास आये, जो कथ्य व विश्लेषण की दृष्टि से इतने महत्त्वपूर्ण है कि उनको छोडकर हिन्दी उपन्यासो की यह बहस पूरी होती नहीं दिखाई देती। 'कभी न छोडे खेत', 'मुट्ठी भर काकर', 'टुडालाल' और 'घास गोदाम' जैसे उपन्यासों के माध्यम से इन्होने जो ससार रचा है, वह यथार्थवादी है और एक अचल विशेष के लोगों की संघर्षशीलता, मानसिकता और अन्तर्द्वन्द्व को उद्घाटित करता है। 'कभी न छोडे खेत' जाट वर्ग के लोगों के पारंपरिक विद्वेष और विनाश की गाथा है तो शेष उपन्यास मे भारत विभाजन के पश्चात पंजाबी शरणार्थियो के दिल्ली पहुॅचने और उनसे स्थानीय जाटो के आर्थिक -सास्कृतिक टकराव तथा उससे एक नई व्यवस्था के अस्तित्त्व मे आने का सवेदनशील चित्रण है। इसी कडी मे असगर वजाहत का 'सात आसमान' है, जो चार सौ वर्षो के हिन्दुस्तान के जीवन के ठहराव और परिवर्तन की ओर सकेत करता है। इस उपन्यास मे सामंती जीवन दृष्टि और जीवन को यथासम्भव तटस्थ रहकर प्रस्तुत किया गया है। डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र के शब्दों में, 'उपन्यास केवल दो खानदानो की कहानी नही है या केवल पतनशील संस्कृति का चित्र भर नही है। गहरे अर्थ मे जो नष्ट हुआ है और जो बन रहा है दोनो पर प्रश्न चिन्ह लगाता है। क्या सब कुछ नष्ट होने योग्य था और क्या सब कुछ तो बन रहा है स्वीकार करने योग्य है।'[1] यह उपन्यास , 'बेदखल', पाहीघर',

1 कथा, फरवरी 2000 मे डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र का लेख,, पृ० 201

'पहला गिरमिटिया' 'कालकथा', 'कलिकथा वाया वाईपास' की भॉति केवल इतिहास नही है, परन्तु इसमे इतिहास इन अन्य उपन्यासो की तरह ही निरन्तर एक आईने की तरह प्रयुक्त किया गया है, जो नबाबी साम्राज्यवादी और पूॅजीवादी व्यवस्थाओ मे विशिष्ट और सामान्य मनुष्यो की स्थिति को प्रतिबिम्बित करता चलता है। 'इतिहास इस अर्थ मे वर्तमान को परिभाषित करता है और वर्तमान से परिभाषित भी होता चलता है। इस दृष्टि से देखने पर जायसी के पद्‌भावत की तरह लगता है।'[1] यह उपन्यास बादशाह बेगम, मौतमुद्‌दौला और रेजीडेन्ट के माध्यम से अवध के नवाबी के अधःपतन का इतिहास ही नही प्रस्तुत करता, बल्कि सत्ता सघर्ष मे मूल्यो और रिश्तो की स्थिति को स्पष्ट करता है। ''उपन्यास मे सैय्यद आगाओ के खब्तीपन, सनक और विचित्रताओ के किस्से है पतनोन्मुख सामती सभ्यता के यथार्थ के वे पहलू है जो प्रवाह के बाहर है और मानव सभ्यता की नश्वरता और सनातनता का एक त्रासद स्वरूप प्रस्तुत करते है[2], जो अपनी आख्यानात्मक शैली, गहरी मानवीय सवेदना, मार्मिकता एव जीवन्त भाषा के द्वारा मानवीय नियति को साक्षात्कृत करता है।

यशपाल के 'झूठा सच' जैसे उपन्यास को छोड दे, तो वृन्दावन लाल वर्मा से लेकर अमृतलाल नागर और उसके बाद तक के हिन्दी के इतिहास केन्द्रित उपन्यास या तो इतिहास पुरूषो की गौरव गाथा बनकर रह गये है या घटनाओ-तिथियो की क्रमबद्ध तालिका। 'इन उपन्यासो का लक्ष्य प्रभुत्वकारी विमर्श से बहिष्कृत जन इतिहास की खोज न होकर, जाने हुए इतिहास को उपन्यास की जीवंतता व रोचकता से लैस करना अधिक है।'[3] 20वी सदी का नवॉ एवं अंतिम दशक इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है, जिन्होने ऐतिहासिक उपन्यास को नया मुहावरा देते हुए प्रेमचन्द एव टालस्टाय की इतिहासदृष्टि को पुष्ट किया है। प्रेमचन्द के अनुसार, घटनाओ की तालिका इतिहास नही है और न राजाओ की लडाइयॉ ही इतिहास है। इतिहास जीवन मे विभिन्न अगो की प्रगति का नाम है और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है, क्योकि साहित्य अपने देश काल का प्रतिबिम्ब होता है।'[4] टॉलस्टाय ने भी अपने 'वार एण्ड पीस' मे लिखा, 'इतिहास के नियमो की खोज हेतु हमे राजाओ, मत्रियो एव सेनानायको को अकेला छोडकर आम जनता को परिचालित करने वाले समानधर्मा सार्वकालिक तत्त्वों का अध्ययन करना

1 डॉ सत्य प्रकाश मिश्र का लेख, पृष्ठ 201।
2 कथा, फरवरी 2000 मे डॉ सत्य प्रकाश मिश्र का लेख, पृष्ठ 203
3 वीरेन्द्र यादव का लेख, कथा, फरवरी 2000
4 'जीवन मे साहित्य का स्थान' विषयक लेख से

चाहिए।'[1] कहना न होगा कि कमला कान्त त्रिपाठी ने 'पाहीघर' (1991) एव 'बेदखल', भगवान सिह ने 'अपने अपने राम' अलका सरावगी ने 'कलिकथा:वाया वाइपास' एव गिरिराज किशोर ने 'पहला गिरमिटिया' मे किसी नई इतिहास भूमि की तलाश न करते हुए भी इतिहास को सर्जनात्मक वैविध्य से युक्त किया है। यहाॅ इतिहास एव समाज एक दूसरे को थामे हुए समकालीन विसगतियो को उकेरने के लिए तत्पर दिखाई देते है।

'पाहीघर' एव 'बेदखल' की विशिष्टता के मूल मे इनकी इतिहास गाथा उतनी महत्त्वपूर्ण नही है, जितनी इतिहासदृष्टि। अठारह सौ सत्तावन के विप्लव एव अवध के किसान आन्दोलन मे बाबा रामचद्र की नेतृत्वकारी भूमिका को जिस जनपक्षधर समझ के साथ ये उपन्यास प्रस्तुत करते है वह इतिहास और समाजशास्त्र की क्षतिपूर्ति है। 'इतिहास के इस कालखण्ड को प्रभुत्वकारी विमर्श से बाहर निकालकर सतह से शिखर देखने की जो इतिहास दृष्टि कमलाकान्त त्रिपाठी अपनाते है उसी के परिणाम स्वरूप 'पाहीघर' अट्ठारह सौ सत्तावन की 'जनक्रान्ति' या 'स्वाधीनता के प्रथम स्वतंत्रता सग्राम' की अवधारणा को प्रश्नो को घेरे मे खडा करता है।इसी इतिहास दृष्टि के चलते स्वतत्रता आन्दोलन की मुख्य धारा से बेदखल अवध के किसान आन्दोलन पहली बार औपन्यासिक केन्द्रीयता प्राप्त होती है। इतिहास को कथात्मक बनाते हुए उपन्यासकार ऐतिहासिक व्यक्तित्वों व औपन्यासिक चरित्रो तथा इतिहास की घटनाओं और औपन्यासिक गल्प के बीच जो पगडडियाॅ निर्मित करता है उससे इतिहास के राजमार्ग के जिन चोर दरवाजो का पता चलता है, वह इन उपन्यासो को विशिष्ट व महत्त्वपूर्ण बनाते है।'[2] ये उपन्यास इतिहास कथा होने के साथ साथ ग्राम कथा भी है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए कमलाकान्त त्रिपाठी प्रेमचन्द के समान ही अवध की कथाभूमि को चुनते है। 'गोदान' के गाॅव 'सेमरी' और 'बेलारी' की तरह ही 'पाहीघर' और 'बेदखल' का गाॅव 'बसौली' भी अवध के उन सैकडो हजारो गाॅवो मे एक है, जहाॅ पहली बारिश के बाद किसान उछाह के साथ हल-बैल लिये खेत की ओर दौडता है। मगर खेत उसका नही है। तालुकेदार जब चाहे उसे बेदखल कर दे। जिस मिट्टी को पालते-पालते बाप-दादे मिट्टी मे मिल गये वह मिट्टी उसकी नहीं है। दूर अपने आलीशान कोट मे बैठा तालुकेदार उसका मालिक है और अगरेज बहादुर

1 'वार एण्ड पीस', खण्ड 11, अध्याय एक
2 वीरेन्द्र यादव का लेख, कथा, फरवरी 2000 अक

उसका रखवाला।'[1] गोदान के होरी की तरह 'पाहीघर' के जयकरन अहीर और 'बेदखल' के सुचित कुर्मी को भी अपने खेत से बेदखल होना पडता है और इस बेदखली की जड मे 'गोदान' के पडित दातादीन की तर्ज पर पाहीघर के माल गुजार शकर दुबे और बेदखल के पदारथ तिवारी है। कर्ज, मालगुजारी, नजराना और बेदखली से त्रस्त अवध के जयकरन और सुचित सरीखे किसानो की दुर्दशा की पृष्ठभूमि में पाहीघर का 1857 का विद्रोह और 'बेदखल' का बाबा रामचन्द्र के नेतृत्व मे ,किसान आन्दोलन इन उपन्यासो की केन्द्रीय अन्तर्वस्तु है। 'पाहीघर' के इतिहास चक्र मे वाजिद अलीशाह की सत्ता से बेदखली, पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी फिर मलिका विक्टोरिया द्वारा अवध की सत्ता का अधिग्रहण, 1857 का विप्लव और इसी बीच जयकरन की खेत से बेदखली, मालगुजार द्वारा उसकी बेटी रूपा के दैहिक शोषण व मौत के हालात का बनना फिर इस सबसे त्रस्त होकर जयकरन द्वारा आत्महत्या करना अवध के प्रभुत्ववादी इतिहास विमर्श को निम्नवर्गीय सदर्भ प्रदान करता है। इतिहास को 'नीचे से देखने' की यह दृष्टि पाहीघर की उपन्यास यात्रा को इतिहास की बोझिलता से मुक्त कर जिस जीवन राग से समृद्ध करती है, उसके तार 'गोदान', 'मैला ऑचल', 'आधा गॉव' और 'धरती धन न अपना' से होते हुए श्रीलाल शुक्ल के 'विश्रामपुर का सन्त' तक विस्तृत है।

'बेदखल' 'पाहीघर' के लगभग साठ वर्ष बाद की कथा कहता है, जिसकी पृष्ठभूमि में बाबा रामचद्र के नेतृत्व मे अवध के किसान आन्दोलन का संवेदनापूर्ण अकन किया गया है। उपन्यास बाबा रामचन्द्र के नेतृत्व को भी पर्याप्त आलोचनात्मक दृष्टि से देखता है, जब उस आन्दोलन के व्यापक जनाधार को बहुत सीमित करके उसे सिर्फ कुर्मी-समाज के आन्दोलन मे बदल देते हैं। लेकिन इसके साथ ही यह उपन्यास काग्रेस के नेतृत्व मे लड़े जा रहे राष्ट्रीय आन्दोलन की विकृतियो को भी उजागर करता है। राष्ट्रीय आन्दोलन की इस सीमा को उपन्यासकार नेहरू और किसान आन्दोलन की समक्षता के प्रसग द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्त करता है, 'चारो ओर दूर-दूर तक सीताराम की आवाज गूॅज रही थी। चिलकती धूप मे अनगिनत बच्चे, बूढ़े, जवान, औरत-मर्द फसल कटने से खाली पडे खेतो से होकर दौड़े जा रहे थे। नेहरू ने देखा-चिथडो मे लिपटे, नंगे-भूखे लोगो की ऑखों मे एक अनोखी चमक थी। और वे अन्दर अन्दर सिहर उठे। यह कैसी दुनिया है। कैसा हिन्दुस्तान। हम शहरो में जो राजनीति करते है, इसके सामने

1 बेदखल, पृ० 8

कितनी ओछी है। काग्रेस और उसके लीडर असलियत से कितनी दूर है । हम क्या कर पायेगे इनके लिए? आखिर मे ये कितने निराश होगे।'[1] नेहरू की यह विवशता स्वय उनकी और काग्रेस की राजनीति की वह वर्गीय सीमा थी जिससे काग्रेसी नेतृत्व को यह लगता था कि 'बाबा ने किसानो को भडका तो दिया, लेकिन आगे कुछ करते न बना तो उन्हे यहॉ लाकर हमारे गले मढ रहे हैं। वे तो समझे थे कि बिना किसी मशक्कत के, लगे हाथ देहात मे काग्रेस की जमीन तैयार करने का मौका मिल जायेगा, पर यहॉ तो लेने के देने पड रहे थे। वे ज्यादातर वकील थे और ताल्लुकेदार ही उनके खास मुवक्किल थे। देशी जमीदारो, तालुकेदारो को नाराज करने का फिलहाल काग्रेस का कोई इरादा नहीं था।'[2] कहना न होगा कि कमलाकान्त त्रिपाठी राष्ट्रीय आन्दोलन के अभिजनवादी चरित्र व गाधी के नेतृत्व की सीमाओ को भी उसके सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे उद्घाटित करते है। गाधी के नेतृत्व मे चलाया जा रहा राष्ट्रीय आन्दोलन किसानो को अपना अनुनायी बनाकर अग्रेजी उपनिवेशवाद के बिरूद्ध उनका इस्तेमाल तो करना चाहता था, लेकिन उनके सशक्तिकरण की अनुमति नही देता था, क्योकि जिन भूस्वामियो के बिरूद्ध अवध के किसान लामबन्द थे, उन्हे 'नाखुश करने का जोखिम' राष्ट्रीय आन्दोलन नही उठा सकता था। अपने खेत से बेदखल सुचित कुर्मी की किसान आन्दोलन से निराश और हताश मनोदशा के मूल मे राष्ट्रीय आन्दोलन की वह सत्ता-सरचना ही थी जिसमे पदारथ तेवारी की प्रभुताई के आधार तो सुरक्षित थे, लेकिन सुचित की बिरोधी चेतना पर बदिशे थी। सुचित की मनोदशा में शोषित-वचित पीढ़ी का पूरा मुहावरा दिखाई देता है, 'आन्दोलन वगैरह की बाते उसे फिजूल लगती। कहॉ इलाहाबाद, कहॉ नेहरू और टण्डन की सभा—बडी-बडी बाते और कहॉ पदारथ का यह व्यवहार। क्या करेगी किसान सभा और क्या करेगे बाबा। तालुकेदार की तो जाने दो, जिसकी चलने लगती है, वही आग मूतने लगता है। आदमी पर आदमी का अत्याचार क्या ऐसे ही चलता रहेगा?'[3]

किसान चेतना की पृष्ठभूमि पर कुछ ऐतिहासिक प्रसगो को अपनी अभिव्यक्ति के लिए इस्तेमाल करते हुए 'विश्रामपुर का सत', रागदरबारी की आगे की यात्रा का सूचक है। कई दृष्टियों से 'विश्रामपुर का सत' श्रीलाल शुक्ल द्वारा अपनी ही रचनात्मक रूढियो से मुक्ति का उत्कृष्टतम उदाहरण है। इनके पहले के

1 बेदखल, पृ० 108
2 बेदखल, पृ० 106
3 बेदखल, पृ० 121

उपन्यासो —'रागदरबारी', 'पहला पडाव' मे ताकत का जो विमर्श भ्रष्टाचार और तत्र की अन्य विकृतियो तक सीमित है, 'विश्रामपुर का सत' मे वह सत्ता विमर्श तक पहुँचता है। कुँवर जयती प्रसाद सिह इस सत्ता विमर्श मे यदि अतर्सूत्र के रूप मे विद्यमान है तो भूदान आन्दोलन इसकी पृष्ठभूमि के रूप मे उपस्थित है। विषय वस्तु की नवीनता के साथ एक और अन्तर यह भी है कि जहाँ 'रागदरबारी', 'पहला पडाव', 'सूनी घाटी का सूरज', व्यक्ति, तत्र और समाज के बहिरग तक सीमित है, वही विश्रामपुर का सत इसके अतरग का भी भेदन करता है। रागदरबारी की तरह न यहाँ व्यग्य का उन्मुक्त ठहाका है और न 'वेदना का कार्टून' व्यग्य यहाँ अतिकथन मे न होकर इस तरह के मितकथनो मे है 'उस मौसम मे इस गाँव ने लगभग आधा दर्जन रिक्शा चालको का निर्यात किया।'[1] ' अब यह आश्रम राजभवन मे तब्दील होने जा रहा है।'[2] यहाँ व्यग्य सिर्फ भाषा तक ही सीमित न होकर स्थितियो एव व्यक्तियो के अन्तर्विरोधो तक विस्तृत है। रागदरबारी की तर्ज पर यहाँ वेदना की अभिव्यक्ति 'कार्टून' के रूप मे न होकर काव्यात्मक सवेदना की ऊँचाइयो को छूती है : " आज तीस वर्षो बाद जब उनकी गोद मे फटी बिवाई वाले किसानो की जिन्दगी पर सुन्दरी की किताब खुली पडी है, सुन्दरी की एडियो की त्वचा की तरह उनका मन भी दरक रहा है, दर्द की आडी तिरछी रेखाए एक दूसरे को काट रही हैं।"[3]

'विश्रामपुर का सत' कथा की एक-रैखिकता के बावजूद कई उपकथाओ की केन्द्रीयता लिये हुए है। इस कथा मे कई युग्म है, कुवर जयती प्रसाद-जयश्री, जयश्री-सुन्दरी, सुन्दरी-सुशीला। इन सभी युग्मो का कोई न कोई तार कुवर जयती प्रसाद सिह और भूदान आन्दोलन से जुडा हुआ है और इन दोनो —कुँवर जयती प्रसाद व भूदान के बीच जो एक समानधर्मी तत्त्व है वह है पाखण्ड। 'सत्ता, लिप्सा, धन, भूमि, लम्पटता की यह पाखड कथा बंद सी दीखने के बावजूद खुले अत की कथा है, क्योकि उपन्यासकार ने कुवर जयंती प्रसाद सिंह की लिप्सा गाथा का जो उदात्तीकरण आत्महत्या की प्रायश्चित गाथा के माध्यम से किया है वह प्रायश्चित न होकर नेमेसिस (प्राकृतिक प्रतिशोध) सरीखा है।'[4] डॉ० परमानंद श्रीवास्तव के शब्द है। 'श्रीलाल शुक्ल के व्यग्यात्मक मखौल के मुख्य केन्द्र कुवर जयंती प्रसाद सिह है। उनके व्यग्य पूर्ण चित्रण से मखौल का कामिक पक्ष भले ही ज्यादा उभरता हो, पर उनकी ट्रेजडी यह है कि वे उस

1 वही पृ० 125
2 वही पृ० 91
3 वही पृ० 136
4 तद्भव, अक1, मे वीरेन्द्र यादव का लेख

सामत वर्ग के प्रतिनिधि है जो स्वभाव से ही और ससाधनो से भी क्रूर शिकारी है और सब कुछ एक साथ पाना चाहता है।'[1] मुरली मनोहर प्रसाद सिह का कथन परमानद जी की बात को ही विस्तार देता है, 'विश्रामपुर का सत मे अवश्य ही भूस्वामी वर्ग के एक पतित व्यक्ति के एकात, उसकी लम्पटता और कामुकता का वर्णन किया गया है। पर कथा विन्यास की सेटिंग्स मे काग्रेसी सरकार की अफसरशाही, व्यभिचारी राजनीति और भूस्वामित्व के नये उत्पीड़क रूपो को बड़े कलात्मक ढंग से गुम्फित किया गया है। अत: कुवर साहब की कहानी पूजीपति, भूस्वामी वर्ग के शासन की एक दिलचस्प (कतरन) के रूप मे सामने आती है, पर उससे कही अधिक राजसत्ता के विकारग्रस्त ढाचे और उसकी सडाध पर अचूक टिप्पणी करती है।'[2]

इसी कडी मे मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' और 'चाक' उल्लेखनीय है, जो उन्हे 'मैला ऑचल', 'रागदरबारी', 'अलग-अलग वैतरणी' की कडी मे स्थापित करने के लिए पर्याप्त है। 'इदन्नमम' मे एक विजन है जो लेखिका के बुन्देलखडी जीवन के प्रामाणिक और अन्तरग अनुभव, पहाडी अचल की धरती और बीहड पहाड के जीवन के सामाजिक यथार्थ तथा एक गहरी मानवीय सवेदना से सम्पन्न है। मैत्रेयी अपने पूर्ववर्ती उपन्यासो मे बुदेलखड की अहीर कन्याओ की करूण नियति कथा, जो किसी न किसी रूप मे नारी मात्र की नियति कथा है, गहरी सवेदना के साथ प्रस्तुत करती रही है, पर इदन्नमम मे यह कथा, 'करूण' की सीमा का अतिक्रमण करती हुई 'जुझारू' बन गई है, जिसकी प्रतीक है मदाकिनी। इदन्नमम की मदाकिनी वास्तविक अर्थो मे एक जुझारू युवती है जो केवल परिवार और समाज द्वारा अपने लिए निर्मित बधनो को ही नही तोडती वरन् उस शोषण के बिरूद्ध मे तनकर खडी होती है, जो आज के नेताओ और माफिया ठेकेदारो द्वारा आदिवासियों और ग्रामीणो पर कहर के रूप में बरपा जा रहा है। मदाकिनी का यह सघर्ष 'चाक' की सारगा के रूप मे व्यापक धरातल पर पहुँचता है। डॉ० परमानंद श्रीवास्तव की धारणा है, 'चाक उपन्यास एक स्त्री की लम्बी लडाई का वृतान्त है। इसी अर्थ मे उसके मुक्ति सघर्ष की महागाथा। स्त्री विमर्श या दलित विमर्श या सबाल्टर्न अध्ययन के जैसे प्रयत्न है उन्हे देखते एक 'नारीवाद पाठ' के रूप मे 'चाक' के पाठ की सम्भावना से इनकार नही किया जा सकता। पर यह उपन्यास 'फेमिनिस्ट क्रिटीक' भर नही है। उपन्यास अपनी समग्रता मे सकेत है कि मैत्रेयी मे मानवीय भावो की

1 तद्भव, अक 1
2 तद्भव, अक एक

सघन अतरगता और सम्बन्धो की जटिलता को चित्रित करने की अनोखी क्षमता मौजूद है। उपन्यास कैसे एक व्यक्तिगत, पारिवारिक, सीमित अर्थ मे सामाजिक त्रासदी से आगे बढकर अत मे अपना एक राजनीतिक अर्थ भी पा लेता है, इसे नजरअन्दाज नही किया जाना चाहिए।'

जाट किसानो के गॉव अतरपुर मे रेशम की हत्या न तो इस उपन्यास मे और न ही स्वातत्र्योत्तर भारत मे कोई अकेली हत्या है : कितनी ही स्त्रियों ने शील सतीत्व या मर्यादा की खातिर या तो आत्महत्या का रास्ता चुना या खत्म कर दी गयी। झूठे सामतवाद की झूठी मर्यादा के नाम पर। विकृत सामतवाद के फूहड इतिहास मे यातना झेलती स्त्रियो की कितनी ही कथाएँ या गीत कथाएँ दर्ज है। अतृप्ति की चरमता मे विभोर रेशम के लिए लेखिका के शब्द है, 'गुलाबी रगत, नाक-ऑख से तराशी हुई गूजरी, हथौडो की सी गढी हुई देह की उठान। कहाँ ले जाती इतना रूप।' पति के न रहने पर भी अवैध मातृत्व धारण करने और ऐलान करने पर घर वालो ने राश्ता निकालना चाहा— डोरिया से व्याह कर दिया। रेशम को यह सब स्वीकार नही था और उसने अस्वीकार का साहस दिखाया और मार दी गयी ।' यह था अतरपुर का गॉव, जिसका सामाजशास्त्रीय विवरण दूसरे अध्याय मे है—'अतरपुर गॉव बडा नही। कुल आबादी एक हजार। ब्राह्मण, बनिया, जाट जैसी ऊँची कही जाने वाली कौमे है तो तेली, गरेडिया, कुम्हार, खटिक, चमार और नाई जैसी छोटी जातियॉ भी है। सक्का मुसलमान भी है।', जो मैला ऑचल के मेरीगज और परती परिकथा के 'परानपुर' का आभास देता है, पर है स्वातत्र्योत्तर भारत का एक गाँव जो पूजीवादी व्यवस्था, चेतना और राजनीति मे व्यापक प्रसार के दौर का गॉव है। इसलिए अतरपुर मे चल रहा सघर्ष स्थूल नही सूक्ष्म है। गाँव मे पुराने और नये दोनो किस्म के धनाढ्य हैं। दोनो मे फर्क है, लेकिन दोनो एक जुट होकर नये उभार के खिलाफ लडते है। आज के गॉव के निहित स्वार्थी और शोषक वर्ग के लोग सामन्ती जमाने की तरह मूछ की लडाई नही लडते। साधजी हो या फत्ते सिह या थान सिह छोटी-मोटी लडाई मे अपनी हार और बेइज्जती पर कोई उग्र प्रतिक्रिया नही व्यक्त करते। इस उपन्यास का मूल कथ्य यह है कि स्वतत्रता जीवन के लिए आवश्यक तो है, लेकिन उसे पाना अत्यन्त कठिन है, रेशम को जान देनी पडी, गुलकन्दी, उसकी मॉ हरिप्यारी और उसके पति विसुनदेवा को भी जान देनी पडी, सारग को मार खानी पडी अपने पढे लिखे पति रजीत द्वारा, श्रीधर को घातक हमले से गुजरना पडा, लेकिन ये सभी प्रसग कुछ न कुछ नयापन लिये हुए है। ये चरित्र जीवन मे नये प्रश्न उठाते है, जिन्हे सक्रमणशील समाज भी

झेल नही पाता। रेशम की हत्या किये जाने पर सारग सोचती है—'अधियारी ने ढॅक लिया उजियारा' सारग उजियारी की रक्षा मे खडी होती है। दरअसल वह गॉव का इतिहास बदलकर नया इतिहास रचना चाहती है, क्योकि 'गॉव के इतिहास की दास्ताने बोलती है,—रस्सी के फंदे पर झूलती रूक्मिणी, कुएॅ मे कूदने वाली रामदेई, करबन नदी मे समाधिस्त नारायणी— ये बेबस औरते सीता मइया की तरह भूमि प्रवेश कर अपने शील-सतीत्व की खातिर कुरबान हो गयी। ये नही और भी न जाने कितनी .' बूढी खेरापतिन इस तरह की कथाएँ सुनाती है। सारग की कोशिश है कि बूढी अब नई कथा सुनाए जो उसके सघर्ष से पैदा हो रही है।

मोटे तौर पर देखा जाय तो आज के उपन्यास लेखन की परम्परा मे प्रेमचन्द एव रेणु का सगीत समाया हुआ है। व्यक्तिवाद टूटा है। शिष्ट समाज लडखडाया है और शहरी मध्यवर्ग की कुठाए बेदखल हुई है। उसकी जगह गॉव कस्बे के मनुष्य और कुनबे अपने बहुवर्णी एव विविध धर्मी यथार्थ के साथ जीवित हुए है। वीरेन्द्र जैन का 'डूब (1994)' मध्य प्रदेश के एक पिछडे उनचल की पीड़ा को बडे सशक्त रूप मे प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है। इसमे उन्होने उस पहाड़ी अचल को अपने विजन का आधार बनाया है, जो स्वतत्र भारत की बिजली-परियोजनाओ के तहत डूब क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाता है। 'यो तो ठाकुरो और साहूकारो के द्वारा गरीब किसानो का शोषण पर्वतीय क्षेत्रो मे भी होता रहा है, पर सिचाई या विद्युत-उत्पादन की परियोजनाओ के तहत विस्थापित होने वाली पहाडी ग्रामीणों के शोषण का तो मानो बाध ही टूट जाता है।'[1] नेताओ को अपने वोट बैक की चिन्ता है, ऊॅचे स्तर के पदाधिकारियों को अपनी कारगुजारी दिखाने की धुन होती है और गॉव कस्बे के साहूकार निचले स्तर के कर्मचारियो से मिलकर ग्रामीणों को मिले मुआवजे की रकम पर गिद्धो की तरह टूट पडते है। सदियो से शासन-व्यवस्था द्वारा उपेक्षित और शिक्षा-दीक्षा , परिवहन, सचार व्यवस्था, स्वास्थ्य आदि की सुविधाओ से वचित पर्वतीय ग्रामीण अवश भाव से सब कुछ भुगतते और सहते है। आचलिक भाषा प्रयोग के कारण यह भी आचलिक उपन्यास की कडी है। वीरेन्द्र जैन के 'पार' (1994) की पूरी सामग्री डूब के बिजन मे ही समेटी जा सकती है।

1 गोपालराय, आजकल, मई-जून 1995

'गोदान', 'मैला ऑचल', 'बलचनमा', 'रागदरबारी' जैसे उपन्यास यदि किसानो की केन्द्रीयता के माध्यम से सामतवाद की परतो को उघाडते है, तो अब्दुल विस्मिल्लाह का 'मुखडा क्या देखे' इस सामती रचना के हाशिए पर धकेल दी गयी उस 'परजा' की नियति से साक्षातकार कराता है जो 'बडमनइन' के हियॉ सोउरी से लेकर बियाह' तक बेगार करने को अभिशप्त हो। 'हाशिये के लोगो की यह कथा जाति, धर्म की सीमाओ को फलागती भारतीय राष्ट्र-राज्य की मूलभूत सरचना को प्रश्नो के घेरे मे खडी करती है। धर्म निरपेक्षता बनाम सास्कृतिक राष्ट्रवाद की आज की बहस जिन मिथ्या अवधारणाओ पर टिकी है, उसका खुलासा इस उपन्यास मे अनजाने ही जिन जमीनी सच्चाइयो के साथ होता है, वह उपन्यास की विधागत सामर्थ्य के प्रति आश्वस्त करता है।'[1] सामती ग्राम सम्बन्धो की तार-तार होती बुनावट, परम्परागत पेशों की टूटन, जाति व्यवस्था की जकडन, साम्प्रदायिकता की अतर्धारा, समाज के निम्न वर्गो मे जनतान्त्रिक चेतना का उभार, सामाजिक न्याय की अनुगूँज एव गाँव में प्रवेश करती बाजारमूलक सभ्यता का अत्यन्त सहज चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। उपन्यास की सफलता इस बात में है कि उपन्यासकार हाशिये पर खडे लोगो की कथा कहते हुए खडित दृष्टि नहीं अपनाता, इसी लिए यह जितनी अल्ली चूडीहार की कहानी है, उतनी ही पडित रामवृक्ष पाण्डेय की भी। यह उपन्यास भारतीय समाज के प्रभुत्वकारी सत्ता विमर्श से जिरह करते हुए 'परजा' के विमर्श का प्रतिपक्ष तैयार करते है और जब यह परजा मुस्लिम समुदाय की चूडिहार बिरादरी का परिवार हो तो सत्ता विमर्श के निहितार्थ में सांस्कृतिक विमर्श भी शामिल हो जाता है, इसे प० रामवृक्ष पाडे के इस वक्तव्य में देखा जा सकता है—'इस शुभ अवसर पर हलवाई आया, कोहार आया, चमार और पासी आए, सिपाही-नाऊ भी आया, मगर अल्ली चूडिहार क्यों नही आया? जरूर इस मुसल्ले का दिमाग खराब हो गया है। अब बन गया न पाकिस्तान, हिन्दुस्तान में जगह न मिली तो पाकिस्तान चले जाएगे। वरना एक परजा की यह मजाल कि गॉव के प्रतिष्ठित ब्राह्मण कन्या का शुभ विवाह हो और वह अनुपस्थित रहे। वाह रे गाधी बाबा, खूब आजादी दिलाई तुमने।'[2] यही है सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की वह वर्णाश्रमी साम्प्रदायिक परिणति जिसके वशीभूत होकर प० रामवृक्ष पांडे यह सोचते हैं कि, 'उनकी एक परजा ने ऐसा विद्रोह क्यों किया न वह भोजन करने आया और न ही अपना कर्तव्य करने। आखिर क्यों? . . ठीक है कि अब आजादी मिल गई है, मगर

1 कथाक्रम जुलाई 99 मे वीरेन्द्र यादव का लेख, पृ० 79
2 मुखडा क्या देखें— अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ० 18

इसका अर्थ तो यह नही हुआ कि शासन अब चुडिहार-धुनिया और चमार-सियार चलाएगे ।'[1] इस उपन्यास मे जनतत्र और आजादी का विमर्श वर्णाश्रमी व्यवस्था से टकराते हुए जिन सच्चाइयो से साक्षात् कराता है, वह स्वातत्र्योत्तर भारत की सामाजिक-सास्कृतिक पहचान से जुडा है। यह स्वतत्रता के बाद के भारत के ऐतिहासिक विकास का सामाजिक विमर्श भी है।

आजादी की पृष्ठभूमि मे ही कामतानाथ द्वारा लिखा 'कालकथा' है, जिसमे एक ओर गाधी के सुराज आन्दोलन मे किसान चेतना का विस्फोट है तो दूसरी ओर ब्रिटिश राज के शोषण और दमन की अकथ कथा को बाधने का उपक्रम किया गया है। यह दूसरी बात है कि कामतानाथ इतने लम्बे चौड पाट के बहाव को उपन्यास मे साध नही पाये है। गिरिराज किशोर का 'पहला गिरमिटिया' शिल्प की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी हिन्दी उपन्यास यात्रा की एक अलग दृष्टि का सूचक है। यहॉ उन्होने गाधी को उनके जीवन के उस दौर में तलाश करने की कोशिश की है, जब वह दक्षिण अफ्रीका मे थे। इस किताब की भूमिका मे गिरिराज लिखते है, 'महात्मा गाधी के जीवन के तीन पक्ष है—एक 'मोहनिया पक्ष', दूसरा 'मोहनदास पक्ष' तीसरा 'महात्मा गाधी पक्ष' मेरा इरादा यही था कि मैं सम्पूर्ण गाधी पर उपन्यास लिखूँ। लेकिन दक्षिण अफ्रीका की यात्रा करने के बाद मैंने तय किया कि मोहनदास पर और उसमे भी दक्षिण अफीकी गाधी पर ही उपन्यास लिखना ठीक होगा। इसमे कोई शक नही कि गाधी हमारी आजादी के सघर्ष-पुरूष है लेकिन मोहनदास एक आम आदमी की सवेदना और अनुभवो के ज्यादा नजदीक है। आने वाली पीढी को मोहनदास की ज्यादा जरूरत है।'[2] उपन्यास के शीर्षक, आकार एव अनेक विवरणात्मक प्रसग उपन्यास के पाठ को प्रभावहीन करते है, फिर भी यह स्वातत्र्योत्तर भारत मे यह एक नई शुरूआत है। गाधी के सामाजिक, राजनैतिक पक्ष के साथ उनके पारिवारिक सन्दर्भो की गहरी पडताल गिरिराज जी ने की है। पत्नी कस्तूरबा और बच्चों के साथ उनके व्यवहार को लेकर गिरिराज जी का रूख कही भी प्रकटत: आलोचनात्मक तो नही है लेकिन वह कही उस सबके पक्ष में अपनी ओर से तर्क देते भी नहीं नजर आते। कुछ महत्त्वपूर्ण सवाल अन्त तक अनुत्तरित रहते हैं।

1 वही, पृ० 30
2 पहला गिरमिटिया—गिरिराज किशोर

इसी कडी मे भगवान सिह का 'अप्ने-अपने राम' आता है, जो मिथक एव पौराणिक आख्यान के द्वारा समकालीन, मूल्यो एव भावबोध को परखने की कोशिश है इनकी अगली यात्रा 'उन्माद' के माध्यम से साम्प्रदायिकता को मनोवैज्ञानिक धरातल पर, एक पात्र रतन के सम्पूर्ण जीवन क्रम और घटनाओ के माध्यम से अन्वेषित करने की है। रतन के पिता कट्टर आर्यसमाजी है। विभाजन का दर्द उन्होने झेला है। सब कुछ लुट पिट जाने के बाद नये सिरे से उन्होंने अपनी गिरस्ती नये हिन्दुस्तान मे जमायी है। रतन के रूपमे वे अपनी सारी मान्यताए, सपने, महत्वाकाक्षाए पूरा करना चाहते हैं, जो वे स्वय नही पा सके। पिता रतन को सघ शाखा मे महान बनने के लिए भेजते है क्योकि महान बनने के लिए अनुशासन जरूरी है जो सघ शाखा मे सहज उपलब्ध है। पर यही पिता उसे डायरी लिखने को भी कहते है क्योकि महान लोग डायरी भी लिखते आये है। सघ की विचारधारा और पिता से मिले संस्कार रतन की दुनिया छोटी ही करते जाते है। उसे देर सबेर लगने लगा था कि यदि इस को सास्कृतिक विरासत माने तो इसे रेवडबदी की बिरासत मानना होगा जिसमे कही किसी धोखे से आये जानवरो को घेर कर अपनी दौलत बनाकर रखा जाता था कि जरूरत पडने पर जिवह किया जा सके।'[1] वह अनुभव कर रहा था कि पिता की महत्वाकाक्षाओ ने, उसे महान बनाने की उनकी जिद ने उसे कुचल कर रख दिया है। जिस रूपचंद ने नैरेटर या मनोज सारस्वत को आबिदा के बारे मे बताया था उसी ने रतन के बारे मे यह भी बताया है कि 'पागल तो उसे होना ही था।'

कट्टर हिन्दू सस्कारो से लैस रतन का सामना जब आबिदा नामक मुस्लिम लडकी से होता है, तो उसके दिल-दिमाग मे पुनः विचारो की उथल पुथल शुरू होती है और उन्हें प्रेम के सूत्र में बॉधकर लेखक उपन्यास को नयी चेतना देता है। इनके बीच की बहसे कही-कही बोझिल और आरोपित भी लग सकती है पर रतन और आबिदा की प्रेम कहानी सामान्य प्रेम कहानी से अलग बौद्धिक विचारधाराओ के परस्पर आपसी टकराव और घात-प्रतिघात की कहानी है।

उपन्यास मे इतिहास एक ही तरह से नही आता। 'जिन्दगीनामा', 'मय्यादास की माडी', 'महाभोज', 'कालकथा ' अपने-अपने राम', 'कलिकथा वाया वाइपास', मे 'पाहीघर', 'सात आसमान', हमारा शहर उस बरस' और 'सोन बरसा' मे वह अलग-अलग तरह से अलग-अलग रूपों मे आता है। 'उन्माद में

1 उन्माद—भगवान सिह

इतिहास प्रच्छन्न रूप मे है— सिर्फ इस अर्थ मे है कि जब भी साम्प्रदायिकता के रूपो - प्रकारो का विश्लेषण किया जायेगा, साम्प्रदायिकता का इतिहास याद आयेगा, वे परिस्थितियाँ याद आयेगी जिनमे राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ, विश्व हिन्दू परिषद, शिवसेना, बजरग दल जैसे सगठन बने और एक तरह के Fundamentalist Rehetoric या बडबोली आक्रामकता के बल पर ताकतवर और सत्ता के सहयोगी बने।[1] साम्प्रदायिकता उन्माद है तो केवल वैयक्तिक स्तर पर नही, सामूहिक स्तर पर भी। इसी उन्माद का एक अन्य विमर्श 'कितने पाकिस्तान' के रूप मे उपस्थित है जो अपनी कथा ढाँचा एव शिल्प सगठन की दृष्टि से 21 वीं सदी की उपन्यास यात्रा की विशिष्ट पहचान है। कमलेश्वर लिखते है, ' कोई भी सस्कृति पाकिस्तानो के निर्माण के लिए जगह नही देती। सस्कृति अनुदार नही उदार होती है वह मरण का उत्सव नही मनाती, वह जीवन के उत्सव की अनवरत श्रृखला है इसी सामाजिक सस्कृति की जरूरत हमे है क्यो कि वह जीवन का सम्मान करती है।' कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' इतिहास और सस्कृति की इसी गहरी समझ का विराट फलक बनकर आया है। मनुष्य के वर्तमान, समसामयिक चिन्ताओ को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे विश्लेषित करता यह उपन्यास न केवल राष्ट्रीय सन्दर्भो तक ही अपने को सीमित रखता है अपितु पूरे जहान की राजनीतिक, सामाजार्थिक ज्वलत समस्याओ से जूझता सही अर्थो मे पाठक को एक ग्लोबल गाँव-समाज का सदस्य बना देता है। 'कितने पाकिस्तान' मे अतीत, इतिहास, परपरा का इस्तेमाल इस रूप मे किया गया है कि वह हमारे वर्तमान के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नो और समस्याओं को समझने की एक नयी दिशा और चिंतन पद्धति दे सके। उपन्यास का नायक, जो हिन्दी उपन्यास के नायकत्व से अलग है, अदीबे आलिया ही 'मनुष्य की सबसे बडी धरोहर' 'बेलौस, बेखौफ आवाज' की रक्षा करने मे समर्थ है। इसानियत की यही आवाज अदीब की आवाज बनकर सारी दुनिया के सास्कृतिक इतिहास में उन विलगाववादी तत्त्वो को तलाशती है जो 'पाकिस्तानो' की निर्मिति में अपनी भूमिका निभाते रहे है। 'उन्माद' के रतन आबिदा की प्रेमकथा के समान यहाँ भी सलमा और अदीब की प्रेमकथा का प्रसग अनुस्यूत है। यह प्रेम न केवल हिन्दू-मुस्लिम के बीच की दीवार को गिराता है, अपितु हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रूप मे जाने जाते मुल्को की सीमा को भी अमान्य करता है— उनका एक ही रिश्ता है मानवीयता का।

1 कथाक्रम-6 जुलाई 92, डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव का लेख

9 वे एव 10 वे दशक ने हिन्दी उपन्यास की अनेक रूढ़ियो को तोडा है। न केवल भाषा एव शिल्प के स्तर पर बल्कि कहना चाहिये हिन्दी उपन्यास की जमीन छद्म आधुनिकता, व्यक्तिवाद, मार्क्सवादी लेखन की अति क्रान्तिकारिता के शोर से दूर होकर जीवन और समाज के व्यापक परिवेश को स्पर्श कर रही है। इस दृष्टि से मनोहर श्याम जोशी का 'कुरू-कुरू स्वाहा' के बाद प्रकाशित' कसप प्रेमकथाओ की दुनियाँ मे नई दस्तक है। मै इसे कथ्य एव शिल्प के स्तर पर एक युगान्तकारी उपलब्धि मानता हूँ। किस्सागोई आधुनिक युग मे विरल होती गयी है और कला के स्तर पर सम्भावना रहित मान ली गयी है। जोशी जी ने इसी तत्त्व को नयी क्षमता के साथ सर्जनात्मक इस्तेमाल किया है। 'सम्बन्धो की जीवित तात्कालिकता मे मिथकीय स्मृतियो, सस्कारो को अकित करते हुए निकटता और दूरी का खास सन्तुलन साधते हुए जोशी ने एक ऐसी कथा भाषा उपलब्ध की है जिसके लिए शिल्प सजग लेखक ईर्ष्या करेगे। गम्भीर और अगम्भीर रोमाण्टिक और भदेस का ऐसा सगठन कम लेखको के यहॉ दिखाई देता है। वर्तमान को मिथक पुराण मे और मिथक पुराण को वर्तमान मे बदलने की प्रक्रिया जोशी की कथा प्रक्रिया का जरूरी पहलू है।'[1] कसप मध्यवर्गीय घरेलू जीवन मे घटित प्रेम कहानी है, जिसकी नायिका बेबी हिन्दी कथा साहित्य के अविस्मरणीय चरित्रों मे गिनी जायेगी। डी० डी० का लाटापन व्यक्तित्व के रूप मे अनोखा अनुभव है। 'सूखा बरगद' की व्याख्या अगर साम्प्रदायिकता की समस्या से अलग हटकर की जाये तो यह विशुद्ध प्रेम का उपन्यास है जिसकी परिणति अलगाव में होती है। 'सूखा बरगद' की रशीदा हिन्दू युवक विजय से प्रेम करती है जबकि रशीदा का भाई विजय की बहन की ओर आकृष्ट होता है। इस उपन्यास ने पहली बार प्रेम के विखण्डन के कारणो मे सामाजिक कारणों को जिम्मेदार ठहराया है। यह सामाजिक कारण है— साम्प्रदायिकता का नया उभार जो न केवल समाज को तोड़ रहा है बल्कि प्रेम जैसी कोमल भावनाओ को भी कुचल रहा है। 'सूखा बरगद' मे प्रेम की जो ट्रेजडी बयान की गई है वह हमारे समय की सबसे बडी चुनौती भरी ट्रेजडी है। प्रेम की मीमासा एव खोज 'मुझे चॉद चाहिये' मे भी है जो वर्षा वशिष्ठ की 'सघर्ष गाथा' के रूप मे उपस्थित है, किन्तु विनोद कुमार शुक्ल का 'दीवार मे एक खिडकी रहती थी' इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसने न केवल हिन्दी कथा क्षेत्र मे दाम्पत्य प्रेम की नीव डाली है, बल्कि दूसरी ओर कथा लेखन मे कविता और उपन्यास (गद्य) के बीच सदियों से खडी भेद की नकली

1 उपन्यास का पुर्नजन्म— प्रो० परमानन्द श्रीवास्तव

दीवार को ढहा दिया है। विनोद कुमार शुक्ल ऐसे कथाकार है, जो परकीया प्रधान प्रेम से विमुख होकर पत्नी को ही 'प्रेयसी' का दर्जा देते है। पत्नी सोनसी का जितना रसमय और विस्मयकारी वृत्तान्त इस उपन्यास मे दिखाई देता है वह इतना परिचित, किन्तु अपरिचित प्रेम का इलाका है, जो इस शताब्दी के कथा लेखन मे एक आश्चर्य लोक की तरह है। प्रकृति और स्त्री के सौन्दर्य को मिलाकर इस उपन्यास मे प्रेम की ऐसी अनजान खिडकी खोली गई है जो हमारे कथा क्षेत्र मे सदियो से बन्द थी। इसलिए हिन्दी उपन्यास की प्रेम दुनियॉ का यह एक नया अध्याय है। विष्णु खरे ने इस उपन्यास के अनुकथन मे स्पष्ट किया है, 'इस उपन्यास मे कोई महान घटना, कोई विराट सघर्ष, कोई युग सत्य, कोई उद्देश्य या सन्देश नही है। कथानक कस्बाई महाविद्यालय के गणित के व्याख्याता रघुवर प्रसाद और उनकी नवविवाहिता सोनसी के आस पास बुना गया है। परिवेश निम्नमध्यवर्गीय है जहा पास-पडोस, परिवार, महाविद्यालय उसके छात्र, कर्मचारी और रोजमर्रा के जीवन के ब्यौरे अपने पूरे बिस्तार मे मौजूद है। यहॉ न नायक है, न खलनायक, बस जीवन और उसकी जीवन्तता है। लोक और उनका जीवन, सादा और निरीह है लेकिन चमत्कार की गुजाइश और प्रतीक्षा बनी रहती है।' [1] कहना न होगा कि यह अपने आप मे एक उपलब्धि है, क्योकि इससे पहले हिन्दी उपन्यास मे निम्न मध्यवर्गीय जीवन या तो हताशा और ऊब का स्रोत रहा है, या ब्लैक ह्यूमर का। इसीलिए मधु बी० जोशी इसे 'समकालीन वैष्णव पाठ' कहते है। रबीन्द्र त्रिपाठी के अनुसार, 'यो तो पहले भी कई उपन्यासो को कवित्वपूर्ण या काव्यात्मक कहा गया है लेकिन 'दीवार मे एक खिडकी रहती थी' की काव्यात्मकता भिन्न किस्म की है। दूसरे उपन्यासो को जब काव्यात्मक कहा गया तो उसका मतलब मोटे तौर पर भाषा का काव्यात्मक होना रहा है। लेकिन विनोद कुमार शुक्ल के इस उपन्यास की काव्यात्मकता सिर्फ भाषा के स्तर पर नही है, बल्कि पूरे 'विजन' के स्तर पर है।' 'दीवार मे एक खिडकी रहती थी' हमारे अनुभव करने के ढग को बदल देती है। हम अपने आस पास को नये तरीको से देखने लगते है उसमे वह देखने की कोशिश करते हैं, जो अब तक 'अनदीखा' था, पर वहॉ मौजूद था। अमूर्तन के स्तर पर कविता यही करती है। इसी अर्थ मे यह उपन्यास काव्यात्मक है।

इस दौर के उपन्यासो मे एक नया स्वर स्त्री के परम्परागत ढॉचे को तोडकर नयी-नयी चेतना व स्फूर्ति प्रदान करता है, जो उसे सतीत्व व देवीत्व के कटघरे से निकालकर उसे इन्सान के रूप मे देखने

1 हस, मार्च 1999

समझने का यत्न करता है। 'अब वह केवल खिलौना नही केवल रमणी भी नही, मात्र सगिनी भी नही, अधिकाधिक व्यक्ति होती जा रही है।'[1] नारी लेखिकाओ ने भी परम्परागत नारी चिन्ताओ और प्रश्नो से मुक्त होकर उपन्यास साहित्य को नयी भूमि दी है, जो राजनीति, मानवीय सम्बन्ध, सामाजिक व्यवस्था, स्त्री नियति और शोषण, स्त्री-पुरूष सम्बन्ध जैसे अन्य अनेक प्रश्नो से निर्मित हुई है। इनमे कृष्णा सोबती अग्रगण्य है, जिन्होने महिला लेखन को सम्पूर्ण लेखन मे परिवर्तित कर दिया है। मन्नू भण्डारी की उपन्यास यात्रा महिला लेखन को नये स्तर पर प्रतिष्ठित करता है। प्रेम व जीवन के सवेगात्मक पक्षो पर सफलता पूर्वक प्रतिष्ठित लेखन के बाद मन्नू ने 'महाभोज' लिखकर हिन्दी उपन्यास को समाज के व्यापक व ज्वलत सत्य से जोड दिया। आपातकाल के तत्काल बाद की परिस्थितियो और राजनीति के अर्थहीन होती जाती परिस्थितियो के बीच जनमानस की यातना, सघर्ष और उसके स्वप्न भग को जितनी सजीदगी एव ओजस्विता के साथ इन्होने अकित किया है, वह अन्यतम है। इस यात्रा को राजी सेठ ने 'तत्सम' से आगे बढाया है। 'निष्कवच' मे उन्होने मूल रूप से विस्थापित युवा पीढी की मानसिकता को विश्लेषित करने की कोशिश की है। उषा प्रियबदा, ममता कालिया, प्रभाखेतान, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग, अलका सरावगी, साराराय, गीताजली श्री अपनी औपन्यासिक यात्रा के माध्यम से जन-जीवन मे सार्थक हस्तक्षेप के साथ उपस्थित है। 20 वी सदी का अतिम दशक अगर इसलिए याद किया जाये कि उसमे हिन्दी महिला उपन्यास लेखन ने अपनी सम्पूर्ण दृष्टि पा ली है तो कोई आश्चर्य नही होगा।

1 अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन, पृ० 6

अध्याय - 4

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और उनका शिल्प

'अंधेरे बन्द कमरे'

राकेश की रचनात्मक यात्रा इस बात की गवाह है कि उनका सवेदनशील मन सदा अपने आस-पास की घटनाओ से उद्वेलित होता रहा है। उन्होने सवेदनात्मक दृष्टि से जीवन को देखा और जीवन को अपनी सवेदना से लपेटकर कृतियो मे अभिव्यजित किया। एक ओर राकेश अपने मन की व्याकुलता को शब्द देना चाहते है, दूसरी ओर वे आस-पास के जीवन्त जीवन को खुली दृष्टि से देखते है और उसका उपभोग अपनी रचनाओ मे करते है। इस प्रकार उनकी रचनाओ मे दो ससार साथ-साथ उपस्थित हैं—अपना और सबका। स्वय राकेश ने लिखा है—

> ''मेरे लिए अनुभूति का सीधा सम्बन्ध मेरे यथार्थ से है और यथार्थ है मेरा समय और परिवेश- व्यक्ति से परिवार, परिवार से राष्ट्र और राष्ट्र से मानव समाज तक का पूरा परिवेश। मै इनमे से किसी एक से कटकर शेष से जुडा नही रह सकता- अपने पास के सन्दर्भो से ऑख हटाकर दूर के सन्दर्भो मे नही जी सकता।''[1]

'अपने लेखन मे मोहन राकेश सारी आत्म परकता के बावजूद, 'परिवार', 'घर', और 'विवाह' जैसी सस्थाओ के सम्पूर्ण निषेध तक नही जाते। लेकिन इन्हे वे अपनी इच्छा और शर्तो के अनुरूप ढालना चाहकर अपने ढग से जीना अवश्य चाहते है।'[2]

राकेश के उपन्यासो का मूल स्वर दाम्पत्य सम्बन्धो में तनाव, कटुता, स्त्री-पुरुष का बधन, मुक्ति, अन्तर्द्वन्द्व का स्वर है। 'अधेरे बन्द कमरे' उनका पहला उपन्यास है, जो अगर उपलब्धि नहीं तो 'सम्भावना अवश्य है,उपन्यास के मुहावरे को खोजने की कोशिश है।' इसकी भूमिका में उन्होने तीन प्रश्नो को उठाया है और इनका उत्तर पाठको पर छोड़ दिया है। 'क्या यह उपन्यास दिल्ली के जीवन का रेखा चित्र है? क्या

1 'परिवेश'—मोहन राकेश, पृष्ठ 26
2 हिन्दी उपन्यास का विकास—मधुरेश, पृ० 192

यह पत्रकार मधुसूदन की आत्मकथा है? क्या यह पत्नी-पति, हरबस -नीलिमा के आपसी टकराहट की कहानी है? यह तीनो हो सकते है, लेकिन इसकी तह मे कुछ और भी है। क्या इसकी तह मे उगते नगर-बोध को पकडने की कोशिश नही है जो आधुनिक -बोध का परिणाम है? यह सही है कि उपन्यास की रीढ पति- पत्नी के जीवन मे तनाव और खिचाव के सूक्ष्म निरीक्षण और काव्यात्मक चित्रण मे उपलब्ध है, लेकिन यह इसकी सीमा नही है।'[1] मोहन राकेश के प्रत्येक चरित्र के चेहरे पर तनाव की लकीरे है, वह चाहे हरबस हो या कालिदास, नन्द हो या महेन्द्र नाथ (आधे-अधूरे)। उसका घर टूट चुका है या टूट रहा है। उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व घर की खोज मे है और व्यक्तित्व की खोज घर मे है। उस उपन्यास मे महानगरी है और महानगरी मे निरन्तर टूटते हुए मानवीय सम्बन्धो की नियति, अकेलेपन का सत्रास है। श्रीकान्त वर्मा ने इसी बात को अस्तित्ववादी तौर पर कहने की कोशिश की है।वह प्रेम की विविधि भगिमाओ के आधार पर नीलिमा-हरबस के अर्थहीन जीवन की दृष्टि से इसका मूल्याकन करते है। 'यह उपन्यास प्रेम का बैठक कमरा है जो सड़क पर है या जो एक सडक मे परिणत होता है। प्रेम करते है और पहले से अधिक अकेले होते जाते है। हम प्रेम करते हैं और एक दिन हम पाते है कि हम प्रेम नही करते थे। बहुत से लोग यह खोज नही भी कर पाते, शायद अधिकांश लोग। ऐसे लोगो का जीवन सबसे अधिक ट्रैजिक होता है।' 'राकेश : एक अंतरग परिचय' मे वासु भट्टाचार्य ने कहा है— "अधेरे बंद कमरे बहुत समकालीन रचना है। आज के बुद्धिजीवी वर्ग का कन्फ्यूजन और उसके भावनात्मक जीवन की असहाय चीख इस उपन्यास मे प्रतिध्वनित हुई है। जिन मजबूरियों मे आज का इन्सान जी रहा है, उनका हल एक और जिन्दगी मे भी नही है। कन्फ्यूजन के शवगार में मजबूरियों की पथरीली टेबुल पर अस्तित्त्ववाद की लाश-लाश नही, देह छटपटा रही है। लेखक की सचेतना मुक्तिवाद के अस्त्र लिये उस देह की —उस लाश की चीर-फाड मे व्यस्त है। बीमारी की जड कहॉ है? किस औषद, किस शल्य से इसका उपचार होगा? क्या होगा भी? कही लाश का भी उपचार होता है? पर सचमुच वह लाश, लाश ही है, सजीव देह नही?"[2]

'अँधेरे बन्द कमरे' का चित्रपट बहुत विस्तृत नहीं है, आज की सामाजिक पृष्ठ भूमि में दो-चार व्यक्ति ही इस चित्र मे अंकित है। ये पात्र समाज के मध्यवर्गीय व्यक्ति हैं, जो अपने ही अन्दर बद, छुटे,

1 आधुनिक हिन्दी उपन्यास—मोहन राकेश, पृष्ठ 67
2 डॉ० नरेन्द्र मोहन द्वारा सम्पादित 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास' मे श्रीकान्त वर्मा का निबन्ध 'अधेरे बन्द कमरे मोहन राकेश', पृष्ठ 206

छटपटाते है और बाहर निकलने के लिए तडपते है। ये पात्र दिल्ली की सर्दी मे मीलो पैदल चलते हैं, कस्साबपुरा की गन्दी बस्ती मे जिन्दगी काटते है। कॉफी-हॉउस और लॉबी होम मे बैठक जमाते है और निरन्तर जीवन से सत्रस्त रहते है। समाचार पत्रो के मालिक उनके श्रम का शोषण करते है और उन्हे ठगते है। विदेशी दूतावास उन्हें नैतिक स्तर पर निरस्त करके उनकी प्रतिभा को देश द्रोह के मार्ग पर ले जानो चाहते है। यह सब सस्कृति और स्वतत्रता के नाम पर होता है। सिगरेट के धुएँ और कॉफी की चुस्कियो के बीच भी वातावरण मे काफी ऊब घुटन और निराशा रहती है। दिल्ली की सम्पूर्ण रगीनियो के बीच एक अजीब उदासी और थकान पात्रो के मन पर छा जाती है। बादल घिर आते है, वर्षा होने लगती है, ओले गिरते है, हवा किवाड झकझोर डालती है और अधेरे बन्द कमरो मे बैठे मनुष्य का मन एक विचित्र बेबसी और अकेलेपन की भावना से भर जाता है। ये व्यक्ति नीद की गोलियॉ खाते है, टैक्विलाइर्जस का सेवन करते हैं, रात-रात भर जाग कर शराब पीते है, किन्तु इनकी व्यथा और अकेलेपन का जैसे कोई इलाज ही नही है। इस कथा मे दो धागे परस्पर लिपटे है, किन्तु वे अलग-अलग भी है। मधुसूदन कस्साबपुरा की गदी बस्ती मे रहता है, जहॉ की तग गलियों मे नालियो का बदबूदार पानी बहता है, जहॉ निरन्तर गाली-गलौज और लडाई के कर्कश स्वर हवा मे तैरते रहते हैं। दूसरी तरफ शेष दिल्ली है, जहॉ रंगीन वातावरण अपनी चकाचौध के साथ उपस्थित है।

समाज मे हरबस, नीलिमा और शुक्ला का जीवन अधिक सुविधापूर्ण और समृद्ध है। हरबंस व नीलिमा की कथा की पृष्ठभूमि में लेखक ने महानगरीय जीवन के विभिन्न आयामो को जहॉ उद्घाटित किया है, वही स्त्री-पुरुष के बीच नित नये बनते बिगडते सम्बन्ध सूत्रों की भी पडताल की है। एक-दूसरे को अपनी असफलता और अप्रतिष्ठा के लिए उत्तरदायी ठहराते हुए वे एक-दूसरे के कटघरे मे खडे मुजरिम है। प्रतिभाहीन दम्पती हरबस और नीलिमा मध्यवर्ग के उस स्टाक के चरित्र है, जिनमें शिक्षा और सस्कारवश महत्त्वाकाक्षा का जागृत हो जाना स्वाभाविक है। मगर हर महत्त्वाकाक्षी प्रतिभावान नही होता। नीलिमा को विश्वास है कि उसमें एक नर्तकी की प्रचुर प्रतिभा है, मगर पति की उदासीनता के कारण, वह अपनी सफलता के साधन न जुटा सकी। पति ही उसकी असफलता के लिए खलनायक है। हरबस की त्रासदी यह है कि वह कभी उपन्यास लिखना चाहता था, न लिख सका, जो होना चाहता था, न हो सका। इसके लिए नीलिमा जिम्मेदार है। फिर भी दोनो साथ-साथ अधेरे बन्द कमरे में रहने के लिए

अभिशप्त है।'अधेरे बन्द कमरे' का हरबस अहवादी है और नारी के प्रति मध्यकालीन मानसिकता से ग्रसित है, उस पर पूरा शासन चाहता है, पर शेखी मूल्यो की बघारता है। वास्तव मे सकोचशील नीलिमा को 'अप-टू-डेट' एव महत्वाकाक्षी हरबस ने ही बनाया था। नीलिमा महत्त्वाकाक्षी, आत्मनिर्भर तथा स्वाभिमानी स्त्री का सस्करण है। ऊबानू तथा जीवन भार्गव के साथ के अपने आकर्षण को न वह छिपाती है और न अपनी अनुपस्थिति में शुक्ला द्वारा की गयी हरबस की सेवा को अन्यथा लेती है। नीलिमा का आन्तरिक द्वन्द्व वास्तविक है और वह इसे समझती भी है। वह बन्धनों मे घिरकर रहना नही चाहती, लेकिन अन्त मे उसे यह स्थिति स्वीकारनी पडती है। इसीलिए इन्द्रनाथ मदान लिखते हैं कि 'मोहन राकेश के 'अधेरे बन्द कमरे' मे भी आधुनिकता का अधूरा स्वीकार है, अनुभूति की धारा पहले खुलकर फिर बन्द हो जाती है। इस उपन्यास मे पति-पत्नी का, हरबस-नीलिमा का एक-दूसरे से कट जाने मे नगर-बोध का परिवेश है। इसमे अनुभूति की धारा खुलने का आभास देती है, लेकिन इनके एक-दूसरे मे लौटने के साथ ही यह बन्द हो जाती है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि राकेश के कथानायको की नियति लौटने मे अभिशप्त है। हरबस-नीलिमा एक-दूसरे से प्रेम करते है और पहले से अधिक अपरिचित हो जाते है। इस तरह दोनो अधेरे बन्द कमरे मे रहने के इतने आदी हो चुके है कि रिश्तो के बाहर एक नामहीन सम्बन्ध की बात सोच ही नही सकते।'[1]

हरबंस -नीलिमा की इस कथा की पृष्ठभूमि मे राकेश ने महानगरीय सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न आयामो को उद्‌घाटित किया है। आधी रात तक चलती पार्टियॉ, सांस्कृतिक डेलिगेशन, पत्रकारिता, उसके हथकण्डे, भौतिकता की दौड में पत्नी को साधन रूप बनाना, साहित्यकला- नृत्य आदि पर काफी-हाऊस मे बहसो का चलना, स्त्री स्वतत्रता की आड़ मे उसे वासना की कठपुतली बनाना तथा उसके विपरीत दूसरे छोर पर दिल्ली की कस्साबपुरा जैसी गन्दी भिनकती हुई गलियो मे लोगो का कीडे-मकोड़े की तरह जीना आदि हमे महानगर दिल्ली को समझने मे और उतने ही अश में महानगरीय सांस्कृतिक जीवन को समझने मे सहायक होता है। मोहन राकेश के शब्द है ''सडको की इस जिन्दगी के पीछे लोगो के अपने छोटे-छोटे घरो की जिन्दगी है। इस चमक-दमक और चहल-पहल के पीछे न जाने किन-किन अधेरी और तग गलियों की जिन्दगी है। एक नया शहर है, जो तेजी से बन रहा हे, उसके पीछे एक पुराना शहर

1 हिन्दी उपन्यास पहचान और परख — डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 84

है जो धीरे-धीरे ढह रहा है। एक तरफ बडी-बडी नयी-नयी योजनाओ और नये प्रयोगो की जिन्दगी है, जिसकी एक अपनी सस्कृति है, दूसरी तरफ बदबू और गन्दगी मे पलती हुई सीलनदार कोठरियो की जिन्दगी है, जिसकी एक अपनी अलग सस्कृति है।''[1] अधेरे बन्द कमरे की कथा और दिल्ली के सास्कृतिक जीवन को दयनीय और हास्यास्पद ढग से अपने इर्द-गिर्द समेटने का प्रयत्न करने वाली नीलिमा और हरबस एक इसी प्रकार के अभिशप्त दम्पती है। उनका 'प्रेम' क्या केवल शारीरिक वासना है? विवाह मे दो व्यक्तियो के उलझाव और अन्तर्द्वन्द्व की कथा इस उपन्यास मे बड़ी सूक्ष्म अनुभूति से और कुशलता पूर्वक कही गयी है। हरबस की दृष्टि से हम मानों समाज में हरबस और नीलिमा के जीवन व्यापार को देखते है। डॉ० प्रकाश चन्द्र गुप्त के शब्द हैं—

> ''इस कथा मे मनुष्य के मानसिक अतर्द्वन्द्वो की एक झॉकी देखते है। ये अन्तर्द्वन्द्व बडे सामाजिक सघर्षों के परिपार्श्व मे देखे गये है। बेचारा प्राणी किसी काल्पनिक सुख की आशा मे चारो ओर भागा भागा फिरता है, किन्तु उसे अपनी अशान्ति से छुटकारा नही मिलता। शर से बिधे शिकार की तरह व तडपता रहता है।''[2]

इस उपन्यास मे भारतीय सामाजिक जीवन का रूप अपनी सम्पूर्ण उदासी, व्यथा और विफलता लेकर प्रकट हुआ है, किन्तु इस कथा का मानव सचेत सामाजिक प्राणी भी है। वह सघर्षो मे अपने प्राण को होम करने को तत्पर प्राणी है। अपनी समस्त बेबसी और दुर्बलताओ के बावजूद भी हरबस और मधुसूदन विषम परिस्थितियो के आगे घुटने टेकने से इकार करते है। वे देश के साथ विश्वासघात का मार्ग दृढतापूर्वक त्यागते है। इस प्रकार वे आज के आत्मसम्मानी, प्रतिष्ठित भारतीय नागरिक के सहज प्रतीक भी है।

'अधेरे बन्द कमरे' के माध्यम से राकेश ने जिन नये सन्दर्भो की तालाश की है, उनमे संत्रास बोध भी प्रमुख है। स्वतत्रता के बाद देश मे राजनीतिक और आर्थिक स्तर पर जो घटित हुआ, उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप भारतीय जन-मानस मे भय, हताशा, कुठा, घुटन, असुरक्षा आदि की भावनाए पैदा हुई। इबादत अली की दयनीय स्थिति के सम्बन्ध मे राकेश लिखते हैं—

1 अधेरे बन्द कमरे' — मोहन राकेश पृ० 249
2 आज का हिन्दी उपन्यास —डॉ० प्रकाश चन्द्र गुप्त पृ० 191

''इबादत अली उस घर का मालिक था, मगर वहॉ किरायेदारों से बदतर हालत में रहता था। जब पाकिस्तान बना था, तो वह भी और कई लोगो की तरह अपना घर छोडकर लाहौर चला गया था शायद अपनी लडकी खुर्शीद की वजह से, कि हो सकता है, अब हिन्दुस्तान मे रहकर वह उसकी ठीक से हिफाजत न कर सके।''[1]

राजनीतिक विभाजन ने लोगो के मन मे केवल असुरक्षा तथा वैमनस्य की भावना ही नही भरी, बल्कि धार्मिक कट्टरता, जाति भेद एव छुआछूत की भावना भी भर दी— ''घर के हिन्दू किरायेदार उससे यूँ भी खार खाते थे और मुसलमान का छुआ पानी पीने मे उनका धर्म भी जाता था, इसलिए वे उसे या उस लड़की को ऑगन के पम्प से पानी नही भरने देते थे।''[2]

कहना न होगा कि अधेरे बन्द कमरे मे घुटी हुई अकेलेपन की कथा होते हुए भी स्वातत्र्योत्तर भारतीय समाज की मानसिकता को उसकी पूरी जटिलता के साथ प्रस्तुत करता है। बावजूद इसके जिन समस्याओ को राकेश ने इस कथा मे उठाया है, उनका कोई समाधान वह प्रस्तुत नही करते। मनुष्य के सम्बन्धो को राकेश मनोवैज्ञानिक की भॉति अपनी अनुसधानशाला मे माइक्रोस्कोप के नीचे देखते है। दाम्पत्य जीवन की इन उलझनो और विफलताओ का हल क्या है? शुक्ला, जिसका लगाव हरबस से है, सुरजीत के साथ कैसे जीवन बिता सकेगी? क्या मधुसूदन, जो शुक्ला से प्रेम करता है, ठकुराइन की लडकी से विवाह करके, सतुष्ट व सुखी जीवन बिता सकेगा? सुषमा से उसका प्रेम अचानक यात्रिक ढग से कस्साबपुरा की ओर क्यो मुड जाता है? इन प्रश्नो को पाठक के मन में छोडकर उपन्यास का अन्त होता है।

फिर भी राकेश का 'अधेरे बन्द कमरे' सातवे दशक के नये आयाम खोलने की गवाही देता है। इसमे पहली बार स्त्री-पुरुष के नये सम्बन्धो और तनावो को भरपूर खुली ऑखो से देखने की कोशिश की गयी है। इसमें सास्कृतिक विघटन, बदलते वाह्य परिवेश मे स्त्री-पुरुष की मानसिकता की ढकी-छिपी रेखाएँ और कोण पहली बार उजागर हुए है। 'यह स्वीकार करना होगा कि आज के शहरी जीवन, आधुनिक बोध के साथ जी रहे स्त्री-पुरुष, उनके अन्तर में उमड़ते द्वन्द्वो, तनावो अकेलेपन आदि का बडा

1 'अधेरे बन्द कमरे' पृष्ठ
2 अधेरे बन्द कमरे, पृष्ठ

मार्मिक चित्रण इसमे हुआ है और ये जीवन के एक कटु यथार्थ से हमारा साक्षात्कार कराते है।'[1] 'राकेश ने इसमे शिल्प की प्रयोगात्मकता लानी चाही है। इसमे पात्रो का पूर्वालोकन किसी पात्र द्वारा निजी घटना के वर्णन के बजाय उसके प्रस्तुतीकरण का, स्थितियो के नाटकीकरण का इस प्रकार कई युक्तियो का व्यवहार किया है, जो अपने आप मे दिलचस्प है।'[2]

चरित्र सगठन की दृष्टि से देखे तो राकेश ने अपने चरित्रो के माध्यम से आज के सन्दर्भो मे अकेले पडते मानव-मन और उसके व्यक्तित्व को रूपायित किया है। एक व्यक्तिवादी उपन्यास होने के नाते अधेरे बन्द कमरे के पात्र अपना रास्ता खुद बनाते है। उनमे अपने ढग से जीने की कामना है। उन सबका अपना पृथक-पृथक दायरा है, जिसे तोडकर कोई भी दूसरो के हिसाब से जीना नही चाहता। इसमें प्रत्येक पुरुष पात्र के साथ एक नारी पात्र है। पात्रो के व्यक्तित्व के अवसर उपन्यास में बहुत कम है क्यों कि सभी प्रमुख पात्र अपनी-अपनी भावनाओ और महत्त्वाकाक्षाओ का सहारा लेकर जहॉ तक चल पाते है, वही बन्द कमरो मे बहुत जल्दी कैद हो जाते है। हरबस और नीलिमा जिस कमरे में कैद है, उससे बाहर निकलने का रास्ता उन्हे नही मालूम। इसीलिए बाहर जाने के लिए उन्हे छलाग लगानी पडती है। ईर्ष्या, खीझ और हीन ग्रन्थि का शिकार बनता हुआ हरबस अपनी कमजोरी छिपाने की कोशिश करता हुआ लदन भाग जाता है। उधर नीलिमा अपनी महत्त्वाकाक्षाओ की पूर्ति के द्वार खोजती हुई कला ससार मे खो जाना चाहती है। मधुसूदन एक ऐसा पात्र है, जो कस्साबपुरे की सीलन और बदबूदार गलियो मे ठकुराइन की कैद मे रहता हुआ भी महानगरीय चमक-दमक और आभिजात्य सस्कृति मे गुम हो जाना चाहता है। सुषमा एक ऐसी आधुनिक नवयुवती है, जो मधुसूदन को माध्यम बनाकर अपनी अतृप्त आकाक्षाओ की पूर्ति करना चाहती है। शुक्ला और सुरजीत पति- पत्नी होकर भी अलग-अलग वृत्तियो के भोक्ता है। ठकुराइन का व्यक्तित्तव ही ऐसा है कि वह गरीबी और सघर्षो की तमाम मार सहकर भी जीवित है। इस प्रकार उपन्यास का प्रत्येक पात्र अपने ढग का अकेला है। प्रत्येक -चरित्र की अपनी सीमाएँ और अपना समस्यालोक है। उपन्यास में अस्तित्व का संघर्ष न केवल हरबंस नीलिमा में है, बल्कि वह मधुसूदन, सुषमा, ठकुराइन, निम्मा आदि पात्रो मे भी है। कॉफी हाऊस व दूतावासो मे होने वाली पार्टियॉ भी इसी चरित्र-विन्यास का अग है।

1 मोहन राकेश— डॉ० प्रतिभा अग्रवाल, पृष्ठ 52
2 नेमिचन्द्र जैन— अधूरे साक्षात्कार, पृष्ठ 109

संवाद-योजना की दृष्टि से देखे तो स्पष्ट होगा कि 'राकेश ने सवादो के लिए सवाद का प्रयोग कभी नही किया है। वे वही पर आये है जहाँ उनकी आवश्यकता है। साथ ही साथ जैसी आवश्यकता, वैसे ही सवादो का प्रयोग राकेश के सवाद शिल्प की विशेषता रही है।'[1] राकेश के 'अधेरे बन्द कमरे' उपन्यास मे आये संवादो का महत्त्व वाह्य परिवेश के अकन की दृष्टि से उतना नही है जितना कि अन्तर्मथन की अभिव्यंजना से। इसके सवाद कथा को गति प्रदान करते हैं, चरित्रोद्घाटक है, लेखकीय दृष्टिकोण के बोधक होने के साथ-साथ पात्रो की क्रिया-प्रतिक्रिया और मन.स्थिति के भी विश्लेपक है। इस प्रकार उपन्यास मे सर्वत्र प्रसगानुकूल कथोपकथन शिल्प का प्रयोग किया गया है, किन्तु अधिकाश स्थल स्वगत कथन अथवा वर्णन विशेष मे समाप्त हो गये है। नीलिमा के पेरिस प्रवास मे उसका तथा ऊबानू का सवाद कथोपकथन की परोक्ष पद्धति का परिचायक है। यहाँ ऊबानू और नीलिमा को पाठक के सामने न लाकर नीलिमा की स्मरण शक्ति द्वारा फ्लैश बैक पद्धति से सवाद कौशल प्रस्तुत है, जो शिल्प की दृष्टि से स्वातत्र्योत्तर उपन्यास मे अभिनव प्रयोग है।

'अधेरे बन्द कमरे' उपन्यास आत्मकथात्मक होते हुए भी वर्णनात्मकता लिये हुए है। मधुसूदन जो कथा का प्रणेता है, वक्ता और श्रोता दोनो है। इसके अतिरिक्त इसमें पत्र विधि, नाटकीय विधि, पूर्वदीप्ति विधि, प्रतीक विधि, भावात्मक विधि और सूक्ष्म व्यजनात्मक विधि का प्रयोग हुआ। इस प्रकार यह शिल्प प्रविधि की दृष्टि से स्वातत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास यात्रा का महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। मनोवैज्ञानिक न होते हुए भी उनमें मानसिक गुत्थियो का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो एव विचारो के आधार पर किया गया है। इसके पात्र अपने जीवन की जटिलताओ से घिरे, विधि संबन्धो से बधे साथ-साथ जीने को बाध्य हैं। चाहकर भी उन्हे एक-दूसरे से मुक्ति नही मिलती, स्वातत्र्योत्तर समाज मे अधेरे बन्द कमरे ही उनकी नियति है। राकेश हरबस और नीलिमा के बन्द कमरो को खोलकर खुले बाजार मे तो आ गये है और खुलावट की यही प्रक्रिया अधेरी बन्द गलियों, दिल्ली की चमक-दमक, होटल और स्त्रियो की जिन्दगी, पत्रकारिता और कलागोष्ठियों मे विश्राम पाती हुई लन्दन तक चली जाती है, किन्तु उसमें गतिहीनता अधिक है। इसका कारण एक से प्रसगो की बार-बार आवृत्ति, पात्रों के बीच लगभग एक सी मन:स्थिति का आवर्तन-विवर्तन और शिल्प की एकरसता आदि को माना जा सकता है। बीच-बीच मे आये लम्बे-

1 डॉ० सुषमा अग्रवाल— मोहन राकेश व्यक्तित्व व कृतित्व

लम्बे वर्णन, पात्रो का एक लम्बा सिलसिला, एक ही ढग से ताने एव छीटाकशी की प्रक्रिया ने कथा की अनवरुद्ध जीवनी शक्ति को रोक दिया है। लगता है दाम्पत्य जीवन मे समाती जाती जडता का प्रभाव कथा पर हो गया है। फिर भी नेमिचन्द्र जैन के शब्दो मे कहे, 'राकेश ने इसमे शिल्प की प्रयोगात्मकता लानी चाही है। इसमे पात्रो के पूर्वावलोकन का, किसी पात्र द्वारा निजी घटना के वर्णन के बजाय उसके प्रस्तुतीकरण का, स्थितियो के नाटकीकरण का— इस प्रकार कई युक्तियो का व्यवहार किया है, जो अपने आप मे दिलचस्प है। पर कुल मिलाकर उसमे कोई विशिष्टता या चमक नही पैदा होती। 'अधेरे बन्द कमरे' बेशुमार सम्भावनाओ के बावजूद अनजाने की एकरसता के अधेरे कमरे मे बन्द हो गया है और जीवन से किसी गहरे साक्षात्कार का आभास नही दे पाता''[1]

1 अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन, पृष्ठ 132

'मैला आँचल'

उपन्यास मे युगानुरूप बदलते हुए जीवन तथा जीवन मूल्यों को उसके सही और वास्तविक परिवेश मे चित्रित करने का स्वाभाविक लचीलापन अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना मे अधिक है, इसलिए इसकी आन्तरिक और वाह्य सरचना मे , इसके कथ्य एव रूप मे सर्वाधिक परिवर्तन होते रहे है। आचलिक उपन्यास, जिसका प्रथम मॉडल 'मैला ऑचल' के रूप मे है, इसी नव्यताकाक्षी और प्रयोगधर्मिता की उपलब्धि है और इस उपलब्धि के मूल मे है युगीन समस्याओ तथा युग यथार्थ से सीधे टकराने की प्रवृत्ति, जीवन यथार्थ के साथ उपन्यासकार की प्रतिबद्धता तथा समय के मुहावरे मे बोलने की उसकी विवशता। ग्रामीण यथार्थ को आधार बनाकर उपन्यास पहले भी लिखे गये थे। प्रेमचन्द के उपन्यासो मे 'प्रेमाश्रय' और 'गोदान' के यथार्थ से हम परिचित ही है। शिवपूजन सहाय के 'देहाती दुनिया' जैसे उपन्यास का अलग ही महत्त्व है। पर 'मैला ऑचल' की नवीनता और सर्जनात्मक क्षमता को पहली बार एक आश्चर्य की तरह हिन्दी उपन्यास यात्रा मे लक्ष्य किया गया। डॉ० विजयदेव नारायण साही की धारणा है, ''प्रेमचन्द के उपन्यास आचलिक नहीं है क्यो कि उन गॉवों की कोई स्वतः सम्पूर्ण सत्ता इस आधार पर नही बनती कि जीवन की मौलिक उद्‌भावना ही यहॉ पाठक के जीवन-मूल्यों से अलग स्तर पर हो। उनके गॉव पूरे समाज के अग है। स्वत सम्पूर्ण छविमय समाज नही। इसके विपरीत रेणु के 'मैला ऑचल' मे वर्णन शैली मे ही हमे दो दृष्टियो का बोध होता रहता है—एक खडी बोली द्वारा अभिव्यजित वह जीवन स्तर जो अप्रस्तुत है, लेकिन जहॉ से दूरबीन लगाकर पाठक और लेखक दोनों ही अचल को देखते है, आचलिक शब्दावली द्वारा चित्रित भिन्न स्तर पर बीतता हुआ वह छविमय जीवन जिसकी शर्ते बिल्कुल अलग है।''[1] 'भारतीय उपन्यास के पाठक अब तक्षि शिव शकर पिल्लै के उपन्यास 'मछुवारे', गोपीनाथ महाति के उपन्यास 'माटी मटाल' से अपरिचित नही है। फिर भी 'मैला आचल' की नवीनता मे कुछ खास है जिसे समझने के लिए उपन्यास के विश्वसन्दर्भ को तथा भारतीय सन्दर्भ को, विशेष रूप से स्थानिक सन्दर्भ को

1 छठवाँ दशक— डॉ० विजयदेव नारायण साही, पृष्ठ 225

साथ-साथ ध्यान मे रखने की जरूरत है। एक जीवन्त क्रीडा भाव या विनोदप्रियता, वस्तु तथ्य, चरित्र या भाव प्रसग की मूर्तता मे जहॉ निरन्तर मौजूद है, वही क्या एक ट्रैजिक रग भी रह -रहकर नही उभरता। और यह एक ऐसा सकेत है जो 'मैला आचल' के मर्म तक पहुॅचने मे सबसे अधिक सहायक हो सकता है।[1] रेणु के शब्द है :"इसमे फूल भी है शूल भी, धूल भी है गुलाल भी, कीचड़ भी है, चन्दन भी,सुन्दरता भी है कुरूपता भी— मै किसी से दामन बचाकर निकल नही पाया।"[2] यही है वह खास जीवन सन्दर्भ, जो रेणु का औपन्यासिक यथार्थ भी है और वह दृष्टि बिन्दु भी जिससे यथार्थ को देखा जा रहा है। इसमे एक ओर वाह्य नैतिकता की धज्जियॉ उडाई जा रही है वही दूसरी ओर आन्तरिक नैतिकता के लिए छटपटाहट भी है। इस द्वन्द्व के कारण ही 'मैला ऑचल' आचलिक उपन्यास भी है और आधुनिक उपन्यास भी। 'मैला ऑचल' मे बालदेव, लक्ष्मी कोठारिन, बामनदास, डॉ० प्रशान्त जैसे कितने ही खरे, सजीव जीवत चरित्र है पर कोई एक चरित्र उसमे केन्द्रीयता नही प्राप्त करता। एक अर्थ मे वह सजीव ग्रामाचल ही उपन्यास मे नायकत्व प्राप्त करता है, जिसमे मानवीय उदात्त भावना और विकट ऊल-जलूल का अद्भुत सयोग है। परस्पर विरोधी मान्यताओ के टकराव के बावजूद गहरी जीवना सक्ति 'मैला आचल' का बीज भाव है। सघर्ष के मूल उद्वेग के साथ ही एक ट्रैजिक लय उपन्यास के कथा प्रवाह मे आद्यन्त विद्यमान दिखाई देता है, जो जीवना सक्ति के मूल भाव से ही सम्बद्ध है। डॉ० नित्यानन्द तिवारी के अनुसार, "लगभग सभी महत्त्वपूर्ण आलोचको ने 'मैला आचल' को शहरी कथाओ के सामने रखकर उसकी ताजगी और जीवतता की सराहना की है, लेकिन साथ ही उसमे प्रौढता का अभाव भी देखा है। किन्तु उसकी ताजगी और जीवतता सिर्फ दृश्य की नही है, दृष्टि की भी है। उस दृष्टि का आभास मिलते ही 'मैला आंचल' स्वातत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य मे सर्वाधिक प्रौढ रचना लगेगी। . उसमे विषय वस्तु की ताजगी और जीवतता है। विषय वस्तु यानी व्यक्ति और सस्थाओं (सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि) के बीच उभरने वाले नये सबन्ध की व्याकुलता, उत्साह, अंधकार और प्रकाश ।"[3]

मैला आचल' मे विषयवस्तु अपनी सम्पूर्ण प्रक्रिया मे है। वह व्यक्ति और समाज के परिवर्तन के बीच से कुछ परिणामी लक्षणो को लेकर भाषा के खेल से मनुष्य को आत्म साक्षात्कार नही कराता वह

1 उपन्यास का पुनर्जन्म —प्रो० परमानद रीवास्तव, पृ० 53
2 मैला आँचल, भूमिका।
3 हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद, मे डॉ० नित्यानद तिवारी का लेख, पृ० 20

मनुष्य को उस कठोर वास्तविकता से मुठभेड कराता है जिसके बीच उसे रहना और जीना है। डॉ० प्रशान्त को रेणु मेरीगज भेजते है, मलेरिया पर रिसर्च करने, लेकिन वे पहले मनुष्य थे, वैज्ञानिक बाद मे। उनहे वहाँ तरह-तरह की चीजे, दृश्य और स्थितियाँ दिखाई पडने लगती है—

1 "डॉक्टर पर यहाँ की मिट्टी का मोह सवार हो गया है। उसे लगता है, मानी वह युग-युग से इस धरती को पहचानता है। "

2 "आम के पेडो को देखने से पहले उसकी ऑखे इन्सान के उन टिकोलो पर पडती है जिन्हें आमो की गुठलियों के सूखे गूदे की रोटी पर जिदा रहना है "

3 कफ से जकडे हुए दोनो फेफड़े, ओढने को वस्त्र नही, सोने को चटाई नही, पुआल भी नही। भीगी हुई धरती पर लेटा न्यूमोनिया का रोगी मरता नही जी जाता है।"

4 "कपडे के बिना सारा गाव अर्द्धनग्न है। मर्दो ने पैट पहनना शुरू कर दिया है और औरते आगन मे काम करते समय एक कपडा कमर मे लपेट कर काम चला लेती है। बारह वर्ष के बचे तो नगे ही रहते है।"

5 "दवनी-मडनी करके जमा करो, साल भर खाये हुए कर्ज का हिसाब चुकाओं। बाकी अगर रह जाये तो फिर सादा कागज पर अगूठे का टीप करो। सफाई करनी है तो बैल-गाय भर ना रखा या हलवाहा, चरवाहा दो। फिर कर्ज खाओ।"

6 " यहाँ बिटामिनो की किस्में उनके अलग-अलग गुण और आवश्यकता पर लम्बी-चौडी फेहरिस्त बनाकर बटवाने वालो की बुद्धि पर तरस खाने से क्या फायदा? मच्छरो की तस्वीरे, इससे बचने के उपायो को पोस्टरो पर चित्रित करके अथवा मैजिक लालटेन से तस्वीरे दिखाकर मलेरिया की विभषिका को रोकने वाले किस देश के लोग थे। "

7 "बेजमीन आदमी, आदमी नही जानवर।"

8 "डॉक्टर का रिसर्च पूरा हो गया, एकदम कम्पलीट। वह बडा डॉक्टर बन गया। डॉक्टर ने रोग की जड पकड़ ली है ?"

9 "गरीबी और जहालत इस रोग के दो कीटाणु हैं।"

डॉ० प्रशान्त का रिसर्च पूरा नही हुआ लेकिन उस बौद्धिकता और विवेक को उनके ठोस प्रसगो-सन्दर्भो सहित जरूर अर्जित कर पाये जिसके जरिये इस समाज मे आमूलचूल परिवर्तन करना है। इनके शब्द है— 'मै प्यार की खेती करना चाहता हूँ। आसू से भीगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहलहायेगे। मै साधना करूँगा, ग्रामवासिनी भारतमाता के मैले आचल तले। कम से कम एक ही गॉव के कुछ प्राणियो के मुरझाये ओठो पर मुस्कराहट लौटा सकू, उनके हृदय मे आशा और विश्वास को प्रतिष्ठित कर सकू।'[1] यहॉ सारे सम्बन्ध एक नये परिप्रेक्ष्य मे दिखाई पडते है, टूटते, बनते, बिगडते, टूटते और फिर बनते। जीवन अपने मौलिक, सहज प्रवाही रूप मे यहॉ उपस्थित है। इसी से उसमे इतना रस है, इतना सगीत और कवित्व है, इतनी तीव्रता और दर्द है। मठ पर नये महन्त को चादर मिलने का आयोजन, बिदा पति नाच, होली का उत्सव और उस अवसर पर डॉक्टर प्रशान्त और कमली का परस्पर आत्म प्रकटीकरण, अपनी मॉ को याद करते-करते डॉक्टर का आत्मविश्लेषण, सथालो का मेरीगज के अन्य निवासियो से सघर्ष, बावनदास की मृत्यु आदि ऐसे स्थल है, जिनमे सौन्दर्य बोध मूलक सयम और अकृत्रिम सहज भावावेश का ऐसा उत्कृष्ट सम्मिश्रण है, जो सदा मर्मस्पर्शी कला को जन्म देता है। वास्तव मे 'मैला आचल' की विशिष्टता इसमे नही है कि उसमे देहाती जीवन का बहुत गहरा अध्ययन है, अथवा सामाजिक समस्याओ और उसके निदान के दार्शनिक आधार उसमे मौजूद है, अथवा युगीन जीवन सत्यो का उद्घाटन लेखक कर सका है। 'उसकी विशिष्टता है उस अपूर्व आत्मीयता मे, जिसके साथ लेखक ने गॉव के जीवन की समस्त कटुता और सगीत को, सरलता और विकृति को, स्वार्थपरता और सामाजिक एक सूत्रता को, अज्ञान और मौलिक नैतिक सस्कार को सॅजोया है।'[2] कथा के एक छोरपर है वन्ध्या धरती का विशाल अचल, जिसमे दूब भी नही पनपती। दूसरे छोर पर वह अनिवार्य सगीत, जो शोषण और दमन के घटनाचक्र मे और अधिक मुखर होता जाता है। बिखरे हुए अनेक असम्बद्ध घटना प्रसगों के बीच इसी अन्तर्विरोधी जीवन लय को पकडने की जरूरत है। महंथ सेवादास, रामदास और गांधीवादी बालदेव, लक्ष्मी कोठारिन का सम्बन्ध एक जैसी स्थितियो का सूचक नहीं है। कही शारीरिक शोषण को आध्यात्मिक गौरव से ढॅका जा रहा है तो कहीं लौकिक जीवनाशक्ति आध्यात्मिक झूठ की हॅसी उड़ा रही है। प्रशान्त और कमली का सम्बन्ध आदर्श और भावना के मूल भाव से जुडा है और उसे भविष्य सकेत से

1 मैला आचल, पृ० 334
2 अधूरे साक्षात्कार —नेमिचन्द्र जैन, पृ० 35

जोडकर विशेष अर्थवत्ता भी दी गयी है पर उससे कही अधिक जीवन्त लगाव दूसरे चरित्र-रूपो मे दिखाई देता है। इस गॉव का अपना एक खास ढॉचा है। जाति विभक्त समाज की बिडम्बनाएँ एकदम सतह पर ही दिखाई दे जाती है। कायस्थ-राजपूत- यादव-सबके सोचने के ढग मे पहले जाति आती है। डॉक्टर प्रशान्त का जादू गॉव पर आसानी से चल जाता है तो भी उससे सर्वप्रथम 'जाति' ही पूछी जाती है। गॉव मे आते हुए उसे पहला केस मिला- तहसीलदार की बेटी कमला का जो बेहोशी का शिकार होने के नाते सबकी चिन्ता का विषय रही है। कभी-कभी उसकी बीमारी मे नाट्य और असलियत का फर्क गायब हो जाता है। डॉक्टर और कमली के परस्पर आकर्षण को न तो दूसरा नाम दिया गया है न उस मूल भाव का कोई अन्यथा कारण ही कहा गया है। यह अवश्य है कि गॉव के बदलने की कल्पना और कमली को सम्पूर्ण पाने की कल्पना एक ही आदर्शीकृत रागभाव के भिन्न रूप है। चरखा सेटर की मंगला देवी क्रान्तिकारी समाजवादी कालीचरण के यहॉ चली जाती है और उसमे क्रान्ति की पहल कुछ ज्यादा मानवीय हो उठती है। एक तरह से देखे तो अवैध प्रेम सम्बन्धो का जाल सा फैला दिखाई देता है, पर सब मिलाकर वह जीवन के खुलेपन का ही प्रमाण है। उसे लेकर न बहुत वर्जनाएं है न अतिरिक्त कुंठा।-प्रत्येक प्रेमी यहॉ देवता नही आदमी की खोज मे है। मानवीय दुर्बलताए ही यहॉ प्रखर और उदात्त के लिए जगह बनाती है।

मैला ऑचल मे कुछ चरित्र रूपो की विशिष्टता सबसे अधिक उपन्यास को पठनीय बनाती है। परमानन्द जी के अनुसर 'महत्त्वपूर्ण उपन्यास में उल्लेखनीय चरित्र वे होते है, जिन्हे गुण दोष की श्रेणी में स्पष्ट रूप से परिभाषित लक्षणो के आधार पर देखना असम्भव हो उठे।'[1] बालदेव ऐसा ही चरित्र है। लक्ष्मी की नजर मे 'कितने सूधे है बालदेव जी' ' बालदेव का अनुभव है कि 'लक्ष्मी के शरीर से 'एक खास तरह की सुगन्ध निकलती है।' गाधी जी के रासते पर चलता हुआ बालदेव हिसावाद के बिरूद्ध है। उसके अनुसार, 'शरीर मे ज्यादा बल होने से हिसावाद करने का खौफ रहता है।' अतिरिक्त सकोच और डर से घिरा हुआ वह कई बार पहल नहीं करता, महज अनुसरण करता है। महत सेवादास के निधन पर मठ की गद्दी को लेकर जो विवाद खडा होता है उसमें लक्ष्मी के प्रति अपने सवेदनात्मक झुकाव के बावजूद वह हस्तक्षेप नही करता। जबकि कालीचरण के सीधे हस्तक्षेप से विचलित होता है। ईर्ष्यादग्ध होता है। कालीचरन की उग्र क्रान्तिकारिता और बालदेव का गांधीवाद, इस विचारधारात्मक सघर्ष को रेणु

1 उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृ० 54

ने उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य मे उभारने की कोशिश की है। उपवास द्वारा आत्मशुद्धि और प्रायश्चित गाधी जी का सुपरिचित मार्ग था और बावनदास उस मार्ग का सच्चा अनुयायी है, पर बावनदास काग्रेस के बदलते हुए 'कल्चर' से निराश और हतप्रभ है। वह अनुभव करता है,'भारतमाता जार-बेजार हो रही है।' पर गाधी की हत्या बावनदास को तोड देती है, ''हाल क्या सुनियेगा। अब सुनना क्या है। रामकिसुन आसरम मे भी हरिजन भोजन होगा। बिलेक- पी कल मर गया। शिवनाथ बाबू आये है पटना से। ससाकजी पराती सभापति हो गये है, वह भी पटना मे ही रहेगे। सब आदमी अब पटना मे ही रहेगे। छोटन बाबू का राज है। एक कोरी बेमान, बिलेक मारकेटी के साथ कचहरी मे घूमते रहते है। सब चौपट हो गया।'[1] और वह काग्रेस पार्टी मे, और सारे देश मे बढ रहे अनैतिक मूल्यो के खिलाफ लडते हुए अपने जीवन का बलिदान कर देने का निश्चय करता है। वह अकेले भारत पाकिस्तान की सीमा पर, नागर नदी के किनारे पहुँचकर पाकिस्तान जाने वाली गाडियो को रोक देता है और कापरा को ललकारता है, ''आइऐ सामने। पास कराइए गाडी। आप भी काग्रेस के मेबर है और हम भी। खाता खुला हुआ है, अपना-अपना हिसाब किताब लिखाइए। आज के इस पवित्तर दिन को हम कलक नही लगने देगे।''[2] और अन्तत: गाडियाॅ बावनदास को कुचलती निकल जाती हैं। हवलदार और नाका पर तैनात सिपाही बावनदास की लाश को पाकिस्तान की सीमा मे फेंक आते है। इस प्रकार बावनदास 'दो आजाद देशो की, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की, ईमानदारी को, इसानियत को, बस दो ही डगो मे नाप' लेता है। इस प्रकार बावनदास की मृत्यु और कालीचरन का जीने के लिए बचा रहना अधिक महत्त्वपूर्ण एव अर्थवान है, क्योकि बावनदास का जीना इसलिए बहुत सारवान नही है कि उसमें भावुकता है और मरना इसलिए अधिक सारवान है कि मानव-जीवन की उभरी अमानवीय शक्तियो की क्रूरता अपने भरपूर प्रहार के साथ खुल जाती है। 'उनकी (बावनदास, होरी) मृत्यु आलोक का विस्फोट है। उनके सारे जीवन को उनकी मृत्यु ही अर्थ से आलोकित करती है। इस प्रकार उनकी मृत्यु बौद्धिक स्तर पर मनुष्य के लिए सृजनशील सभावनाओ से भरी हुई है। जीते हुए उनके क्रिया व्यापार सीमित दूरी तक समाज और राजनीति

1 मैला आचल, पृष्ठ 310
2 वही, पृष्ठ 318

के दबावो का मुकाबला कर पाते है लेकिन उनकी मृत्यु उस अमानवीय शक्ति का पुज हो उठती है जो मानवता और मनुष्य के सवालो को हमेशा सृजनशील केन्द्रो पर सक्रिय करती रहती है।'[1]

मैला आचल मे एक ओर सामाजिक तनाव और सघर्ष के अनेक रूपो की झलक है, जिसके माध्यम से आगे घटित होने वाली उग्रतर स्थितियो की कल्पना की जा सकती है, दूसरी ओर मूल मानवीय रागात्मकता पर इतना बल है कि मानवीय दुर्बलताओ को सहानुभूति देना भी उससे बाहर की चीज नही है। लक्ष्मी कोठारिन महत सेवादास को दोष नही देती। उनकी विवशता को क्षम्य मानती है कि जब बुढापे मे आदमी की इन्द्रियॉ शिथिल हो जाती है, वह माया के प्रबल वेग को सम्भाल नही पाता। दोष तो वह स्वय को देती है कि एक ब्रह्मचारी को धर्मभ्रष्ट करने का पाप उसी के माथे है। इस ग्रामीण अचल की सामाजिक-राजनीतिक -सास्कृतिक सरचना मे सुराजी, काग्रेसी, सोशलिष्ट और चलित्तर कर्मकार सभी हैं। 'अभी सघर्ष साफ नही है। उन्हे न तो तर्क से ही बहुत अलग-अलग देखा जा सकता है न व्यवहार से ही। चर्खा-कर्घा, लाठी-भाला, बम- पिस्तौल साथ-साथ क्रान्ति और परिवर्तन के हथियार बन रहे है। उनका अलग-अलग वैचारिक आधार बना हुआ है, पर सक्रमण भी जारी है।' यहॉ मॅहगी, अकाल, होली का उन्माद, बावलापन सभी एक साथ उपस्थित है। 'रोने-कराहने के लिए बाकी ग्यारह महीने तो है ही, फागुन-भर तो हॅस लो, गा लो। जो जीये सो खेलै फाग।' — यही है इनका जीवन के प्रति दृष्टिकोण, जिसके बल पर वे जीवन भर खटते है, सताए जाते है और सघर्ष करते है। यही समय है जब डॉक्टर प्रशान्त को भवभूति के 'मालती माधव' की याद आती है। यही समय है जब 'कमली का अग अग मानो फडक रहा है' और डाक्टर प्रशान्त को भी अपने दिल की धड़कन साफ सुनाई दे रही है। बामनदास स्वाधीनता आन्दोलन के अनुभवो मे पका हुआ है जो अनशन-आत्मशुद्धि और प्रायश्चित करके अपनी छोटी-छोटी दुर्बलताओ से क्रमश. मुक्त हुआ है। इसीलिए डॉ० नित्यानद तिवारी की धारणा सत्य प्रतीत होती है, 'उसकी ठेठ देशीयता (आचलिकता) विश्वनागरिकतावादी विचारधारा के सामने चुनौती की तरह खडी है। वह चाहे जितनी पिछडी हुई हो, उसकी जडे हैं, परपरा है, सास्कृतिक समृद्धि है और इन्ही कारणों से वह सजीव तथा भिन्न है। यह भिन्नता ठोस मानवीय वास्तविकता है।'[2] कहना न होगा कि मैला ऑचल की आचलिकता, स्वाधीनता आन्दोलन की सन्तान है। स्वाधीनता आन्दोलन मुख्यत:

1 हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद मे डॉ० नित्यानद तिवारी का लेख
2 हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद, मे डॉ० नित्यानद तिवारी का लेख, पृ० 22

राजनीतिक होते हुए भी सास्कृतिक, साहित्यिक, सामाजिक, आर्थिक— सभी क्षेत्रो मे अलग-अलग तरह के लोगो द्वारा अपनी-अपनी दृष्टि और विचारधारा के तहत लडा जा रहा था। मेरीगज के लोग भी पूरी लडाई लड रहे है, अपनी तरह से। 'स्वाधीनता आन्दोलन यदि राष्ट्रवादी और मानवतावादी है तो 'मैला ऑचल' की आचलिकता मे भी स्वातत्र्योत्तर राष्ट्रवाद और मानवतावाद के नये प्रसग, आवेग और उद्वेग की प्रस्तावना है।'[1] जमीन की बन्दोवस्ती के समय कालीचरण एक नेता के रूप मे उभरता है जो कही न कही एक प्रामाणिक और वास्तविक 'व्यक्ति मनुष्य' का उभरना भी है। जमीन की लडाई के दौरान स्वाभाविक प्रक्रिया मे जातिवादी समाज वर्गवादी समाज मे रूपान्तरित होने लगता है। इस प्रक्रिया मे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक चेतनाए एक दूसरे में घुली मिली है। अतएव 'मैला आचल' मे व्यक्ति और समाज एक दूसरे मे दखल देते है और एक दूसरे के लिए नये-नये तनाव और दु:ख पैदा करते है। अपने आतरिक और मानवीय सार को वे इसी प्रक्रिया मे अर्जित करते है।'[2] डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव के शब्द है—'रेणु के लिए यह सारा सघर्ष निरा समाजशास्त्रीय तथ्य नही है इसलिए वह क्रमबद्ध ढग से पूरे-पूरे व्यौरो के साथ नही आता— असम्बद्ध घटना प्रसगो के रूप में आता है। इसलिए रेणु के आशय का ठीक-ठीक पढा जाना महत्वपूर्ण है। महत्त्वपूर्ण है उपन्यास के पाठ की पद्धति। पाठ का ढग। पाठ का नजरिया। जरूरी है शिल्पगत बिखराव का भी सतर्क पाठ- प्रकारान्तर से सार्थक वस्तु ग्रहण। वस्तु और शिल्प का ऐसा अनन्य भाव कम कथाकारो के लिए संभव या सुलभ हो पाया है— जहॉ वस्तु ही रूप है और रूप ही वस्तु है।'[3]

'मैला आचल' दो खण्डो मे लिखा गया उपन्यास है। दूसरे खण्ड के प्रारम्भ में ही सकेत है कि 'सुराज' 15 तारीख (1947) को मिल जाने वाला है। पहला खड स्वाधीनता आन्दोलन के अन्तिम दौर को घेरता है। पर पाठक अनुभव करेंगे कि उपन्यास दो खडो में ही नहीं खड-खंड प्रसगो की वनावट को अक्षुण्ण रखते हुए लिखा गया है। स्पष्ट है कि वह यथार्थवादी इतिवृत्त के परिचित माडल को तोडकर लिखा गया है। यहॉ यथार्थ के साथ जीवन के मूल रस-राग सौन्दर्य से गुनगुनाते सगीत को आत्मसात करने के लिए एक ढीला-ढाला कथात्मक ढॉचा खोज लिया गया है। परमानन्द जी के अनुसार, 'इसी अर्थ मे

1 वही, पृष्ठ 22
2 हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद -डॉ० नित्यानद तिवारी का लेख, पृ० 23
3 उपन्यास का पुनर्जन्म —डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृ० 56

'मैला आचल' भारतीय उपन्यास है।' निर्मल वर्मा ने इस खास शिल्प रूप की विशिष्टता को रेखाकित करते हुए लिखा है, ''मैला आचल' और 'परती परिकथा' महज उत्कृष्ट आचलिक उपन्यास नही है, वे भारतीय साहित्य मे पहले उपन्यास है, जिन्होने अपने ढग से झिझकते हुए भारतीय उपन्यास को एक नई दिशा दिखाई थी जो यथार्थवादी उपन्यास के ढॉचे से बिल्कुल भिन्न थी। उन्होने उपन्यास की नैरेटिव, कथात्मक परम्परा को तोडा था। उसे अलग-अलग 'एपी-सोड' मे बॉटा था, जिन्हे जोडने वाला धागा कथा का सूत्र नही, परिवेश का ऐसा लैण्डस्केप था जो अपनी आत्यन्तिक लय मे उपन्यास को रूप और फार्म देता है।''[1] वास्तविकता तो यह है कि भारतीय उपन्यास की इस आन्तरिक लय को रेणु ने झिझकते हुए नही, बहुत सतर्क ढग से पकडने या स्वायत्त करने की कोशिश की। रेणु के यहॉ यह परिवेश भौगोलिक -प्राकृतिक, कालिक, सामाजिक -सास्कृतिक रूप मे है। रेणु के प्रकृति परिवेश की सबसे बडी विशेषता उसके भौतिक रूप की अपेक्षा मानवीय सवेदना के वाहक के रूप मे चित्रित होने मे है। भौगोलिक और प्राकृतिक परिवेश का स्वरूप कही शब्द चित्रात्मक है तो कही ध्वनि-चित्रात्मक, कही रूपात्मक है तो कही भावात्मक और काव्यात्मक। कालिक परिवेश, यहॉ दो रूपो आसन्नवर्तमानकालिक एव सामान्य वर्तमानकालिक के रूप मे उपस्थित है। असन्नवर्तमानकालिक वातावरण का निर्माण गॉव मे मलेरिया सेटर, चर्खा सेटर के खुलने, महथ की मृत्यु के बाद नये महथ के चुनाव सम्बन्धी विवाद के उत्पन्न होने तथा पन्द्रह अगस्त को देश की स्वतत्रता मिलने से निर्मित हुआ है और सामान्य वर्तमान कालिक वातावरण देश की स्वतत्रता के कुछ पूर्व तथा तुरन्त बाद वाली राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक रीति-नीति तथा परम्परागत स्थितियो और लोकतत्त्वो के द्वारा। 'मैला आचल' में सामाजिक -सास्कृतिक परिवेश अपने सम्पूर्ण आन्तरिक और वाह्य पक्षो तथा पहलुओं के साथ भाषिक सर्जनात्मकता के नये आयामो के रूप मे चित्रित तथा रूपायित हुआ है रेणु का।

'मेरीगंज एक बडा गॉव है, बारहो बरन के लोग रहते हॅ।

राजपूतो और कायस्थो मे पुश्तैनी मन-मुटाव और झगडे होते आये है। ब्राह्मणो की सख्या कम है। इसलिए वे हमेशा तीसरी शक्ति का कर्तव्य पूरा करते है। अभी कुछ दिनों से यादवो के दल ने भी जोर पकडा है।'[2]

1 वही, पृष्ठ 56
2 मैला आचल, पृ० 15

यह चित्र है गॉव मे उभरती हुई जातिवादी व्यवस्था का जो गॉव की जिन्दगी को घुन की तरह भीतर ही भीतर खा रहा है। मेरीगज केवल जातिवाद का ही शिकार नही है, सारा गॉव अलग-अलग टोलियो- कायस्थ टोली- मे तो बॅटा ही है राजनैतिक स्तर पर भी यह टोलियॉ बॅटी है। बालदेव जी काग्रेसी सभा मे जब बोलने के लिए खडे होते है तो सोशलिष्ट वासुदेव उठकर कहता है, ''आप पूजीवाद है। इस सभा मे आप नही बोल सकते।''[1] जनता की ओर से आवाज आती है, ''बैठ जाइये, बैठ जाइये। कपडा की पुर्जी बॉटिये, चीनी बिलेक कीजिये।''[2] इस सामाजिक- आर्थिक सास्कृतिक परिवेश मे नैतिक विघटन कोई आश्चर्य नही है। कहना न होगा कि वातावरण चित्रण के बिब, ध्वनि और गति के बिब, अमूर्त भावो के बिब, अच्छी-बुरी स्थितियो के बिब, सादृश्य मूलक बिब, अनुभाव मूलक बिब आदि अनेक प्रकार के बिम्बो तथा ध्वन्यात्मकता, साकेतिकता और प्रतीकात्मकता के द्वारा आज की समकालीन जिन्दगी एव उसके परिवेश का अकन जिस रूप मे 'मैला आचल' में उपस्थित है, वह अन्य आचलिक उपन्यासो के लिए उदाहरण है। इसीलिए नेमिचन्द्र जैन की धारणा सत्य है,''उसके शिल्प मे नवीनता है। विभिन्न भावो, मनोदशाओ और घटनाओ को तथा बहुत से व्यक्तियो और समूहो के कार्यों और भाववेगो को एक नये ढंग से बार-बार 'टेलीस्कोप' करने की पद्धति से एक साथ ही गति का और स्थिरता का, दूरी का और समीपता का, प्रभाव उत्पन्न होता है। पूरा उपन्यास एक फिल्म जैसा लगता है जिसके पार्श्व-संगीत में मादल और ढोल और लोक गीतो के मादक स्वर निरन्तर सुनाई पडते रहते है।''[3]

प्रविधि के स्तर पर रेणु ने दृश्यात्मक एव परिदृश्यात्मक प्रविधि को ही ग्रहण किया है। रेणु की विशेषता यह है कि उन्होने परिदृश्यात्मक प्रविधि के द्वारा कथा को 'प्रस्तुत' ही नही किया है, उसे नाटकीय भी बना दिया है। परिदृश्यात्मक प्रविधि को एक साथ दृश्य और श्रव्य बना देने की कला मे रेणु अद्वितीय तो हैं ही दृश्यात्मक प्रविधि के भी उन्होंने नये द्वार खोले है। लोकगीतों और लोककथाओ की कडियो की सहायता से कथा को अग्रसर करने की प्रविधि, स्वगत चितन के रूप मे कथा प्रस्तुत करने की प्रविधि का भी रेणु ने अच्छा परिचय दिया है। परस्पर गुथे हुए प्रसगो के सश्लिष्ट चित्र उभारने के लिए 'रेणु' ने बहु प्रचलित यथार्थवादी शैली मे ही छाया-चित्रात्मक शैली (फोटोग्राफिक) का नया आविष्कार कर लिया है।

1 वही, पृ० 110
2 वही, पृ० 110
3 अधूरे साक्षात्कार , नेमिचन्द्र जैन, पृ० 40

भाषा का अनेक स्तरो पर वैविध्य 'मैला आचल' की सर्वोपरि विशेषता है। इस भाषा वैविध्य से उपन्यास के बहुरगी कथा ससार को विश्वसनीयता ही नही व्यक्तित्त्व भी प्राप्त हुआ है। उपन्यास के प्रत्येक पात्र को विशिष्ट व्यक्तित्त्व प्रदान करने तथा उनके मनोभावो और सवेदनाओ की निजता और वैशिष्ट्य को वाणी देने मे यह भाषा वैविध्य अद्भुत रूप से कारगर हुआ है। मैला आचल की भाषा ध्वनि-दृश्य बिम्बो की सृष्टि करने मे अद्भुत है। नाटकीय दृश्यो की योजना 'मैला आचल' के शिल्प का प्रमुख गुण है और भाषा उसका हमेशा साथ देती है। पर रेणु की सबसे बडी उपलब्धि नाटकीय प्रसगो को ध्वनि-बिबो से सयुक्त करने मे है। केवल भाषा की सहायता से ध्वनि -दृश्यात्मक बिम्ब -योजना बहुत मुश्किल काम है। पर रेणु इसमे सफल ही नही है, आश्चर्यचकित करते हैं। इस दृष्टि से तहसीलदार की 'हसेरी' और सथालो के बीच मारमीट प्रसग द्रष्टव्य है—

''चलो। चलो। मारो। साला सथाल। बाहरी आदमी। जान जाये तो जाये। तहसीलदार विश्वनाथ परसाद की ही जमीन पर धावा किया है? चलो रे।

भौ भौ भू ऊं ऊ । कुत्ते परेशान है भूकते भूकते।

। डा डा डा डा डा डा

सथालों के डिग्गा और मादल एक स्वर मे बोल उठे :

रिंग रिंग रिंग रिंग रिंग । डा डा डा डा ।

आज रिंग रिंग ता धिन ता अथवा डा डिग्गा डा डिग्गा नही, सिर्फ रिंग रिंग रिंग रिंग , डा डा डा डा मे '' यह खेत मे बजा रहा है,सथालिनो को सचेत कर रहा है, तुम लोग भी तैयार रहो

डा डा डा डा । सथालिने जबाब देती है रिं रिं रिं रि ।

अर्थात् तैयार है, जूड़े में फूल खोसने मे बस जितनी देर लगें तैयार हैं।

''जै काली माई की जै।'' दो सौ गलों की आवाज सुनकर कालीथान के बड़गाछ पर बैठे हुए कौए एक ही साथ काव-काव कर उड़ते है। कुत्ते और भी जोर से भूकने लगते हैं।

''जै। काली माई की जै।''

''महात्मा गांधी की जै।''

''इनकिलाब जिन्दाबाद।''

''सोशलिस्ट पार्टी जिन्दाबाद।''

''झडा हिन्दू राज का ।''

''हिदू राज की जै।''

''तहसीलदार बिस्नाथ परसाद की जै।''

''बाददेव जी की जै।''

''घेर लो चारो ओर से। भागने न पावे।''

हो हो हो हो हो । '' (मैला आचल, पृ० 203-204)

स्पष्ट है कि 'मैला आचल की भाषा उपन्यास की भाषा का ही एक नया आयाम नही खोलती वरन् उपन्यास विधा को नया जन्म देती है, जिसका मादल स्वर आज भी गूँज रहा है।

अलग-अलग वैतरणी

'इस बदलते मजर का अरसे से मुतजिर था, मगर यह नया दौर खलिल को पस्त हिम्मत बनाने आ रहा है, इससे मै जरूर ना-वाकिफ था।'[1] उपन्यास के पात्र खलील मिया की यह वेदना अकेले उनकी नही है, इसमे स्वातत्र्योत्तर भारत का पूरा भारतीय ग्राम-परिवेश सिसक रहा है। कथाकेन्द्र 'करैता' भी इसी सिसकन, वेदना और कराह से गुजर रहा है जिसकी अत्यन्त ही यर्थापरक एव सवेदनात्मक अभिव्यक्ति 'अलग-अलग वैतरणी' मे है। इसीलिए विजयदेव नारायण साही की धारणा बहुत कुछ सीमा तक सही दिखाई देती है,''प्रेमचन्द का होरी भी वैतरणी मे ऊभ-चूभ कर रहा है। लेकिन पूछ शायद वैतरणी को पार कराने मे मदद कर दे। शिव प्रसाद सिह के उपन्यास मे सस्कारो की गऊ न जाने कहॉ खो गई है, शेष सिर्फ वैतरणी ही वैतरणी है, जिसमे सब ऊभ-चूभ कर रहे है।' शिव प्रसाद जी ने 'एक खास सजीव ग्रामीण परिवेश करैता की ठनक पहचानने के बहाने आजादी के बाद के समूचे भारतीय जीवन की तब्दीलियो, विसगतियो, कठोर सच्चाइयो और प्रतिक्रियाओं से सीधा साक्षात्कार करने की कोशिश की है। चीजो और स्थितियो के ठीक सामने होने में कभी-कभी उनकी भावुक अतिरंजना आडे जरूर आती है, और जब तब उनका सुपरिचित साहित्यिक कौशल भी ऊब उत्पन्न करता है। पर इसमें सन्देह नहीं कि इस साक्षात्कार की प्रक्रिया मे अपने ढग की गतिमयता और पूर्णता भी है।' 'अलग-अलग वैतरणी' का कथाकार यहॉ 'करैता' के माध्यम से हमारे समूचे ग्राम जीवन की व्यथा-कथा को अभिव्यजना दे रहा है। स्वतत्रता प्राप्ति के बाद के काल के राजनीतिक, प्राकृतिक एव सामाजिक रूप के जितने भी अभिशाप हो सकते हैं उनका शिकार न केवल करैता ही हुआ, बल्कि हमारे सभी गॉव बुरी तरह उनकी चपेट मे आ गये। एक टुच्ची और घटिया राजनीति का अजगर हमारे तमाम गावो को लीलता जा रहा है। पहले तो जमीदार अकेला था, परन्तु अब तो कदम कदम पर शोषक खडे हो गये है। जग्गन मिसिर एक स्थल पर इसी असलियत को खोलकर रख देते है-''आज जुल्म कौन करता है गावो मे ? वह छुटभैइये जो पहले

1 बीहड पथ के यात्री, स० प्रेमचन्द जैन, पृष्ट 91

जमीदारी के बूटो से रौदे जा रहे थे। अब छुटभइये गोल बनाकर अपने से कमजोरो, गरीबो को सताते है। लूटते है। आप ही बताइये न, खलील मिया की जमीन किसने छीनी? जमीदार ने? धनेसरी का खस्सी कौन खा गया? जमीदार? सनकू चमार को गॉव-निकला किसने दिया? जमीदार ने? गॉव की बहू-बेटियो को भद्दी-भद्दी बाते जमीदार कह रहा है? बेचारे शशिकान्त मास्टर की ऑख मे बालू डालकर उनका रूपया जमीदार ने छीना? लोगो की खडी फसल चोरी से जमीदार काटता है? बोलिए, यह सब कौन करता है?''[1] करैता टूटे हुए आदर्शो और बीमार मूल्यो वाला ऐसा गॉव है, जहॉ भारतीय प्रजातत्र पूरी तरह कराह रहा है। वैसे तो करैता गाव के प्रत्येक घर-परिवार और प्रत्येक व्यक्ति के दु:खो और समस्याओ की अलग-अलग वैतरणियो की कथाए ही इस उपन्यास के कथानक की बुनावट मे शामिल है, पर इन सब अलग-अलग वैतरणियो के बीच निचली सतह पर एक अन्तर्धारा भी प्रवाहित हो रही है, जो इस अचल-जीवन मे लगे घुन, विघटन और मानवीय मूल्यो के ह्रास की कथा कहती है। क्या आन्तरिक और क्या वाह्य सभी प्रकट-अप्रकट, दृश्य और गोपन सच्चाइयॉ कथानक के छोटे बडे रेशे है जो उसकी बुनावट के उपादान है।

स्वतत्रता के बाद करैता गॉव मे आये सामाजिक बदलाव, सास्कृतिक अवमूल्यन, आर्थिक गिरावट, जाति और वर्गो का आपसी सघर्ष, दलबन्दी, राजनीति, भ्रष्टाचार और ढहते सामतवाद के मलबे पर उठती हुई नयी सामाजिक व्यवस्था की इमारत के अनेक पूर्ण और खडित चित्रो को जोडकर ही उपन्यास के कथानक का निर्माण किया गया है। अपने केन्द्रीय प्रश्न को लेखक ने 'करैता' के जग्गन मिसिर के माध्यम से करीबन अत मे प्रस्तुत किया है—''गाँव का क्या होगा? गॉव कोई आदमी है कि उसका कुछ होता रहेगा? अरे भाई, यह तो खेमा है। कभी उखड़ता है, कभी गड़ता है, कभी बुरे दिन आते है, कभी अच्छे दिन आते है, कभी बिगड़ता है, कभी सवरता है, असली चीज तो धरती है। आप क्या समझते है कि अब दुनिया को धरती से कोई मतलब नही रहा? धरती ही सब कुछ देती है, विपिन बाबू।''[2] लेखक ने 'करैता' के माध्यम से भारत के उजाड़ होते जाने वाले देहाती दुनिया की कथा बताने की चुनौती स्वीकार की है और प्रकरान्तर से धरती और मनुष्य के सूखते सम्बन्धो के प्रति चिंतित होकर अपनी व्याकुलता को, व्यथा को औपन्यासिक विधान दिया है। रचना के आधार-फलक के रूप मे जो जीवन चुना गया है, वह

1 अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 331
2 अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 687

उतना सरल, सादा और उलझनहीन आज नही रह गया है। समस्त उपन्यास मे दर्जनो पात्र ऐसे वाक्य बोलते पाए जाते है जिनसे इस जिदगी का भारीपन, बेढगापन और बेतरतीबी स्पष्ट प्रकट होती है—

''जिन्दगानी कट जाए, यही बहुत है।''

''देखते नही कैसा निहग जमाना है''

''जिधर देखता हूँ अजीब कुहराम है। सभी परेशान हैं, सभी दुःखी''

''ये राज मे तो सुखदेव रामजी अग्रेजी जमाने से भी ज्यादा विपत बढ गयी है। जाने का हो गया है कि कही कुछ सूझता ही नही।''

इसीलिए दो हजार की आबादी वाला गॉव 'करैता' आज अधेरी बंद भुतही गलियो से भरा होकर एक बिना चेहरे वाला अभिशप्त गॉव की प्रतीति कराने वाला गाव बनकर रह गया है। ''आप जो भी कहिये मिसिर जी, करैता जैसा बदनाम, दरिद्र, गिरा हुआ बीमार गॉव शायद ही कही हो। यहॉ कोई भला आदमी रह ही नही सकता।'',[1] ''इस गॉव के हर व्यक्ति की आत्मा मे कोई अतृप्त, प्यासा, बेचैन प्रेम हाहाकार कर रहा है।''[2] ''ई साला गॉव तो बीरबावन पुर है। यहॉ इस लका मे हर साला बावने हाथ का बनता है।''[3] ''यह गॉव तो अब रहा ही नही जिधर देखता हूँ अजीब कुहराम है। सभी परेशान है, सभी दु खी। पता नही इस गॉव पर किस ग्रह की छाया पड गई है। किसी के चेहरे पर खुशी दीखती ही नही।''[4] ''जहालत, गरीबी और तग खयाली की पर्ते एक-पर-एक न जाने कब से जमती चली गई है''[5] ''गॉव साला हरामियों से भर गया है।''[6] जैसी अनेक पक्तियॉ करैता के पूरे ताने-बाने को उजागर करती है। पचायती चुनावो के कारण पार्टीबन्दी की दीवारें उठ रही है, खलियान फूके जा रहे है, शोषण और यौन-सम्बन्धों की चक्की चल रही है, वासना तृप्ति के लिए षड्यन्त्र रचे जा रहे है, दूसरों की गरीबी का मखौल उडाया जा रहा है, बात बात में लाठियॉ निकल रही हैं, अध्यापक अपना अकेलापन मिटाने के लिए शिष्यो का दुरुपयोग कर रहे है। अचल मे नयी चेतना का प्रादुर्भाव विपिन और देवनाथ जैसे स्थानीय

1 अलग-अलग वेतरणी, पृष्ठ 674
2 अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 378
3 अलग-अलग वेतरणी, पृष्ठ, 326
4 अलग-अलग वैतरणी,पृष्ठ 262
5 अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 263
6 अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 533

पात्रो द्वारा भी होता है पर मास्टर शशिकान्त और सरूप भगत जैसे बाहर से आये पात्रों द्वारा भी। सरूप भगत के कथन मे नयी चेतना और मजदूरो की बदलती हुई मानसिकता का स्पष्ट और प्रखर रूप तब दिखाई देता, जब वह अपनी लडकी के साथ सीरीसिह को छेडछाड करते देखता है, "इज्जत तो सबकी एक ही है बाबू चाहे चमार की हो, चाहे ठाकुर की। हम आपका काम करते है, मजदूरी लेते है। हमे गरज है कि करते है, आपको गरज है कि कराते है। इसका मतलब ई थोडा हो गया कि हम आपके गुलाम हो गये।"[1] बावजूद इसके हर जगह एक छोर से दूसरे छोर तक मोह भग है। एक छोर पर जैपाल सिह का मोह भग है तो दूसरे छोर पर विपिन का। पर यह अन्तर कम महत्त्वपूर्ण नही है कि जैपाल के मोह भग मे ज्यादा सजीवता और ज्यादा सच्ची तड़प है, जबकि विपिन का मोहभग फीका और बेजान है। शशिकान्त करैता गॉव मे नयी चेतना जगाकर इसे स्वर्ग बनाने के सपने लेकर "एक दिन सूरज की रोशनी मे करैता आया था   वह रात की अधेरी मे अपने सारे हौसले लुटाकर लौट गया।[2] झिनकू चमार कही विद्रोहात्मक बातें करता भी है तो जमीन से उखाड दिया जाता है और वह चुपके से रास्ते पर मजूरी करने चला जाता है। विपिन और देवनाथ अपने हथियार परिवार और परम्परा के सामने डाल देते है और गॉव से, परिवार से भागने में ही निस्सार पाते है। विपिन की प्रतिक्रिया है—"मारो साले गॉव को गोली। साल भर तक मैने इस गॉव में रहकर यह जान लिया है कि यहॉ किसी भले आदमी का रहना मुश्किल है। यह एक जीता-जागता नरक है जिसमें वही आता है जिसके पुण्य समाप्त हो जाते है। चारो ओर कीचड, मच्छर, जहरीली मक्खियॉ इसके बीच भुखमरी, डरावनी हड्डियो के ढॉचे, किचरीली ऑखो और बीमारी से फूले पेट वाले छोकरे, घरो मे बन्द गदगी मे आपातमस्तक डूबी औरतें जो एक दूसरी को खुले-आम चौराहे पर नगियाने मे ही सारा सुख और खुशी पाती है, धुंधवाते मन के अपाहिज जैसे नवयुवक जो अधेरी बन्द गलियो में बदफौली करने का मौका ढूढते फिरते हैं, हरे-थके प्रौढ जो न गृहस्थी के जुए को उतार पाते है, न उसमे उत्साह से जुट पाते है, मौत का इतजार करते बुड्ढे अपने ही बेटे-बेटियो से उपेक्षित बिल-बिलाते रहते है— यही है न हमारी जन्मभूमि करैता।"[3] 'टूटन' इस उपन्यास का मूल स्वर है। यह टूटन करैता गॉव के जन-जन में, उनकी जीवन-दृष्टियों मे, उनके विभिन्न क्रियाकलापों मे अनेक रूपो में परिव्याप्त है। खलील चाचा का उखडना एक पाक, दरियादिल भारतीय मुसलमान का उखड़ना है

1 अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 249
2 अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 522
3 अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ

और उसकी हमे जबर्दस्त कीमत देनी पडती है। पुष्पी विवाह की फॉस गले मे बाधकर चली जाने को बाध्य है और यह विवाह उसके साथ घटी दुर्घटना का परिणाम है। जैपाल सिह जमीदारी उन्मूलन से टूटते है, उनके विरोधी सूरज सिह पचायत चुनाव मे पराजित होकर टूटते हैं, देवनाथ अपने पिता के व्यवहार से टूटता है और उपन्यास का सबसे जिन्दादिल पात्र जग्गन मिसिर अपनी भौजाई और गाव वालो के टुच्चे व्यवहारो से टूटता है। परिवारिक बोझ, कुमार्गगामी पति और ढहती जमीदारी की दीवारो के नीचे कनिया के आत्मसकोच की करुण कथा आत्मा को झकृत कर देती है। जगेसर चौधरी ने गॉव से जाते समय 'मन-ही-मन कसम खा ली कि अब वह भी इस बीर बावनपुर नगर मे लौटकर नही आयेगा विधेसरी लुहार चार-चार दिन फाके करने की मजबूरी से भयानक रूप मे तग आकर मिर्जापुर के जगल मे लकडी काटने के लिए जाने पर विचार करता है। सुरजितवा ने ने पिता से झगडकर गाव की दरिद्रता से तग आकर कस्बे मे लाण्ड्री खोली। झिनकू जमीन से अखडकर सडक बनवाने के काम मे जुट गया। गॉव के सभी काम करने वाले शहर जाते है, सभी रास्ते शहर की ओर उन्मुख हो गये है, सिर्फ जग्गन मिसिर को छोडकर। विरक्ति जग्गन मिसिर के यहॉ भी है, लेकिन उनके यहॉ आस्था है, ''आप जा रहे हैं विपिन बाबू जाइए। कोई आपको उसके लिए दोष भी नही देगा। सभी जाते हैं। हमारे गॉवों से आजकल इकतरफा रास्ता खुला है— निर्यात। सिर्फ निर्यात। जो भी अच्छा है, काम का है, वह यहॉ से चला जाता है। अच्छा अनाज, दूध, घी, सब्जी जाती है। अच्छे मोटे ताजे जानवर, गाय-बैल, भेड-बकरे जाते है। हट्टे-कट्टे मजबूत आदमी जिसके बदन मे ताकत है, देह में बल है, खीच लिये जाते है पल्टन मे, पुलिस मे, मलेटरी मे, मिल में। फिर वैसे लोग जिनके पास अक्ल है, पढे-लिखे है यहॉ कैसे रह जाएगे? वे जाएगे ही। जाना ही होगा।''[1]

उपन्यास की सर्वाधिक कथाए करैता की ब्राह्मण, ठाकुर, अहीर एव हरिजन जातियो एव उसके परिवारो के बनते-बिगडने की घटनाओ एवं प्रसगो से सम्बद्ध है। गॉव का आकाश इन्ही जातियो एव वर्ग-सघर्षो की टकराहटो से गूॅजता रहता है। 'प्रेम, शोषण, यौन सम्बन्ध, गरीबी और समय के बदलते हुए रूप को व्यजना देने वाली जो भी छोटी-छोटी उपकथाए उपन्यास को गति प्रदान करती है, उसमे सरसता पैदा करती है और पाठकीय सवेदना को प्रेरित - प्रज्वलित करती है।'[2] धर्म, सस्कृति, राजनीति और गरीबी करैता के जीवन-प्रवाह को कहॉ बिगाड़ रहे हैं, अलग-अलग वैतरणी मे इसकी जीती-जागती तस्वीर

1 अलग-अलग वैरणी,
2 शिव प्रसाद सिह— स० अरुणेश नीरन, मे डॉ० वशीधर का लेख

उभरी है। करैता की यह कथा देवीधाम से आरम्भ होकर जमीदार जैपाल सिह की छावनी पर पूरी होती है और इस बीच यह गॉव के मेले-ठेलो, गली-मोहल्लो, नालो-पुलो और घर आगनो मे जाने कहा -कहा घूम जाती है। इस आदि और अन्त के बीच मे है गॉव के लोगो के व्यक्तिगत और सामूहिक दु.खो की अलग-अलग वैतरणिया, पुराने और नये मूल्यो की टकराहटे, नयी मानसिकता की छटपटहाटे, मुमूर्ष सामतवाद की नयी सामाजिक व्यवस्था से सघर्ष और गाव की जिन्दगी मे चौतरफा टूटन, विखराव तथा घुटन। हालाकि इस उपन्यास का मूल स्वर टूटन, पराजय, निराशा और पलायन है पर जग्गन मिसिर के माध्यम से लेखक ने गावो की इस गलीज स्थिति का कारण और इससे उबरने के निदान देकर आस्था बचाये रखी है, ''यहॉ रहते वे है, जो यहॉ रहना चाहते, पर कही जा नही पाते। यहॉ से जाते अब वे है, जो यहॉ रहना चाहते है पर रह नही पाते।''[1] इसमे भी सन्देह नही कि अलग-अलग वैतरणी मे कथागत बिखराव है पर लेखक ने अपनी कुशल कथा-योजना से उन्हे इस तरह आपस मे बुन दिया है कि गाठे जल्द दिखाई ही नही पडती। यौन- अतृप्ति की शिकार पटनहिया भाभी के दु·खो की वैतरणी अलग है तो बिपिन -पुष्पी के असफल प्रेम की कथा अलग। कनिया अपने ही दु:खो की वैतरणी मे जीवनभर तैरती रहती है और बेचारे मानवतावादी खलील मिया तो धक्के से ही जमीन पर आ रहे देखते ही देखते पूरा माहौल बदल गया'' इसी करैता मे रहकर या यहॉ से जाकर जैपाल सिह को लगता है कि ''एक हिसक दुर्गन्ध उनके फेफडे मे अटक गयी है।'' शशिकान्त, जिसे करैता से बेशिनाख्त लौटना पडता है हताश, पराजित —अपने से ही सवाल करता है, ''क्या मै इस मुर्दा जगह को बदलने के बजाय खुद ही उसी का एक अग नहीं बनता जा रहा हूँ।'' और जग्गन मिसिर को महसूस होता है कि ''इस गॉव में हर व्यक्ति की आत्मा मे कोई अतृप्त प्यासा बेचैन प्रेम हाहाकार कर रहा है।'' दयाल महराज गॉव के सफरमैना है, धरमू सिह टूटते किसान है,, हरिया, सिरिया और छविलवा गॉव की नयी पीढ़ी की सारी विकृतियो को अपने चरित्र मे समेटे हुए है। सरूप भगत का चरित्र एक सर्वहारा खेतिहर मजदूर होकर भी अक्खड़ व्यक्तित्त्व वाला है, जो स्वातत्र्योत्तर भारत को नयी दिशा देने मे समर्थ है। झिनकू भी जनतात्रिक चेतना से सम्पन्न व्यक्तित्त्व की धार लिये हुए है, ''मारकर जान ले लो। लेकिन हम एक बार नही सौ बार कह रहे है। हम बिना रोजीना बन्नी के काम नही करेगे। पटनहिया भाभी का चरित्र- विकास भी पर्याप्त सहजता लिये हुए

1 अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 675

है। उसमे यौन-सम्बन्धो के प्रति एक ललक है, उसके भीतर एक अतृप्ति है, वह इतनी पूर्णकाम है कि विपिन, शशिकान्त और देवनाथ तीनो उसके प्रति रागासिक्त हो उठते है पर उसे अपने सस्कार कभी सयम नही खाने देते- ''चलो अपने करम मे यह था ही नही, सब है एक नही है तो क्या हुआ।'' पुष्पी एव धनेसरी का चरित्र भी अपनी कुछ अलग विशिष्टता लिये हुए है। लेखक ने 'घटनाओ द्वारा चरित्र-चित्रण', 'कथोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण', 'पत्र एव डायरी द्वारा चरित्र-चित्रण', 'समूह वार्ता द्वारा चरित्र-चित्रण', अन्तर्द्वन्द्व द्वारा चरित्र-चित्रण' प्रविधियो के व्यापक प्रयोग द्वारा आचलिकता को नयी जमीन देने के साथ ही आचलिकता से मुक्ति भी प्राप्त की है। यो ही नही है कि 'अलग -अलग वैतरणी' की तटचर्चा मे शिवप्रसाद जी ने कई बार की काटपीट के बाद भी उपन्यास के अन्तिम रूप से असंतोष व्यक्त किया है जो उन्ही के शब्दो मे 'उनके मन के करैता की सही 'ठनक' को बॉध नही पाया है। वस्तुत: यह उनके अपने दर्द की वैतरणी मे बहकर गॉव से बाहर चले जाते है ये सभी अलग-अलग व्यक्तियो की अपनी अलग-अलग वैतरणिया तो है पर सबके बीच मे बैठा है 'करैता' गॉव के टूटन और स्खलन, अवमूल्यन और बिखराव की व्यथा भरी कहानी, जो बहुत कुछ सीमा तक स्वातत्र्योत्तर भारत की भी कहानी है।

शिवप्रसाद जी ने अपने उपन्यास को आचलिक मानने से आग्रहपूर्वक इन्कार किया, इसका प्रमुख कारण सम्भवत: यह है कि आचलिकता का परिवेश व्यक्तियो को उठने नहीं देता। इसीलिए 'अलग-अलग वैतरणी' मे विशिष्ट वर्गीय चरित्र वाले टाइप पात्र बहुत ही कम है। प्राय. सभी पात्रो की अपनी राग एव लय है। जैपाल सिह और उनके परिवार के अन्य सदस्यो के अतिरिक्त शेष सभी पात्र मध्य एव निम्न वर्ग के है। जग्गन मिसिर, सुरजु सिह, सुखदेव राम, हरिया, सिरिया, खलील मिया, शशिकान्त आदि मध्यवर्गीय पात्र है और दयाल पडित, गगोई महराज, हरखू सरदार, धनेसरी, बुढिया, धुर फेकन, सरूप भगत, लच्छीराम सुगनी, पुष्पी आदि निम्नवर्गीय पात्र। लेकिन इनमे से किसी एक का भी चरित्र अपने ही वर्ग के दूसरे पात्र की तरह नहीं है। इस उपन्यास के पात्रों की अपनी अलग-अलग वैयक्तिकता के सम्बन्ध में 'दिनमान' के टिप्पणीकार का यह कहना सर्वथा सगत है कि, ''हर चरित्र अपने पैरों पर खड़ा होता है, चलता है, लडखडाता भी है, पर लेखकीय वैसाखी नही लगाता   जिस चरित्र मे जितना अधूरापन है, उसे लेखक ने स्वीकार कर लिया है और एक आदर्श चरित्र रखने के फेर मे उसमे भराई नही की है।''[1] इसमे

1 दिनमान, 21 मई 1969 पृ० 39

'करैता' का चरित्र भी कम व्यजक नही है ''करैता, जहॉ 'रेधनीचिरइया पेड से कलपती उड रही है -कुत्ते की तरह रोती हुई—सब कुछ तो सफाचट कर दिया- पता नही अब क्या करने पर लगी है', 'जहॉ जमीदारी की पुश्तैनी पुख्ता दीवाले एक हल्के शिल्प की असमर्थता नही, वरन् करैता की विशिष्टता है। इस शिल्प मे ऐसा बहुत कुछ है, जो 'मैला ऑचल' के लेखक रेणु के शिल्प की याद दिलाता है —कही लोककथाओ का रूपक, कही लोकगीतो की झनक, कही निरपेक्ष दृष्टि ओर कही टूटती स्थितियो की लय के साथ सम्बद्ध सापेक्ष आसक्ति या लगाव। इसके बावजूद ''अलग-अलग वैतरणी' को आचलिक कहना जरूरी नही। सच तो यह है कि करैता की उपेक्षा करके आज के समय, मनुष्य और भारतीय लोकतत्र की पहचान असम्भव है— भारतीय लोकतत्र, जो लगातार टूटते आदर्शो और मूल्यो के बीच आज तक अपनी नयी या स्वस्थ परम्पराये कायम नही कर सका है।''[1]

उपन्यास की शैली सपाट और यथार्थवादी है। बात कहने की पद्धति कथाकार की किचित परिवर्तन के साथ, वैसी ही है जैसी कि प्रेमचन्द और उनकी परम्परा में है। उपन्यास मे कही-कही पत्र शैली, लोकवार्ता शैली और फ्लैशबैक शैली भी अपनाई गयी है।

1 उपन्यास का पुनर्जन्म— डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 112

रागदरबारी

'सूनी घाटी का सूरज' और 'अज्ञातवास' जैसी कृतियो की समीक्षा करते हुए आलोचक डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र ने लिखा, 'श्रीलाल शुक्ल 'पाखड विखडन' के मास्टर लेखक है। वे स्वतत्रता के बाद के मोह भग और मूल्य भ्रशता को गहरी वेदना के साथ, खीझ के साथ नही व्यक्त करते। पात्रो से श्रीलाल शुक्ल जिस प्रकार की विश्वसनीय दूरी बनाये रखते है, वह भी उनके कथात्मक कौशल की विशेपता है। यह कौशल किसी व्यग्य लेखक मे ही हो सकता है कथा मात्र के लेखक मे नही।[1] यह रागदरबारी के सन्दर्भ मे भी सोलहो आने सच है। 'रागदरबारी हिन्दी की उन रचनाओ की परम्परा मे है जो आलोचना के सहारे के बिना अपनी पठनीयता के बल पर लोकप्रिय एव सम्मानित, प्रतिष्ठित हुई है।'[2] रागदरबारी को लेकर आलोचको के एक वर्ग ने जहॉ इस उपन्यास को अपने युग का सशक्त दस्तावेज तथा हिन्दुस्तानी जिन्दगी की मुख्यधारा को पकडने की कोशिश (कमलेश, आलोचना अक्टूबर-दिसम्बर 68) माना है, वही कई अन्य आलोचको ने इसके विस्तार और गहराई पर, इसकी बुनियादी ईमानदारी पर प्रश्न चिन्ह लगाये हैं। श्रीपत राय ने कथा, सितम्बर ६९ में इसे 'बहुत बड़ी ऊब का महाग्रंथ' व 'अतिशय उबाने वाली करूचिपूर्ण और कुरचित कृति' करार देते हुए यह भविष्यवाणी की थी कि 'यह अपठित रह जायेगी'। नेमिचन्द्र जैन ने इसे 'असतुष्ट, क्षुब्ध व्यक्ति की बेशुमार शिकायतो और झीझ भरे आक्षेपो का अतहीन सिलसिला करार दिया था।' आज तीन दशको के अन्तराल के बाद इन आलोचकीय मतव्यो को झुठलाते हुए जब इस उपन्यास ने एक साथ पाठकीय प्रशसा, पठनीयता एव साहित्यिक स्वीकृति के विरल कीर्तिमान स्थापित किये है तो श्रीलाल शुक्ल की कथा दृष्टि की विवेचना निश्चित रूप से एक जटिल व दुविधा जन्य कार्य है और इसलिए चुनौतीपूर्ण भी।'[3] तभी तो रबीन्द्र कालिया के शब्द है—'श्रीलाल जी आलोचकों के बल पर आगे नही बढे, पाठको ने उन्हें पहले मान्यता दी।'[4] डॉ० विद्यानिवास मिश्र के अनुसार,

1 तद्‌भव, एक, मे डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र का लेख, पृष्ठ 23
2 तद्‌भव -एक मे डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी का लेख, पृष्ठ 92
3 तद्‌भव, एक मे वीरेन्द्र यादव का लेख, पृष्ठ 26
4 तद्‌भव, एक, पृष्ठ 75

'रागदरबारी पर्त दर पर्त छीलने वाला उपन्यास है, इसके बावजूद वह पठनीय ही नही, अत्यन्त प्रभावोत्पादक भी है। कुछ लोग ऐसा समझते है कि उसका प्रभाव केवल नकारात्मक है, पाखडो के तिरस्कार पर बल है, अपने अतिरिक्त सबको नैतिकता से शून्य मानने वाला है परन्तु ध्यान से पढने पर स्पष्ट हो जायेगा कि श्रीलाल जी जीवन की निर्मल्यता और पारदर्शिता के पक्षधर है।'[1]

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय परिवेश के मोह भग की जो यात्रा रेणु के 'मेरीगज' से शुरू हुई थी वह 'गगौली' करैता होते हुए श्रीलाल शुक्ल के 'शिवपालगज' मे भी जारी है। 'मोहभग की दास्तान लेकर जब श्रीलाल शुक्ल का 'शिवपालगज' साहित्य के पन्नो का 'रागदरबारी' बना तो वह न तो किसी लगाव भरी पीडा का मोहताज हुआ और न ही उसने किसी भावुक क्षण को भाव दिया। धारदार तेवर और पैने व्यग्य के औजारो से बेरहम शल्य क्रिया करते हुए समाज को फाक-फांक काटा और रेशे-रेशे छीला। शिवपालगज विकासशील देश का ऐसा कस्बा है, जिसे चीरने फाडने से पहले सुन्न कर दिया गया।'[2] बीरेन्द्र यादव के अनुसार, 'रामदरबारी' नेहरूयुगीन जनतत्र की कामिक शैली मे रचा गया 'क्रिटीक' है।'[3] उत्तर नेहरूवाद के इस आरम्भिक दौर मे जनतत्र कटघरे में था, काग्रेस का एकाधिकार समाप्त हो रहा था, केन्द्रीयताएँ टूट रही थी, नैतिकता, सदाचार, कर्तव्यनिष्ठा, ईमानदारी और परोपकार जैसे मानवीय व सामाजिक मूल्यों के प्रति अनास्था का भाव प्रबल था। 'रागदरबारी' ऐसे ही सर्वनकारवादी व अनास्था के दौर की साहित्यिक उपज है। 'सच, नैतिकता, ईमानदारी, इसानियत और प्रजातंत्र को धता बताकर लोभ, मोह, उपयोगितावाद और ताकत लाठीतत्र की प्रतिष्ठा का यह 'दरबारी राग' भ्रष्ट सत्ता तत्र का 'माइक्रोस्तर' पर विखंडन है, क्यो कि उपन्यासकार की मान्यता है कि 'दिल्ली से ले कर शिवपालगंज तक काम करने वाली देसी बुद्धि सब जगह एक सी है।'[4] रागदरबारी का महत्त्व और मौलिकता इस भ्रष्ट सत्ता तत्र की विकृतियो की ठेठ देशज कथात्मक प्रस्तुति है। सम्पूर्ण व्यग्यपरक शैली में लिखे गये इस उपन्यास ने हिन्दी उपन्यास यात्रा में एक अलग ही तकनीक का सूत्रपात किया है, जो लेखन के स्तर पर कार्टून शैली का अनुकरण कही जा सकती है। सुधीश पचौरी ने इसे 'पैरोडी' का दर्जा दिया है। ''पैरोडी के राश्ते पढते हुए अचानक लगता है कि रागदरबारी कथाओं मे उपलब्ध राष्ट्रीय रूपक के मिथ को बडे निर्मम ढग से नष्ट

1 तद्भव, एक, मैत्रेयी पुष्पा का लेख, पृष्ठ 91
2 तद्भव, एक, पृष्ठ 26
3 तद्भव, एक, पृष्ठ 26
4 तद्भव एक वीरेन्द्र यादव का लेख पृष्ठ 36

करता है। यही रागदरबारी का 'डिपार्चर' है, टर्निंग प्वाइट है, जहॉ से हिन्दी कथा कथन प्रेमचन्द के रूपक / रूपको से न केवल अलग दिशा मे चलने लगता है, बल्कि प्रेमचन्द की सरचनाओ को 'मिथ्या' जैसा बताता है। रागदरबारी के पढने के बाद, 328 पृष्ठ तक शिवपालगज मे रहने के बाद प्रेमचन्द के गॉव अचानक झूठे लगने लगते है। प्रेमचन्द की दुकान मे अपना माल रख बेचने वालो के लिए इस उत्तर आधुनिक 'शिफ्ट' से निपटना मुश्किल है जो रागदरबारी की पैरोडी पैदा करती है। वरना इस प्रश्न का उत्तर क्या है कि छत्तीस तक जो ग्राम्य जीवन एक मनोहारी 'इन्नोसेन्स' मे मौजूद दिखता है वह अड़सठ तक आते आते भयावह 'गजहेपन' मे क्यो तब्दील हो जाता है।''[1] यहॉ यह नही भूलना चाहिये कि 'रागदरबारी मे लूटतत्र के खलनायको के चित्रण मे श्रीलाल शुक्ल को जो दक्षता दीखती है, वह तत्र के पीडितो के वर्णन मे नही है। 'दरअसल अभिजात्य के जिस धरातल पर खडे होकर वे नकार की कामिक शैली अपनाते है उसमे खलपात्रो की ही उत्कृष्ट रचना हो सकती है'[2] यही कारण है कि अपनी ग्राम्य पृष्ठ भूमि के 'रागदरबारी' मे होरी, धनिया, गोबर, दु'खी चमार, घीसू, माधव, हल्कू जैसे दु खी और उत्पीडित पात्र नही दिखाई देते। गोदान का कृषक रागदरबारी में आकर — प० कालिका प्रसाद जैसा हो गया है जिसका पेशा 'सरकारी ग्राट और कर्जे खाना था। वे सरकारी पैसे के द्वारा सरकारी पैसे के लिए जीते थे।'[3] स्वयं उपन्यासकार के शब्दों में, ''कालिका प्रसाद प्रेमचन्द के उन कथानायकों मे न थे जो लगान वसूलने वाले अमीन को देखते ही घर के भीतर घुस जाया करते थे और बीबी से घबराहट मे कहने लगते थे, 'दरवाजे पर सहना खडा है।' वे उनमे थे कि हजार रूपये की कुर्की लिए अमीन चबूतरे के नीचे खडा हुआ खुशामद कर रहा है और वे चबूतरे के ऊपर बैठे हुए निश्चिंत भाव से कह रहे है, आपको कार्रवाई रोकने मे दिक्कत हो तो कहिए ऊपर से लिखा लाऊ।''[4] सच्चाई तो यह है कि प्रेमचन्द के होरी की सन्तानें आज भी दमन-शोषण के दुश्चक्र एवं विपन्नता की मार से ग्रस्त हैं। अतर इतना है कि प्रेमचद के रचना ससार मे होरी व हल्कू के साथ-साथ 'रागदरबारी' के कालिका प्रसाद के पूर्वज पडित दातादीन सरीखे लोग भी थे, 'जिन्होने लगान की एक पाई न दी थी, कुर्की आती तो कुए मे गिरने चलते मगर असामियो को

1 तद्भव, अक एक, मे सुधीश पचौरी कालेख, पृष्ठ 160
2 वही, वीरेन्द्र यादव का लेख, पृष्ठ 33
3 रागदरबारी, पृष्ठ 182
4 रागदरबारी पृष्ठ 182

सूद पर रूपये उधार देते।'[1] रागदरबारी' मे आकर प्रेमचन्द का समाज आमूलचूल परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजर रहा है। 'रागदरबारी' का कस्बाई वातावरण गॉव व नगर का अतर मिटाते हुए उन कुप्रविप्तियो को रेखाकित करता है, जो भारतीय जनतंत्र व विकास के माडल को खोखला बना रही है। यहॉ रागदरबारी मे प्रकाशित यह लेखकीय घोषणा द्रष्टव्य है कि 'रागदरबारी का सम्बन्ध एक बडे नगर से कुछ दूर बसे हुए गॉव की जिन्दगी से है, जो आजादी के बाद की प्रगति और विकास के नारे के बावजूद निहित स्वार्थो और अनेक अवाछनीय तत्त्वो के आघातो के सामने घिसट रही है। यह उसी जिन्दगी का दस्तावेज है।' इस लेखकीय घोषणा के बावजूद सच यह है कि 'रागदरबारी' गॉव की जिन्दगी का उतना बडा दस्तावेज नही है जितना उन 'निहित स्वार्थो एव अवाछनीय तत्त्वो' का, जो शहर एव गॉव का फर्क मिटाते हुए हर कही उपस्थित है, 'रगनाथ को शिवपालगज के बारे मे ऐसा लगने लगा कि महाभारत की तरह , जो कही नही है वह यहॉ है और जो यहॉ नही है, वह कही नही है,[2] ''उत्तर प्रदेश के अवध इलाके के लखनऊ जैसे किसी शहर से कुछ ही मील दूर सडक के किनारे स्थित गॉव कस्बा शिवपालगज आजादी के बाद विकसित हुए हिन्दुस्तान मे कही भी मिल सकता है।''[3]

श्रीलाल शुक्ल 'रागदरबारी' में ऐसे खल समाज की रचना करते है जहॉ स्वतंत्रता, जनतत्र, न्यायपालिका पचायत राज, सहकारिता तथा अन्य लोकतान्त्रिक सस्थाए 'निहित स्वार्थो एव अवाछनीय तत्त्वो, के हाथ की कठपुतली भर बन कर रही जाती हैं। भारत जैसे अर्ध सामंती और विकासशील देश मे जनतत्र को कैसे निहित स्वार्थो के लूटतत्र मे बदला जा सकता है। शिवपालगंज इसकी छोटी-मोटी प्रयोगशाला है। इसीलिए डा० चन्द्रकान्त बांदिबडेकर के शब्द सही लगते है, ''रागदरबारी मे भारतीय जनतंत्रवाद की असलियत का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रकट हुआ है— जनता लगभग जानती है कि उसके पास वोट तो है परतु वह किसी काम का नही है। सामान्य से सामान्य मतदाता भी किसी उम्मीदवार को वोट देने के लिए तैयार है। जनतत्रवाद की महत्त्वपूर्ण प्रणाली का हास्योत्पादक रूप असल मे राजनीतिक ट्रेजडी का एक पहलू है।''[4] स्वातंत्र्योत्तर भारत मे 'वैद्य जी' जैसे परजीवी वर्ग द्वारा जनतांत्रिक सस्थाए एव विकास योजनाएं किस प्रकार व्यक्तिगत हित साधन हेतु अपहृत कर ली गयी, रागदरबारी इसकी मनोरजक

1 गोदान, पृष्ठ 105
2 रागदरबारी, पृष्ठ 63
3 कमलेश का लेख आलोचना, अक्टूबर - दिसम्बर 68, पृष्ठ 99
4 उपन्यास . स्थिति और गति—डॉ० चन्द्र कान्त बादिबडेकर, पृष्ठ 289

औपन्यासिक पैरोडी है। शिवपालगंज ऐसा प्रिज्म है, जहाँ से आधुनिक जनतत्र का विकृत यथार्थ सैकडो किरणो के माध्यम से अपने विरुपित व कुरुपित रूप मे कभी दीखता है तो कभी विलुप्त हो जाता है। 'रागदरबारी' के केन्द्र मे वैद्य जी की बैठक, छगामल कालेज, कोआपरेटिव सोसाइटी एव ग्राम पचायत सरीखी संस्थाए है, जिन पर स्वातत्र्योत्तरभारतीय समाज के विकास की अवधारणाए टिकी है। इन सस्थाओ की विकृतियो को चिन्हित करते हुए उपन्यासकार 'विलायती तालीम मे पाये हुए जनतत्र' को कटघरे मे खडा करता है।'[1] रागदरबारी उपन्यास के आरम्भ मे जो ट्रक का बिम्ब है, वह जैसे रूके ठहरे भ्रष्ट लोकतत्र का ही मूर्त प्रत्यक्ष है। मैत्रेयी पुष्पा की दृष्टि मे रागदरबारी, 'जिसमें जोर है, उसके पास लाठी है, अत: उसी की भैंस होगी के सिद्धान्त का व्यग्यात्मक प्रतिपादन करता हुआ, खोखले आदर्शो का माखौल उडाता हुआ अपना परचम लहराये हुए है।[2] शिवपालगज का छगामल इटरमीडिएट कालेज 'रागदरबारी' का केन्द्रीय घटनास्थल है, क्योकि इस कालेज के माध्यम से समस्त शिवपालगज ही नही, समूचे देश की दशा-दिशा का परिचय प्राप्त होता है। श्रीलाल शुक्ल के शब्दो मे, ''यह राग उस दरबार का है जिसमे हम देश की आजादी के बाद और उसके बावजूद आहत अपग की तरह डाल दिये गये है या पडे हुए है।''[3]

किन्तु आलोचको की दृष्टि में देश छोडकर यह उपन्यास शिवपालगज का भी समग्र चित्र प्रस्तुत नही करता। भारत का पूरा ग्राम-समाज छंगामल इण्टर मीडिएट कालेज नही है, न उनकी समस्त सस्थाए सस्थागत राजनीति की उखाड पछाड से सम्बन्धित है। इसमे कुछ और भी है, जो सुन्दर, कोमल, मार्मिक है। किन्तु यहीं उपन्यासकार की रचनाधर्मिता तथा उसके लिए परिस्थितियो के चयन का प्रश्न सामने आता है। उनकी धारणा है कि, 'उपहासपूर्ण दृष्टि मैंने नहीं डाली है। ग्रामीण जीवन मे जो प्रवृत्तियॉ थीं मैने उन्हें लिखा। गाव मे जो आदमी भाग घोटता है, नगे बदन रहता है, विपन्न है तब भी ठठोली करता है, हसता है, बाते करता है, एक जीवत वातावरण सृजित करता है।'[4] उपन्यास मे वर्णित स्थितियॉ समग्र जीवन को प्रस्तुत नही करती, पर वे समग्र वास्तविकाता का अग है, वास्तविकता के केवल इसी अग का चुनाव लेखक की सीमा नहीं उसके उददेश्य का परिचायक है। व्यंग्य चित्रकार का काम सामान्यत. सुदर, करुण कोमल का अंकन करना नही, पैनी छुरी चलाना है। इस उद्देश्य से वह किसी विसगत स्थिति को ही चुनता

1 तद्भव, अक एक, वीरेन्द्र यादव का लेख, पृष्ठ 31
2 तद्भव, अक एक, पृष्ठ 42
3 'रागदरबारी' सस्मरण, आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ 241-42
4 तद्भव, अक एक, श्रीलाल शुक्ल से अखिलेश की बातचीत, पृष्ठ 125

है, जैसे इस उपन्यास मे चुना गया है।'[1] डॉ० नित्यानद तिवारी ने उपन्यास पर स्थितियो या चरित्रो के वर्णन मे रीतिबद्धता तथा फार्मूलेबाजी का आरोप लगाया है। कहना न होगा कि यह शैली भी बहुत कुछ कार्टूनी रेखाकन पद्धति के सचेत या अचेत अनुसरण के कारण ही है। किसी विशेष स्थिति या चारित्रिक विशेषता के लिए कलाकार रेखाओ का एक विशेष ढग से विन्यास करता है। स्वय श्रीलाल शुक्ल ने अखिलेश से बातचीत के प्रसग मे कहा है, "रागदरबारी मे अनेक छोटे-छोटे चरित्र हैं, जिनकी उपहास्पदता को लेकर मैने सम्पूर्ण वातावरण का निर्माण किया है, मगर अततः वे तत्र के ऊपर किये गये मेरे आघात को अधिक तीव्र बनाते है। लगड को ही ले, उसका चरित्र उपहास्पदता ज्यादा प्रकट करता है या सत्ता तत्र के अन्याय को ?"[2]

रागदरबारी मे परिवेश को नायकत्व मिला है, शिवपालगज स्वय में एक चरित्र के रूप में उभरता है। वैयक्तिक चरित्र का निर्माण अप्रत्यक्ष रूप से होता है, फिर भी कुछ चरित्र उभरकर सामने आ गये है। इन चरित्रो के केन्द्र में वट वृक्ष की तरह फैले है बैद्य जी। शिवपालगंज के खल-समाज का नायकत्व बैद्य जी, उनके कुनबे और उनके सगी साथियों का है जो परजीवी बिचौलिया संस्कृति के प्रतिनिधि है, जो प्रत्येक युग मे सक्रिय हैं। उपन्यासकार के ही शब्दो मे, "बैद्य जी थे, है और रहेगे। अग्रेजो के जमाने मे वे अग्रेजों के लिए श्रद्धा दिखाते थे। देशी हुकूमत मे वे देशी हाकिमों के लिए श्रद्धा दिखाने लगे। वे देश के पुराने सेवक थे। पिछले महायुद्ध के दिनों में, जब देश को जापान से खतरा पैदा हो गया था, उन्होंने सुदूर पूर्व में लडने के लिए बहुत से सिपाही भरती कराये, अब जरूरत पड़ने पर रातों रात वे अपने राजनीतिक गुट मे सैकड़ो सदस्य भरती करा देते थे। पहले भी वे जनता की सेवा जज की इजलास में जूरी और असेसर बन कर दीवानी के मुकदमों मे जायदादो के सिपुर्दकार होकर और गॉव के जमीदारों में लम्बरदार के रूप मे करते थे। अब वे कोआपरेटिव यूनियन के मैनेजिग डाइरेक्टर और कालेज के मैनेजर थे।"[3] इतना ही नही, ग्रांट या कर्जा देने वाली किसी नयी स्कीम के बारे मे योजना आयोग के सोचने भर की देर थी, वे उसके बारे मे सब कुछ जानते थे।[4] क्योंकि वैद्य जी उस विचौलिया सस्कृति के पुरोधा थे जिसका 'पूरा कर्मयोग

1 हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद—स० डॉ० नित्यानद तिवारी एव डॉ० निर्मला जैन, मे कुसुम बाठिया का लेख
2 तद्भव, अक एक
3 रागदरबारी, पृष्ठ 39
4 वही पृष्ठ 183

सरकारी स्कीमो की फिलासफी पर टिका था।'[1] वशवाद, कुनबापरस्ती, जाति प्रेम, राजनीति का अपराधीकरण जैसी विकृतियॉ जो आज भारतीय जनतत्र के लिए चुनौती है, श्रीलाल शुक्ल का रागदरबारी उसे पूरे व्यग्य-विद्रूपता के साथ उद्घाटित करता है। उपन्यास के रूप्पन के अनुसार, 'सारे मुल्क मे यह शिवपालगज ही फैला हुआ है।'[2] और 'असली शिवपालगज बैद्य जी की बैठक मे था।'[3] बकौल उपन्यासकार, बैठक का मतलब ईट और गारे की बनी हुई इमारत भर नही है। न० 90 डाउनिग स्ट्रीट, व्हाइट हाऊस, क्रेमलिन आदि मकानो के नही, ताकतो के नाम है।'[4] 'रागदरबारी' सत्ता के इसी ताकत का विमर्श है जो चोरी, लूट, गबन, व्यवस्थापिका कार्यपालिका-न्यायपालिका के मनमाफिक दुरूपयोग पर टिकी है। 'रागदरबारी' के बैद्य जी, उनका कुनबा और उनके सगी-साथी लूटतत्र की इसी ताकत से जुडे है। सब या तो उनकी निरकुश परम स्वतत्र व्यवस्था के पुर्जे है, या होकर भी नही है जैसे रामाधीन भीखम-खेडवी। रगनाथ बाहर से गया है और गलत या सही शोधकर्ता का भ्रम पाले हुए है इसलिए असगत है'[5] वह वापस जाना चाहता है तो रूप्पन पूछता है ''नफरत करने वाले तुम होते कौन हो? कोई इनसे बाहर हो क्या?' वह नीद भरी आवाज मे बोला, 'कहा जाओगे दादा? वहॉ भी इसी तरह के हरामी मिलेगे।''[6] 'लगड भ्रष्ट व्यवस्था मे एक निरीह सत्याग्रही है इसलिए वह भी असगत है। शेष चरित्र दबग, भ्रष्टाचार, हर तरह के दुराचार, हेकडी, नंगई, मूर्खता, स्वार्थ, झूठ, पाखड के मूर्तिमान रूप है। सनीचर, रूप्पन, बद्री, जोगनाथ, खन्ना मास्टर, कालिका प्रसाद एक ही दुनियॉ के जीव है। शिक्षा और दूसरे मूल्यो की ऐसी तैसी करते हुए सबके सब कुम्भीपाक में है। रगनाथ के मन मे कही इस व्यवस्था से विरोध की लहर उठ रही है तो वह शुरू मे ही जान लेता है कि विरोध की पहली ही कोशिश मे वह भरभरा कर लुढक गया है।'[7] और बचा रह जाता है शिवपालगज का बदरग यथार्थ जहॉ यह अनबूझ पहेली है कि 'सच्चाई किस चिडिया का नाम है? और यह बताना मुश्किल है कि क्या सच है, क्या झूठ है।'[8] जहॉ नैतिकता का स्वरूप यह है, 'नैतिकता समझ लो कि यही चौकी है। एक कोने मे पडी है। सभा सोसाइटी के वक्त इस

1 वहीं, पृष्ठ 183
2 वही, पृष्ठ 388
3 वही, पृष्ठ 35
4 वहीं, पृष्ठ 36
5 तद्भव, अक एक, डॉ० परमानद श्रीवास्तव का लेख, पृष्ठ 6
6 रागदरबारी
7 तद्भव, अक एक, डॉ० परमानद श्रीवास्तव का लेख, पृष्ठ 6
8 रागदरबारी, पृष्ठ 102

पर चढ कर लेक्चर फटकार दिया जाता है। यह उसी के लिए है।'[1] और 'इसानियत का प्रयोग शिवपालगज में उसी तरह चुस्ती और चालाकी का लक्षण माना जाता था, जिस तरह राजनीति मे नैतिकता का।'[2] डॉ० रामदरश मिश्र ने रागदरबारी की पात्र योजना मे यह कमी पाई कि इसमे मानवीय गुणों से युक्त कोई भी पात्र ऐसा नही है जो छाये हुए घने अधेरे मे एक आलोक बिन्दु हो, जिसे मानवीय मूल्यो मे आस्था हो। यहॉ यह प्रश्न है कि क्या प्रत्येक उपन्यास के लिए इन मूल्यो के पैटर्न का पालन एक अनिवार्यता है। मेरी दृष्टि मे शिवपालगज का चरित्र ही ऐसा है कि उसके अनुरूप ही पात्र यहॉ फिट बैठते है। इस उपन्यास मे केवल एक पात्र लगड 'सत्त की लडाई' लडता हुआ दिखाया गया है, किन्तु लगड का धर्मयुद्ध भी निराला के चतुरी चमार के मुकदमे की तरह अस्तित्त्व का सकट न होकर महज एक सनक है। मुकदमे की नकल प्राप्त करने का उसका सघर्ष अत्यन्त प्रहसननुमा है, क्योकि इसके मूल मे किसी अन्याय या शोषण के प्रतिकार व विरोध का सकल्प न होकर 'लगड और नकल बाबू के बीच चलने वाला धर्मयुद्ध है, जो घूस की रेट पर टिका है, ''नकलनवीस चिडीमार निकला, उसने पॉच रूपये मागे। लगड बोला रेट दो रूपये का है, इसी पर बहस हो गयी लगड को भी गुस्सा आ गया। उसने अपनी कठी छू कर कहा :'जाओ बाबू, तुम कायदे से काम करोगे तो हम भी कायदे से ही काम करेगे। अब तुमको एक कानी कौडी न मिलेगी। हमने दरख्वास्त लगा दी है, कभी न कभी तो नम्बर आयेगा ही ।''[3] अतएव कहना न होगा कि 'इस उपन्यास में भी प्रस्तुति की कसावट की खातिर कुछ बिडंम्बनापूर्ण स्थितियो को ही चुना गया है और उनके माध्यम से व्यक्ति चरित्र तथा व्यापक पैमाने पर समाज तथा देश के चरित्र की विसगतियो को रखाकित किया गया है।' जहॉ तक उपन्यास मे बेला को छोड़कर अन्य नारी पात्रो की अनुपस्थिति का प्रश्न है, श्रीलाल शुक्ल के विचार स्वयं ही स्पष्ट है, ''दरअसल भारतीय ग्राम पुरुष प्रधान है। वहॉ स्त्री आनुषगिक अस्तित्त्व मात्र है। मगर रागदरबारी मे स्त्री चरित्रों के न होने के पीछे अनिवार्यत यह कारण नहीं है। रागदरबारी का जो तत्र है, कथा का जो सूत्र है, उसमे स्त्री चरित्रो की गुजाइश नही बनती।''[4]

1 वही, पृष्ठ 123
2 वही, पृष्ठ 103
3 वही, 45
4 तद्‌भव, अक एक, श्रीलाल शुक्ल एव अखिलश क साथ बातचीत, पृष्ठ 125

जहॉ तक भाषा का प्रश्न है, नेमिचन्द्र जैन ने 'चालू किस्म की जुमलेबाजी' कहा है। यह जुमलेबाजी भी वस्तुत: एक व्यग्य चित्र की रीतिबद्धता का ही एक अग है। 'कार्टून की रेखाओ की वक्रता उपन्यास मे भाषा की वक्रता के रूप मे प्रतिफलित होती है। यह वक्रता लेखक के अपने वर्णनो मे दृष्टिगत होती है और उसकी टिप्पणियो में भी'। दूसरी ओर पात्रो की बोलचाल के फूहड प्रयोग भी इस उपन्यास की एक विशिष्ट रीति बन गये है। इसके वार्तालाप मे बोलचाल की भाषा का कच्चा माल बिना किसी सुधार-सवार के प्रयुक्त हुआ है- अपनी खानगी, बेहूदगी और भदेसपन के साथ। रागदरबारी मे बैद्य जी की शिष्ट, शालीन भाषा भी है, जो उनके सौम्य, सस्कारी मुखौटे का हिस्सा है, किन्तु बद्री, रूप्पन, सनीचर आदि अधिकतर चरित्रो की भाषा फूहड गवारपन से भरी हुई है जो व्यवस्था की खामियो के पडताल से जुडी है। इस प्रकार रागदरबारी मे मुख्यत· भाषा के दो रूप मिलते हैं। एक रूप गजहे लोगो की बोलचाल मे, सवाद मे उभरता है और गजहो की मानसिकता को, चरित्र को आकार देता है। दूसरा रूप लेखक की अपनी व्यंग्यात्मक, और हास्योत्पादक शैली है।

श्रीलाल शुक्ल ने परिवेश को प्रमुखता दी है, अत· शैली मे वर्णनात्मकता प्रचुर रूप मे आती है, परन्तु इस वर्णनात्मकता को चित्राकन और मूर्तिमत्ता की कला से जीवन्त बना दिया है जिसे ट्रक थाने, मेले, दुकानो एव कालेज के वर्णन प्रसग मे देखा जा सकता है। वस्तुओं, स्थितियो तथा व्यक्तियो का वर्णन करते समय लेखक जहॉ एक ओर उसकी वास्तविकता को उजागर करता है, वहीं साथ-साथ उसमे छिपी असगतियो को तथा हास्योत्पादकता को उघाडता चलता है। कही कही समर्थ, सप्रयोजन शब्द से भी व्यग्यात्मक परिवेश की सृष्टि करता है—

'कुछ बेशर्म लडके भी हैं, जो कभी-कभी इम्तहान पास कर लेते हैं'

'चरी कही सचमुच ही उग आई थी।'

'इतना काम है कि सारा काम डप्प पड़ा है।'

'इस देश मे लडकियॉ व्याहना भी चोरी करने का बहाना हो गया है।'

इस प्रकार के शब्दो का परिवेश उपन्यास मे अनेक स्थलो पर व्यग्य की सृष्टि करता है, जिनसे देशकाल परिस्थिति, सूक्ष्म निरीक्षण, अतिशय धारदार ढग से व्यक्त होता है। 'रागदरबारी का हास्य विकट

हास्य उत्पन्न नही करता। हम जोर से ठहाके नही लगा सकते परतु गालो मे जीभ रखकर अवश्य दाद देते चलते है। व्यग्य का प्रयोग विसगतियो पर प्रकाश डालने के लिए सर्वत्र किया गया है।'[1] इसीलिए वीरेन्द्र यादव की दृष्टि मे, 'रागदरबारी का हास्य सयमविहीन हास्य, जहॉ उपन्यासकार स्थितियो को हास्य के अनुकूल बनाने मे असमर्थ होने पर, भाषा से हास्य की रचना करता है।'[2] एक बानगी कुछ यू है, ''वे महिलाए पाखाने की कार्रवाई को एकदम से स्थगित कर सीधी खडी हो गयी और उन्हे 'गार्ड आफ आनर' जैसा देने लगी।''[3] कहना न होगा कि यहॉ श्रीलाल शुक्ल की भाषा मात्र संग्राहक की भूमिका न अदा कर स्वय मे कथ्य बन जाती है, वह एक नयी सक्रियता धारण कर लेती है। भाषा की यह अतिरिक्त सक्रियता लेखकीय अतिकथन की भी मॉग करती है, जिसकी पूर्ति हेतु उपन्यासकार ने 'रागदरबारी' मे रगनाथ के रूप मे सूत्रधार का सृजन किया है। लेखकीय अतिकथन की डोर जहॉ सूत्रधार रगनाथ के हाथ से छूटती दिखाई पडती है, वहॉ लेखक नेपथ्य से कथा सूत्र को स्वय सभाल लेता है। कभी-कभी पात्रो के माध्यम से, कही स्वय अपने कथन के रूप मे।

शिवपालगज के लोगो की भाषा मे उखाड-पछाड, बेलाग चुभतापन, बेरोकटोक अक्खडपन, मुॅहफट बेबाकपन स्पष्ट होता है। गाली-गलौज के साथ कुछ ग्राम्य जीवन की भदेस अनगढ भाषा का प्रयोग भी है। प्रिसिपल की ब्रजभाषा भगिमा और जोगनाथ की सर्फरी बोली ने अपना अलग रग जमाया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

1 ''अडा नही देगे तो क्या बाल उखाडेगे? सब मीटिग मे बैठकर रांडो की तरह फाय-फाय करते है, काम-धाम के वक्त खूटा पकडकर बैठ जाते है।''

2 ''यह जाघ खोलो तो लाज, और वह खोलो तो लाज''

3 ''हमारे बाप राड की तरह रो रहे है।''

1 हिन्दी उपन्यास स्थिति और गति— चन्द्रकान्त बादिबडेकर, पृष्ठ 295
2 तद्भव, अक एक, वीरेन्द्र यादव का लेख, पृष्ठ 28
3 रागदरबारी, पृष्ठ 233

रामदरश मिश्र ने इसकी व्यग्यात्मकता को जहॉ 'आरोपित'[1] और 'अनावश्यक' मानते है, वही नेमिचन्द्र जैन ने 'अक्षम्य सवेदनहीनता'[2] कहा है। वस्तुत· इस उपन्यास की मूल दृष्टि 'हाई कामेडी' (श्रीलाल शुक्ल) है और यही पूरी रचना का आधार है। रघुवीर सहाय ने श्रीलाल शुक्ल के रचनात्मक तनाव का उल्लेख करते हुए उनकी व्यग्य रचनाओ के बारे मे जो कहा वह रागदरबारी के बारे मे पूरी तरह सच है . ''श्रीलाल शुक्ल अपने रचनात्मक तनाव की रक्षा मे नितात आधुनिक है और यहीं पर उनकी भाषा आज की मुर्दा राजनीति के हाथो भाषा के निरन्तर अवमूल्यन के बावजूद सार्थक हो जाती है। वह प्रतीको और मिथको से मुक्त रहकर टूटे शब्दो का ऐसे इदराज करते है कि वे कभी अपने टूटे अर्थ स्थापित न कर पाये।''[3]

1 रामदरश मिश्र, आधुनिक हिन्दी उपन्यास
2 नेमिचन्द्र जैन- असतोष का खटराग, जनातिक (1981), पृष्ठ 55
3 'यहाँ से वहॉ' की भूमिका (सन्दर्भ, तद्‌भव, एक मे डॉ सत्य प्रकाश मिश्र के लेख।

नदी के द्वीप

डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र ने 'शेखर : एक जीवनी' की परम्परा, तकनीकि और उपलब्धि पर विचार करते हुए जो कहा उसे 'नदी के द्वीप' के सन्दर्भ मे भी कहा जा सकता है, 'शेखर : एक जीवनी' ऐसी रचना है, जिसकी रोशनी उससे पहले के और बाद के उपन्यास साहित्य पर पडती है। शेखर को पढते ही लगता है कि न केवल उपन्यास लिखने का तरीका बदल गया, बल्कि उपन्यास पर विचार करने का तरीका भी बदल गया। द्विवेदीयुगीन मनोरजन और सोद्देश्यतावादी धारणा से सहसा हम वैचारिकता और उद्देश्य की खोज के जगत में प्रवेश कर जाते है।'[1] 'नदी के द्वीप' हिन्दी उपन्यास यात्रा का महत्वपूर्ण उपलब्धियो मे से एक है। 'उपन्यास के रूप मे न केवल उस प्रकार की कोई अन्य रचना हिन्दी मे नही, बल्कि उतनी सूक्ष्मता, सवेदनशीलता और अनुभूतिगत प्रबलता से लिखी हुई कृतियॉ बहुत ही कम है। बहुत सी दृष्टियो से 'नदी के द्वीप' हिन्दी की साहित्यिक चेतना को, सौन्दर्य बोध को, हिन्दी गद्य की सूक्ष्म अभिव्यजना शक्ति को एक सर्वथा नया ही स्तर प्रदान करता है और हिन्दी उपन्यास को पश्चिमी देशों के उपन्यास साहित्य का समकक्षी बना देता है।[2] डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्द हैं, ''नदी के द्वीप' जो मूलत: एक प्रणय कथा है, विश्व युद्ध के कुछ सन्दर्भो को सकेतिक भाव से जहाँ-तहाँ प्रस्तुत करता है। उनको वाद देने पर 'नदी के द्वीप' का प्रणय ससार बहुत कुछ स्वत: पूर्ण है। पर उपन्यास के रूप मे 'नदी के द्वीप' का प्राय: त्रुटिहीन संघटन 'शेखर' की तुलना में कहीं अधिक तोषप्रद है। शायद इसीलिए 'नदी के द्वीप' का पाठन अधिक सघन, एकतान और तृप्तिकर है।''[3] डॉ० विजय देव नारायण साही ने 'नदी के द्वीप' में आंचलिक तत्त्वो की पहचान की है, 'नदी के द्वीप' को आंचलिक कहना शायद अनुचित या आकस्मिक जान पडे। वह किसी भौगोलिक अचल की कथा नही है। लेकिन यदि हम आंचलिकता को कथाकार की दृष्टि से सम्बद्ध माने और परिभाषा के अनुसार कटे हुए, अपने-आप मे बन्द, स्वत: सम्पूर्ण समाज की

---

1 शेखर एक जीवनी—स० रामकमल राय मे डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र का लेख, पृ०
2 अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन, पृ० 22
3 अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० 68

उद्‌भावना और छविमयता को उसकी कसौटी माने तो आचलिक दृष्टि के तत्त्व उसमे मिलेगे। एक अर्थ मे उसके मुख्य पात्र केवल व्यक्ति या वर्ग विशेष नही है—वे मिलकर एक अलग 'समाज' का निर्माण करते दीखते है। बेशक इस समाज की स्वत. सम्पूर्णता उतनी चरम नही है जितनी 'मैला आचल' के समाज की। वस्तुत: इस समाज का 'समाज' न बनकर जग मगाते द्वीपो की तरह बिखर-बिखर जाना ही कथाकार का महत्वपूर्ण कथ्य है। मगर इसके पीछे उपन्यासकार की वह मौलिक तलाश ही है जो खाई के उस पार अन्य मूल्यो पर आधारित एक भिन्न सामाजिकता की छविमय सम्भावना को देखना चाहती है। दीपक की लौ की तरह इस सम्भावना का अस्तित्व और निर्वाण एक ही प्रक्रिया का नाम है जो इस ज्योतिर्मय 'दु:ख भरी कहानी' को जन्म देती है इसी अर्थ मे 'नदी के द्वीप' मे आचलिकता का आभास होता है—खाई, चेतना की स्वतत्र सत्ता और यथार्थ की छविमयता ध्यान मे रखना जरूरी है कि आचलिकता इन पात्रो मे या इनके सामाजिक वर्ग मे नही है बल्कि उनके वर्गत्व की ओर जो कथाकार की विशिष्ट उन्मुखता है, उसके कारण है। इन्ही पात्रो की कहानी बिना आचलिकता के भी कही जा सकती थी जिस तरह पूर्णिया जिले के किसानो की कहानी प्रेमचन्द की तरह बिना छविमयता के कही जा सकती थी। व्यर्थ विवाद बचाने के लिए हम इस दृष्टि को अर्ध आचलिक या 'द्वीपभावी' या कोई अन्य नाम दे दे—मेरा मूल आग्रह उस खाई पर है जो इस कथा के सौन्दर्य-बोध का अभिन्न अग है।''[1] इस अत्यन्त लम्बे उद्धरण से स्पष्ट है कि 'नदी के द्वीप' मे 'भाषा के आभिजात्य के बल पर या एक खास तरह की काव्यात्मक भाषा का जादू जगाकर यह उपन्यास बहुतेरे पाठको को सम्मोहित करता रहा है। प्रेम के दु:ख का अनुभव करने वाली इस कृति मे एक अनोखी मार्मिकता है भी। पर सब मिलाकर व्यक्तिगत पूर्णता और खंडित सामाजिकता के जिस दर्शन पर निजी सबंधों की यह प्रणयगाथा टिकी हुई है, आधुनिक पाठको की दृष्टि में प्रश्नाकित हुए बिना न रहेगी।'[2]

कहना होगा कि ''नदी के द्वीप' के पाठक को कतिपय सीमाओ को लाघना होगा। स्वय अज्ञेय ने एक कथन मे वैचारिक सीमा का सकेत करते हुए लिखा था—''उपन्यास अनिवार्यता पूरे समाज का चित्र हो यह माग बिल्कुल गलत है। उपन्यास की परिभाषा के बारे मे यह भ्रान्ति (जो देश मे या कम मे कम

---

1 छठवाँ दशक—विजय देव नारायण साही, पृष्ठ 227
2. हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद—स० नित्यानद तिवारी, डॉ० निर्मला जैन मे डॉ० परमानद श्रीवास्तव का लेख, पृष्ठ 1।

हिन्दी मे काफी फैली हुई मालूम होती है) साहित्य के सामाजिक तत्त्व को गलत समझने का परिणाम है। कह लीजिए कि पिछली या विकृत प्रगतिवादिता का परिणाम है।''[1] इसीलिए डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी को कहना पडा कि 'नदी के द्वीप' की प्रणय-सवेदना भिन्न और प्राय: असाधारण किस्म की है।'[2] पर यह असाधारण होते हुए भी विश्वसनीयता लिए हुए है। डॉ० चतुर्वेदी की दृष्टि मे यह असाधारणता दो स्तरो पर दिखाई देती है। एक तो जो मुख्य चरित्र इसमे दिखाई देते हैं—भुवन, रेखा, गौरा—वे समाज के विशिष्ट वर्ग से लिये गये हैं। दूसरे यह कि उनके बीच का प्रणय-सम्बन्ध न तो सामान्य ईर्ष्या द्वेष से परिचालित है और न उसमे आत्म-त्याग या आत्म-पीडन का परम्परागत रूप मिलता है। नदी के द्वीप मे प्रेम का वातावरण बिल्कुल भिन्न प्रकृति का है इसमे जहॉ भावुकता को बौद्धिकता का आधार मिला है और राग मे भी एक भिन्न तरह का संयम दिखाई देता है, वही शरीर के उत्सव भाव को भी उन्मुक्त रूप मे स्वीकार किया गया है। इस तरह 'भावुकता, बौद्धिकता और देह का आकर्षण सब मिलाकर 'नदी के द्वीप' की प्रणय-सवेदना को एक विशिष्ट, पर उदार रूप देते है। और यह रूपाकन सम्भव हुआ है प्रधानत. उपन्यासकार की संवेदनशील और सुकुमार भाषा की सर्जनात्मक शक्ति के द्वारा।'[3] इसीलिए नेमिचन्द्र जैन को कहना पडा, '' 'नदी के द्वीप' मे चित्रित प्रेम की असामाजिकता मूल रूप मे वैसी ही असामाजिकता है जैसी मीरा के प्रेम में रही होगी। इसीलिए उसमें वैसी ही सामाजिक निरपेक्षता है, वैसी ही सहन करने की और उस पीडा से अधिक पवित्र, सफल और परिपूर्ण होने की क्षमता है। 'नदी के द्वीप' मे प्रेम का चित्रण और उस प्रेम के फलस्वरूप दो स्त्री-पुरुषो के बीच व्यक्तित्व का, तन और मन दोनो का समर्पण, किसी विकृति का न तो परिणाम है न उसका कारण।'[4] 'नदी के द्वीप' में देह का यह समर्पण प्रेम की चरम अनुभूति के रूप में दो शरीरो का मिलन है जो अपने अधिक से अधिक सार्थक रूप मे अभिव्यक्त हुआ है—

1 ''साक्षी हो सूर्य और प्रकाश, और पवन और तले बिछी घास और चट्टाने, साक्षी हो अन्तरिक्ष के अगणित देवता और अकिचन वनस्पतियॉ-------''

---

1 सन्दर्भ, अज्ञेय—स० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ 125
2 अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 68
3 अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी। पृष्ठ 68
4 अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द जैन

2 ''लेकिन यह सत्य है जो कोई साक्षी नही मॉगता, सिवाय अपने ही भीतर की निविड समर्पण की पीडा के, अपने ही मे, निहित स्पन्दित और क्रियाशील असख्य पीडाओ की असख्य सम्भावनाओ के---''

इसमे कोई सदेह नही कि प्रेम को, स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को इस सूक्ष्म और पवित्र स्तर पर ग्रहण और चित्रित कर सकना 'नदी के द्वीप' की एक महत्वपूर्ण देन है। इसीलिए यह उपन्यास गद्य मे लिखे हुए एक लम्बे प्रेम काव्य जैसा लगता है।

उपन्यास के प्रथम पृष्ठ पर ही अकित पक्तियॉं, जो उपन्यास का अग न होते हुए भी सतर्क पाठको को उपन्यास की अन्तर्वस्तु की कडियो को पकडने मे अर्थपूर्ण लगेगी : ''दु:ख सबको माजता है/ और / चाहे स्वय को मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु / जिनको माजता है / उन्हे यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखे।''[1] नदी के द्वीप की रेखा का समस्त जीवन जैसे अज्ञेय की इन पक्तियो की सार्थकता सूचित करता है। अज्ञेय के जीवन दर्शन के अनेक सूत्र रेखा की ओर से दी गयी जीवन और अस्तित्व की व्याख्या मे अविकल रूप मे मौजद है, ''हम जीवन के नदी के अलग-अलग द्वीप है—ऐसे द्वीप स्थिर नही होते, नदी निरतर उनका भाग्य गढती चलती है, द्वीप अलग-अलग होकर भी निरतर घुलते और पुन: बनते रहते है—नया घोल नये अणुओ का मिश्रण, नयी तलछट, एक स्थान से मिटकर दूसरे स्थान पर जमते हुए नये द्वीप-----।''[2] पूरे उपन्यास में नदी के द्वीप का यह सहज और भाव सकुल बिम्ब परिव्याप्त है। अज्ञेय ने लिखा है कि यदि उनसे पूछा जाय—नदी के द्वीप किसके लिए लिखा गया उपन्यास है तो सबसे पहले कहना होगा—''अपने लिए, अर्थात् अपने को यह बात सप्रमाण दिखाने के लिए कि मेरी आस्था, मेरी निष्ठा, मेरे सवेदना-जाल की सर्म्पूता और सच्चाई, मेरी इटिग्रिटी उसमें अभिव्यक्त हुई है।'' कहना होगा कि व्यक्तित्व-सघटन की चिन्ता 'नदी के द्वीप' को 'शेखर' : एक जीवनी से जोडती है। 'दोनो कथाकृतियों के मूल मे प्रेम और पीड़ा की सर्जनात्मक क्षमता अंकित हुई है। शेखर की प्रणय सवेदना भारतीय स्वाधीनता संग्राम की पृष्ठभूमि मे विकसित होती है, भुवन फासिस्ट खतरे से लडने के लिए विश्व युद्ध मे भाग लेता है और उसका प्रेम प्रगल्भ होता है युद्ध के वातावरण मे।''[3] शेखर की तुलना मे भुवन का

1 नदी के द्वीप—अज्ञेय
2 नदी के द्वीप
3 अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

व्यक्तित्व प्रौढ और विकसित है। 'प्रेम और विवाह और दोनो की पीडा जो व्यक्तित्व को परिपूर्णता की ओर अग्रसर करते है, 'नदी के द्वीप' की वस्तु के प्रधान निर्णायक तत्त्व हैं।'[1] गौरा द्वारा सहसा बुलाये जाने पर भुवन लिखता है, "व्यक्तित्व का स्वतत्र विकास जब तक पूरा नही हो जाता, तब तक उसे ईकाई से बाहर प्रसृत करने का प्रश्न नही उठता, वह प्रश्न तभी उठना चाहिए जब उसके बिना और विकास के मार्ग न हो।"[2] विवाह की आवश्यकता की इस सूक्ष्म व्याख्या के केन्द्र मे व्यक्तित्व ही है। चन्द्र माधव के चरित्र के माध्यम से भी व्यक्तित्व पर मूल्यो के विघटन और उससे उत्पन्न खतरे की ओर लेखक ने सकेत किया है। चन्द्र माधव के एक पत्र का उत्तर देती हुई गौरा लिखती है, "मेरी समझ मे तो एक विश्व सकट यह भी है कि साधना आज इतनी नगण्य हो गयी है कि हमारा साध्य जीवन का आनन्द न रहकर जीवन की सुविधाए रह गया है। यानि जीवन की हमारी परिभाषा ही बदल गयी है, वह जीवन का नही, जीवन की क्रियाओ का नाम हो गया है। इसलिए आज हम जीवन की शोध नहीं, जीवन की दौड की बात करने लगे है . जीवन का वाह्यीकरण करते-करते हमने उनका बहिष्कार ही कर दिया है।"[3]

अज्ञेय ने आत्मनेपद् मे स्वीकार किया है कि 'नदी के द्वीप' व्यक्ति चरित्र का उपन्यास है, 'तो मेरी रुचि व्यक्ति में ही रही है और है, 'नदी के द्वीप' व्यक्ति चरित्र का ही उपन्यास है। घटना उसमे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से काफी है, पर घटना प्रधान उपन्यास वह नहीं है।" यह चरित्रो से छनकर सवेदनाओ की ही कहानी है—एक दर्द भरी प्रेम कहानी, जिसमें कम से कम दो पात्रों (रेखा और भुवन), प्रेम में व्यक्तिगत पूर्णता अनुभव करने-कराने की बड़ी क्षमता स्पष्ट झलकती है। लेकिन यहाॅ यह भी कहना होगा कि रेखा के व्यक्तित्व के माध्यम से प्रेम कथा का त्रिकोण-भुवन, रेखा, गौरा—प्रचलित और सामान्यत: स्वीकृत त्रिकोण से भिन्न दिखाई देता है। रेखा एक आत्म सजग और तीव्र बुद्धि की युवती है। उसमे "एक दूरी है—एक अलगाव है—कि वह जिस समाज से घिरी है और जिसका केन्द्र है, उससे अछूती भी है।"[4] रेखा के पास "रूप भी है, बुद्धि भी, किन्तु बुद्धि मानों तीव्र संवेदना के साथ गुथी हुई है और वह रूप एक

1 नदी के द्वीप—अज्ञेय
2 नदी के द्वीप—अज्ञेय
3 नदी के द्वीप—अज्ञेय
4 नदी के द्वीप

अदृश्य, अस्पृश्य कवच सा पहने हुए है।''[1] भुवन पहली बार अनुभव कराता है कि रेखा मे कुछ है जिसका उन्मेष जीवन का उन्मेष है और जिसे जान सकना एक महान अनुभूति हो सकती है। ''वह पहनती है तो रेशम, जो वास्तव मे सफेद नही होता, उसमे हाथी दात की सी, या मोतियो के फूल-सी, या पिसे चदन सी एक हल्की आभा होती है-----यो तो शुभ्र श्वेत भी ऐसा होता है कि पहनने वाले को दूर अलग ले जाता है, पर यह रेशमी सफेद तो और भी दूर ले जाता है, दूर ही नही, एक ऊचाई पर भी, रेखा मानो उसके साथ चलती हुई भी एक अलग मर्यादा से घिरी हुई चल रही है।''[2] अपने दाम्पत्य जीवन की असफलता से शापित वह भुवन की ओर आकृष्ट होती है और वर्जना विहीन ढग से, उसके प्राप्त प्रेम को वरदान मानकर अगीकार करती है। 'प्रेम की विभिन्न स्थितियो और मनोदशाओ का आत्मीय और प्रगाढ अकन लेखक ने किया है—प्रेम मे निहित सारी कवित्वपूर्ण उदारता के साथ रेखा अत्यन्त उन्मुक्त भाव से इन प्रेम-पूर्ण क्षणो को जाती है। अपनी भावनाओ के प्रति वह सच्ची है और इसे ही वह प्रेम की कसौटी बना लेने मे विश्वास करती है। अनेक कवियो और उनकी प्रेम कविताओ को आधार बनाकर वह अपने इस प्रेम को व्यजित और सम्प्रेषित करती हे। किसी आगत भविष्य की चिता से पूरी तरह मुक्त रहकर, वह सिर्फ अपने वर्तमान को ही सच मानती है।'[3] 'शेखर : एक जीवनी' के शेखर के वेदना वाले सूत्र—'वेदना मे एक शक्ति होती है, जो दृष्टि देती है'—का ही विस्तार रेखा के चरित्र मे दिखाई देता है।

इसीलिए एक ट्रेजडी के रूप में भी 'नदी के द्वीप' की अद्वितीयता है। बहुत कुछ मूल्यवान, अर्थवान के व्यर्थ होने की गहरी मानवीय पीडा रेखा के टूटन में हमें मिलती है। तीव्र संवेदनाशील, बुद्धिमान और चितनशील समद्ध व्यक्तित्व का तिल-तिल कर टूटने के लिए विवश होना गहन ट्रैजिक बोध देती है।''[4] अज्ञेय ने स्वय लिखा है—''रेखा अपनी भावनाओ के प्रति सच्ची रहना चाहती है, भीतर के प्रति अपने उत्तरदायित्व को उसने समर्पण की सीमा तक पहुॅचा दिया है। जहॉ यह व्यक्तित्व की बहुत बडी शक्ति है, व्यक्तित्व के विकास का उत्कर्ष है, वहॉ यह उसकी एक पराजय भी है। क्योकि केवल 'अपने मे जो है,

---

1 वही
2 वही
3 हिन्दी उपन्यास का विकास—मधुरेश, पृष्ठ 85
4 हिन्दी उपन्यास . स्थिति और गति—डॉ० चन्द्रकान्त वादिवडेकर

उसके प्रति समर्पण' काफी नही। अपने से बाहर और बडा भी कुछ है जिसके प्रति भी उतना ही निस्सग समर्पण वास्तव मे चरित्र की पूर्ण विकसित और परिपक्व अवस्था है। रेखा की ट्रेजडी उसके इसी समर्पण के अधूरेपन की ट्रेजडी है—जितना ही वह पूरा है उतना ही अधूरा है क्योकि वह अधूरे के प्रति है।''[1] रेखा अपने व्यक्तित्व की सम्पूर्णता की खोज मे है अपने भाव जगत की परिपूर्णता की खोज मे बडे आत्मविश्चास के साथ सघर्षरत है। समस्त कथा सघटना मे, कही भी कोई प्रखरता, सूक्ष्मता और भाव गहनता उत्पन्न होती है, तो वह रेखा के कारण ही। 'रेखा का व्यक्तित्व अपने आप मे तो प्रखर प्रभावशाली है ही, साथ ही वह उपन्यास के अन्य चारो पात्रो के ऊपर भी छाया रहता है। बाकी सारे पात्र आलोकित अथवा बुझे हुए दीखते है तो रेखा के व्यक्तित्व के आलोक को प्राप्त करके अथवा खोकर।[2]

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी की दृष्टि मे, 'नदी के द्वीप' के कथा सघटन की एक विशिष्ट उपलब्धि है रेखा और गौरा के पारस्परिक सम्बन्ध का अकन। इस पक्ष के सामने भुवन और रेखा तथा भुवन और गौरा के सम्बन्ध भी कुछ हल्के से हो जाते हैं। उपन्यास के प्रणय-सवेदन की विशिप्टता भी रेखा और गौरा की परस्पर प्रतिक्रियाओ पर अधिकतर निर्भर है।'[3] रेखा के व्यक्तित्व मे सौन्दर्य की मद्धिम आभा के साथ बौद्धिकता का गहरा रंग है। राग को उसने दबाया नही है, पर राग से वह कही अनुशासित भी नही दिखाई देती। वेदना से परिष्कृत रेखा का व्यक्तित्व अपनी उदार सवेदना मे भुवन को मुक्त रखने के साथ ही 'प्रेम' को भी मुक्त रखता है। इसीलिए गौरा के प्रति भुवन के आकर्षण को प्रचलित ईर्ष्या-द्वेष से देखने के बजाय रेखा उसमे अपने व्यक्तित्व का प्रसार अनुभव करती है। तभी तो वह गौरा के पास अपनी अगूँठी और चूडी स्नेह और आशीर्वाद के साथ भेज देती है। गौरा के प्रति रेखा के मन में प्रारम्भ से ही वत्सल एव सख्य भाव मिश्रित सवेदना दिखाई देती है—

तोमाय

साजाबो यतने कुसुमे रतने

केयूरे ककणे कुकुमे चन्दने

---

1 सन्दर्भ, अज्ञेय—स० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ 126
2 वही
3 अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन, पृष्ठ 27

साजाबो

किशुके रगने

तोमाय------

'इस तरह रेखा के चरित्र मे प्रेम बॅधता नहीं, मुक्त करता हे। और यही रेखा के व्यक्तित्व का वास्तविक रूप है, जिसमें शरतचन्द्र की तरह आत्मपीडा नही है और न परम्परागत प्रेम कथा का ईर्ष्या भाव है, वरन् सारी मन:स्थिति कों गहराई से समझने का यत्न है।'[1] भुवन प्रेम के सघन और दुष्प्राप्य क्षणो को पूरी तल्लीनता से जीने मे विश्वास करता है। विज्ञान और कविता का समन्वय कर सकने की क्षमता ही उसके जीवन की सबसे बडी उपलब्धि है। गौरा को लिखे पत्र मे वह अपने को 'किसी सुदूर पोत-भग का बहकर आया हुआ एक टूटा और विपन्न तख्ता' स्वीकार करता है और अपने अस्थिर और अनिश्चित जीवन को प्रेम की ऊर्जा से बचाये रखना चाहता हे। अपनी शिष्या और सखी गौरा के व्यक्तित्व की निकटता और उष्मा मिलने पर भुवन का व्यक्तित्व पूर्णतर होता है। उपन्यास के अन्त मे गौरा को पत्र लिखते वह अपनी आरम्भिक उपपत्तियो की निष्पत्ति का अनुभव करता है, "सब कुछ अधूरा है, और ज्यो-ज्यों वह आगे पूरेपन की ओर बढता है, नयी अपूर्णताएँ भी उसके आगे स्पष्ट हो जाती हैं—कितना बडा जीवन है, कितना विस्तृत, कितना गहरा, कितना प्रवाहमान और उसमे व्यक्ति की ये छोटी-छोटी इकाइयॉ—प्रवाह से अलग जो कोई अस्तित्व नही रखती, कोई अर्थ नहीं रखती, फिर भी सम्पूर्ण है, स्वायत्त है, अद्वितीय है और स्वत: प्रमाण है, क्योंकि अन्ततोगत्वा आत्मानुशासित है, अपने आगे उत्तरदायी है, स्वर्ग और नरक, पुण्य और पाप, दण्ड और पुरस्कार, शास्ति और तुष्टि, ये सब बाहर है तो केवल समय है, सत्य तभी है जब भीतर से उद्भूत हो-----" यह अधूरापन कही-न-कही भुवन के चरित्र मे भी दिखाई देता है। डॉ० परमानद श्रीवास्तव ने रेखा के समानान्तर भुवन के चरित्र को परखते हुए लिखा है—"तमाम दुर्घटना से गुजरकर रेखा के प्रखर, पूर्ण, गहन सवेदनशील व्यक्तित्व की कोई क्षति नही होती—आधुनिक स्त्री के रूप मे इतनी मार्मिक और खरी व्यक्तित्वपूर्णता सचमुच हिन्दी कथा साहित्य मे विरल है—पर, भुवन जिसे सवेदनात्मक पूर्णता का जीवन देने की कोशिश लेखक ने बराबर की है, अक्सर दयनीय लगने

---

1 अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 75

लगता है। जब तब उसकी भाषा एक रोमाटिक प्रलाप लगने लगती है।''[1] नेमिचन्द जैन के शब्द है, ''भुवन के चरित्र की परिकल्पना मे कही विरोध है, असगति है। ऐसा लगता है कि दो अलग-अलग ऐसे व्यक्ति मिला दिये गये हो जो किसी गहरे आन्तरिक क्षण मे भी एक नही होते। भुवन जैसी सवेदनशीलता प्रकट करता है वह उसके जीवन मे कहाँ से आयी होगी, यह प्रश्न मन मे उभरता है, और कुछ देर बाद ऐसा लगता है कि उसका सारा आत्म विश्लेषण, उसकी सारी संवेदनशील, सूक्ष्म भाव ग्राहिता आरोपित है, उसके व्यक्तित्व से निष्कृत नही।----नौकुछिया और तुलियन मे जो भुवन है वह बाकी उपन्यास के भुवन से मूलत: भिन्न जान पड़ता है, जैसे दो भिन्न व्यक्ति हो।''[2]

चन्द्र माधव की उपस्थिति 'नदी के द्वीप' मे व्यक्त प्रेम-दर्शन मे एक व्याघात उपस्थिति करती है। 'चन्द्रमाधव मे उन्होने महत्त्वाकाक्षा का ढोग, रुचिहीनता, कामुकता, ओछापन वैमनस्य और द्वेष आदि सभी विशेषताए एक साथ दिखाई है : और अन्त में अपना चरम रोष प्रकट करने के लिए उसे कम्युनिस्ट भी बना दिया है।'[3] 'कुछ ऐसा जान पडता है कि कम्युनिस्टो के प्रति अपना रोष प्रकट करने के लिए ही उन्होने इस पात्र को इस भॉति कल्पना की है। पूर्वाग्रह की ऐसी प्रबलता हर कलाकार के लिए घातक होती है, चाहे वह कलाकार कम्युनिस्ट हो या कम्युनिस्ट विरोधी।'[4] इसी आधार पर डॉ० भगवत शरण उपाध्याय ने 'नदी के द्वीप' को 'सुन्दर पके फल मे कीडे' की सज्ञा देकर उसकी आलोचना की है। वे इसे साम्यवाद और प्रगतिवाद के 'वल्गराइजेशन' का उदाहरण मानकर प्रस्तुत करते है। ''अच्छा होता यदि अज्ञेय ने उन पर प्रहार उनके सिद्धान्तो के माध्यम से किया होता, यदि साम्यवादियो के त्याग, तप, साधना विचारसरणि, लोक चेतना, लोकहित पर अज्ञेय ने आघात किया होता। इससे उस शक्ति का केश लुचन तक न होगा, ऐसा मेरा विश्वास है, फिर यह शिथिल अपेक्षाकृत फूहड़ आक्रोश उस सफल कृती की मर्यादा की ओर उगली उठायेगा, मुझे डर है, क्योंकि मै अज्ञेय के साथ भडैती या फूहडपन का सम्बन्ध नही कर सकता।''[5] इतना ही नही अज्ञेय मे स्वयं चन्द्र माधव के प्रति दुराग्रह है, तभी तो 'नदी के द्वीप' पर

---

1 हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद—स० डॉ० निर्मला जैन एव डॉ० नित्यानद तिवारी, मे डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव का लेख, पृष्ठ 5
2 अधूरे साक्षात्कार नेमिचन्द जैन पृष्ठ 27
3 वही, पृष्ठ 29
4 वही, पृष्ठ 30
5 विवेक के रग—स० देवीशकर अवस्थी, पृष्ठ 198

लगाये जाने वाले अश्लीलता के आरोप को वे चन्द्रमाधव के चरित्र विन्यास से जोड देते है, '' 'नदी के द्वीप' मे अश्लीलता किसी भी वर्णन मे नही मानता, दृष्टि मे वह है तो न लेखक की ओर न रेखा या भुवन की, बल्कि चन्द्रमाधव की दृष्टि मे वह है। वह कह सकते है कि भुवन या रेखा वास्तविक नही, चन्द्र माधव वास्तविक है, जो कहते है। मुझे उनसे बहस नही, क्योकि शायद यही ठीक ही है कि थोडी बहुत अश्लीलता ही वास्तविक है।''[1] इसके अतिरिक्त एक और भी दुर्बलता चन्द्रमाधव के चरित्र की परिकल्पना मे दिखाई देती है कि उपन्यास की मूल कथावस्तु के साथ उसका सम्बन्ध बहुत आत्यन्तिक नही है। विसदृशता के रूप में भी उसकी उपस्थिति अनिवार्य नही दिखाई देती।

'नदी के द्वीप' का अत इस काव्यात्मक चितन मे है, ''मूल्यवान और सम्पृक्त क्षण, क्योकि प्रतीक्षा के—वह प्रतीक्षा चाहे कितनी लम्बी हो, कर्म की इस अजब, प्रवाहिनी नदी से लबी, भुवन प्रतीक्षा करेगा, जैसे कि निःसन्देह गौरा भी प्रतीक्षा करेगी-----क्योकि प्रतीक्षाए भी, अजय, अनागत काल की नदी मे स्थिर, शिथिल समय के द्वीप है।''[2] स्पष्ट है कि प्रेम का मर्म प्रतीक्षा मे है, पीडा मे है, सफरिंग मे है और यही व्यक्तित्व को पूर्ण बनाने वाला तत्त्व है।

'नदी के द्वीप' का शिल्प संगठन उनकी विशेष दृष्टि का परिणाम है, जो चरित्र, कथा सघटन, भाषा, शैली सभी स्तरो पर हिन्दी उपन्यास यात्रा की एक उपलब्धि है। प्रमुख चार चरित्र, जो अज्ञेय के अनुसार चार सवेदनाये है को केन्द्र बनाकर कथानक को अध्यायो में नियोजित किया गया है। 'अन्तराल' जैसे सकेत उनमे एक प्रकार का अतर्सगठन बनाते हैं। संवाद, स्वयमालाप, पत्र, कविताओं के स्मरण संकेत अर्थात् उदाहरण आदि के माध्यम से इस अनुभूतिमय प्रेमगाथा की बुनावट की गयी है। 'लेखक की तीव्र भावप्रवणता ने उनकी भाषा को अद्भुत काव्यात्मक सघनता अथवा तरलता यथा प्रसंग, और स्थान-स्थान पर, प्रदान की है। हिन्दी का गद्य 'नदी के द्वीप' मे सर्वथा ही नये सामर्थ्य के साथ प्रस्तुत हुआ है। सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओ और विचारो की प्रखरता के साथ अभिव्यक्त करने की दृष्टि से 'नदी के द्वीप' बहुत ही महत्वपूर्ण कृति है।'[3]

---

1 आत्मनेपद, पृष्ठ 80
2 'नदी के द्वीप',—अज्ञेय
3 अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन

'भाषा-प्रयोग और रचना सगठन की दृष्टि से 'नदी के द्वीप' की कला अप्रतिम है। अपने प्राय त्रुटिहीन विधान मे यह उपन्यास अनेक वर्षो तक आने वाले रचनाकारो के लिए एक चुनौती बना रहेगा।'[1] अज्ञेय के यहाँ भाषा सर्जनात्मक व्यक्तित्व की चिन्तना का एक प्रधान अग के रूप मे उपस्थित है। इसीलिए रेखा हो या भुवन या गौरा यहाँ तक कि चन्द्र माधव, भाषा उनके लिए अभ्यास नही जीवित सत्य है। भाषिक सर्जनात्मकता के कारण उपन्यास मे सर्वत्र सूक्ष्म अकन और अर्थपूर्ण वर्णनो का क्रम मिलता है। अज्ञेय ने घटना या चरित्र के वाह्य स्थूल रूप पर जोर न देकर उनके आन्तरिक घात-प्रतिघात को समझना चाहा है, जहाँ यथार्थ का अधिक वास्तविक रूप देखा जा सकता है। 'नदी के द्वीप' की सारी सवेदनशीलता और सुकुमारता अधिकतर उसके भाषा-प्रयोग के कारण है जिसके अभाव मे वह एक सामान्य प्रेम-कथा होकर रह सकता था। अब नदी के द्वीप इस बात का प्रमाण है कि किस प्रकार भाषा सवेदना को विकसित करती है और उसे ऊपर उठाती है।'[2] अतएव डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दो मे कहे, " 'नदी के द्वीप' के रचना-सघटन को समझने पर लगता है कि 'शेखर' की तुलना मे उसका औपन्यासिक विधान गहरे सवेदनात्मक सूत्रो और भाषा सम्बन्धी सतर्कता के कारण कही अधिक अच्छी अन्विति पर सका है। 'नदी के द्वीप' की एक डिजाइन है, भले ही वह एक ऐसे जीवन से आकी गयी है जो सामान्य जन-जीवन का भाग नही है।"[3]

---

1 अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 76
2 वही, पृष्ठ 77
3 वही, पृष्ठ 81

'आधा गाँव'

''मैला आचल' के बाद 1956 एव 1966 के बीच ''सागर, लहरे और मनुष्य', 'वरुण के बेटे', 'ब्रह्मपुत्र', 'परती : परिकथा', 'कोहवर की शर्त' आदि हिन्दी के श्रेष्ठ आचलिक उपन्यास प्रकाशित हुए, किन्तु आचलिकता का जैसा सघन प्रयोग राही मासूम रजा की कृति 'आधा गाँव' (1966) मे है, वैसा किसी मे नही। आधा गॉव की कहानी उत्तर प्रदेश मे गाजीपुर जिले के गंगौली गॉव से सम्बन्धित है, लेकिन गगौली यहॉ पूर्ण रूप मे नही आया है। 'उस गॉव मे 'सैयद' लोगो के मकान है। कुल मिलाकर दस घर होगे। दक्खिन पट्टी वाले घर दक्खिन पट्टी कहलाते है और उत्तर पट्टी वाले घर उत्तर पट्टी कहलाते है। बीच मे जुलाहो के घर है। सिब्बूदा के घर से राकियो की आबादी शुरू होती है और फिर, गदी कच्ची गली गगौली बाजार मे दाखिल हो जाती है-------गॉव के आस-पास कई घूरे आबाद है। किसी मे चमार रहते है, किसी मे भर, और किसी मे अहीर।'[1] लेकिन राही अपने को केवल सैयद परिवारो तक सीमित रखते है, 'हमे इन्ही तीनो फाटको और उनके चारो तरफ रहने वाले सैयद परिवारो मे जाना है।'[2] इन सैय्यद परिवारो मे रहने वाले लोग गॉव के सबसे प्रभावशाली लोग है—जमींदार एव भूस्वामी वर्ग के लोग। इनके आपसी अन्तर्विरोध, छोटे-छोटे झगडो, रीति-रिवाजो, विघटन और विकृति को चित्रित करने मे ही लेखक ने अपना ध्यान केन्द्रित किया है।

'आधा गॉव' की कहानी देश मे जितनी सीमित है, काल मे उतनी ही फैली हुई है। आजादी की पूर्व बेला से लेकर उसमे कुछ समय बाद तक के काल-प्रवाह से गुजरते हुए यह उस मुस्लिम समाज की कहानी है, जो आन्तरिक और वाह्य दबावों से टूट रहा है। समय के इतने व्यापक फैलाव को लेखक ने इसलिए लिया है ताकि वह दिखला सके कि ''क्या था, क्या है और क्या होने वाला है।''[3] और इसलिए

---

1 आधा गाँव, पृष्ठ 13
2 वही, पृष्ठ 14
3 वही, पृष्ठ 42

'आधा गॉव' एक गॉव विशेष की कहानी होते हुए सिर्फ गॉव की कहानी नही है। राही ने अपने उपन्यास के विषय मे लिखा है, 'यह कहानी न कुछ लोगो की है न कुछ परिवारो की। यह उस गॉव की भी कहानी नही है, जिसमे इस कहानी के बुरे-भले पात्र अपने आप को पूर्ण बनाने का प्रयत्न कर रहे है। यह कहानी न धार्मिक है न राजनीतिक क्योकि समय न धार्मिक होता है, न राजनीतिक और यह कहानी समय ही की। यह गगौली मे गुजरने वाले समय की कहानी है।' गगौली मे गुजरने वाला समय बहुत कुछ वही है जो 'करौता', 'बेलारी', 'मेरीगज', 'परानपुर' मे गुजर रहा था और यह समय बडा निर्मम होता है "कई बूढे मर गये, कई जवान बूढे हो गये, कई बच्चे जवान हो गये और कई बच्चे पैदा हो गये, यह उम्रो के इस हेर-फेर मे फसे हुए सपनो और उनके हौसलों की कहानी है।" और इस कहानी मे राही मासूम रजा पूरे परिवार के साथ स्वयं भी उपस्थित है और 'गगौली' की कहानी को अपने ही घर-परिवार की कहानी के रूप मे ढाल दिया है . "मै जिस गॉव और जिन लोगो की बाते कर रहा हूॅ, वह मेरा गॉव है और मेरे अपने लोग हैं और मै उनसे प्यार करता हूॅ।-----मैने पूरे गॉव को नहीं चुना, बल्कि गॉव के उस टुकडे को चुना, जिसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ। कथाकार के लिए यह जरूरी है कि वह उन लोगो को अच्छी तरह जानता हो, जिनकी वह कहानी सुना रहा है।"

डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव की इस सन्दर्भ मे मान्यता यह गलत नहीं है कि 'एक अच्छी बात है कि 'आचलिक' उपन्यासो की कोई रूढ़ि इस उपन्यास मे नही है, क्योकि यहॉ अचल सिर्फ खिडकी है, जिसे मानवीय इतिहास और वास्तविकता के बदलते हुए चेहरे देखे जा सकते हैं। इस दृष्टि से उपन्यास को 'आचलिक' खाते मे रख देने से इसकी ऐतिहासिक महत्ता के कम हो जाने की आशंका है। बड़ी बात यह है कि यह उपन्यास एक ऐतिहासिक मोह भग की पृष्ठभूमि मे लिखा गया है। कभी वे अपने 'जातीय आभिजात्य' में बन्द थे—चरित्र और आचरण की छोटी-बड़ी सैकडों कमजोरियों के बावजूद—क्योंकि उन्होंने समय का संकट नहीं देखा था—देखने के लिए उन्होंने रेल नही देखी थी और मोटर उनके लिए अग्रेजी लोहे के मानिन्द थी—फिर जंग छिड गयी और महगाई ने उन्हे पूरी तरह तोड दिया। टाट का दुपट्टा ओढ़ने वाली लडकियों के कन्धे दुखने लगे, कफन के लिए परमिट और परमिट के लिए रिश्वत की जरूरत होने लगी।'[1] हिन्दुस्तान की आजादी का सपना पूरा होते न होते 'सभ्य' कहे जाने वाले

---

1 उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 116

सफेदपोश लोगो ने गगौली जैसे निश्छल परिवेश मे भी विषाक्त साम्प्रदायिकता की विकृति फैला दी। 'आधा गॉव' के एक सशक्त पात्र फुन्नन मिया पाकिस्तान की परिकल्पना का मजाक उडाते है—

['आदाब चाचा।' अनवारुल हसन राकी का लडका फारूक आ गया।

'काहे भैया, तोरे पाकिस्तान का क्या हाल है?'

'वह तो बन रहा है।'

'काहे न बनिहे, तू कहि रहयो तो जरूर बनिये। बाकी ई गगौली पाकिस्तान मे जई हे कि हिन्दुस्तान मे रइहे?'

'ई तो हिन्दुस्तान मे रहेगी। पाकिस्तान मे सूबा सरहद, पजाब, सिन्ध और बगाल होगा। और कोशिश कर रहे हम लोग कि मुस्लिम यूनिवर्सिटी भी पाकिस्तान मे ही जाए।'[1]]

राही बार-बार यह प्रश्न उठाते है कि जब अन्ध भक्ति किसी समाज मे उत्पन्न कर दी जाती है तो सत्य-असत्य, कल्पना-यथार्थ के बीच की दीवार टूट जाती है। एक अन्य स्थल पर राही की उपरोक्त दृष्टि और तीखी हो उठती है। फुन्नन मिया सद्दन से जो कुछ दिन पहले पाकिस्तान चला गया है, कई तीखे सवाल करते है—

[''अरे तोरे पाकिस्तान का क्या हाल है----''

''वहॉ तो लोग रोजा-नमाज मे ही वक्त गुजारते हुईहे।''

''क्यों?''

''अरे भाई इस्लामी हुकूमत है। क्यो का क्या सवाल।''

''तो इस्लामी हुकूमत का मतलब आपने ये समझा कि रोजा-नमाज होता होगा?'' सद्दन ने उत्तर दिया।

''का इस्लामी का मतलब बदल दिए लोग?'' फुन्नन मिया ने सवाल दागा।

---

1 आधा गाँव—राही मासूम रजा

''इस्लाम का मतलब है दादा कि मुसलमानो को नौकरी मिले।''

''अच्छा ई हमे न मालूम रहा कि रसूल अल्लाह, मार ऐसी पर उधम जोते रहे कि मुसलमानो को नौकरी मिले। आज तू हमरी बडी परेशानी दूर कर दियो। मौलवी बेदार बहुत नाक मे दम किये रहत है। हकीम साहब को ई बात समझाओ बेटा।''[1]]

'आधा गॉव' मे राही मासूम रजा ने गगौली के मुसलमान जमीदारो के मानसिक द्वन्द्व का अकन बहुत प्रामाणिक रूप मे किया है। क्रमशः बढ़ती हुई बदहाली मे भी एक ओर उनके जीवन का ठस्सा और शान उन्हे चीजो से समझौता करने से रोक रही थी, दूसरी ओर परिवर्तित स्थितियो में गॉव मे रह पाना उनके लिए कठिन हो रहा था। अपने उपन्यास पर सस्मरणात्मक टिप्पणी लिखते हुए राही ने लिखा है, ''परन्तु यह उपन्यास लिखने के बाद मैंने जो सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण बात जानी वह यह है कि यहॉ का मुसलमान पाकिस्तान नही गया और यदि गया भी तो हिन्दुओ से डर के नही गया। वह कराची गया। वह लाहौर गया। वह ढाका गया------पाकिस्तान नही गया। हमे शहर और देश मे फर्क करना चाहिए। गगौली मे तो हिन्दु-मुस्लिम दगे नही हुए थे। पर जमींदारी गगौली मे भी खत्म हुई। जमीदारी के साथ समाज का पूरा ढाचा टूट गया। गगौली का जमींदार गाजीपुर मे पान की दुकान नही खोल सकता था। पर कराची मे उसे कौन जानता है। इसीलिए जब उससे गंगौली छूटी तो वह गगौली से इतनी दूर चला गया जहॉ कोई काम करके जीने मे उसे शर्म न आये। जमींदार गया तो उसके साथ जीने वाले भी गए कि उन्हे ठीक से जीना नही आता था। इन पाकिस्तान जाने वालों को मुसलमान कहना ठीक नहीं है-----'' गॉव के मियां लोगो के लिए पाकिस्तान का बनना-न-बनना उतना महत्वपूर्ण नही था जितना कि जमीदारी टूटना। कारण यह था कि ''हम्माद मियां के अलावा किसी जमींदार के पास एक धुर जमीन नही थी। ये लोग देखते-देखते पल भर मे नूरुद्दीन शहीद के मकबरे की भॉति गिर गये।-------वे घरों से निकले और जब घर ही छूट गया तो गाजीपुर और कराची में क्या फर्क है-----।'[2] इस उपन्यास मे राही ने एक बड़ी बात यह कही है कि जमीन से जुडा हुआ मुस्लिम पाकिस्तान नहीं गया। मिगदाद साफ कहता है : ''अम न जाए वाले हैं कही। जाये ऊ लोग जिन्हे हल बैल से शरम आती है। हम त किसान है तन्नू भई।

---

1 अधा गाँव पृष्ठ 334
2 आधा गाँव पृष्ठ 309

जहॉ हमारा खेत, तहा हम।''[1] इसलिए जमीदारी प्रथा पर जिदा रहने वाले मोलवी बेदार जैसे लोग अपने गॉव से इतनी दूर चले गये जहॉ कोई भी काम करके जीने मे शर्म महसूस न हो। मोलवी बेदार के सन्दर्भ मे फुन्नन मिया सही फर्माते है, ''तू इ मत सोचिहो कि ऊ पाकिस्तान एह मारे गये है कि देहली के इमाम बाड़े पर सिख लोग कब्जा कर लिहिन है, एह मारे गये है कि गगौली मे रहे का कौनो सहारा न रह गवा रहा। क उन बूते रहते। आस-औलाद रही ना, हल चलावे आता न रहा और फुस्सु मिया की तरह जूते की दुकान खोले की हिम्मत ना रही। तो कह दीहिन कि हम ई मुलक मे ना रहेगे जिसमे इमामबाडे पर सिख लोग कब्जा कर लिहिन हैं। अब्बू मिया का भी यही हशर होने वाला है। गगौली मे थोडे ही दिनो के मेहमान है। बाकी तू लूली लगडी खेती कर रहयौ। तू तो जमीन छोड के पाकिस्तान ना जा सकत्यौ और अब गॉव मे रहे के वास्ते ई जरूरी है कि आदमी के पीछे सौ-पचास लाठी रहे-----समझियो फुन्नन मिया भी पाकिस्तान चले गये होते, बाकी ऊ एह मारे न गये कि हियां कौन उनकी झाट टेढी कर ली है। हम एक ठो फुन्नन मिया ना है, तम सौ दो सौ लाठी है।''[2] कहना न होगा कि यह उपन्यास, झूठा सच, तमस की कडी मे नई सवेदना जोडता है, जो गगौली के माध्यम से समाज के व्यापक एव ज्वलत सत्य को समेटता है। विभाजन उपन्यास का केन्द्रीय बिन्दु नही है, किन्तु राही ने दिखलाया है कि विभाजन को लेकर जो आजादी आई, वह हिन्दुस्तान की मुस्लिम आबादी के लिए कितना बडा हादसा थी, दिलो की तनहाई से लेकर बिस्तर की तनहाई तक। समय के परिवर्तन से निस्तृत पीडा के कारण ही लेखक उपन्यास की भूमिका 361वे पृष्ठ पर लिखता है, ''और इस वक्त इस आधे गॉव की कहानी बडे नाजुक मोड पर है। मैं जानता था कि इस कहानी मे यह मोड़ आयेगा, इसीलिए मैंने पूरे गॉव को नही चुना, बल्कि केवल गॉव के उस टुकडे को चुना, जिसे मै अच्छी तरह जानता हूॅ। बात यह है कि अब हमारी कहानी एक ऐसी जगह है जहॉ एक युग समाप्त हो रहा है और दूसरा आरम्भ। तो क्या हर युग एक भूमिका की मॉग नही करता।''[3] यही मोड सकेत है कि आजादी मिलने के साथ ही कितना कुछ यहॉ एक साथ घटित हो रहा था—देश का विभाजन जमीदारी उन्मूलन, सामन्तवाद की समाप्ति। इस प्रकार 'आधा गॉव' की कथा वस्तु की बुनावट मुख्यत: तीन समस्या तत्त्वो से हुई है—पाकिस्तान के निर्माण से उत्पन्न गगौली के मिया

---

1 आधा गॉव, पृष्ठ 226
2 आधा गॉव—राही मासूम रजा, पृष्ठ 352
3 आधा गॉव—राही मासूम रजा

लोग का बाहरी और भीतरी बिखराव, जमीदारी प्रथा की समाप्ति से उत्पन्न उनका टूटता हुआ आर्थिक आधार और मुस्लिम जिन्दगी की परम्परागत यौन सम्बन्धी अनैतिकता। इन सबके बीच मुहर्रम मर्सिया मातम एक जिन्दा वजूद की तरह उपस्थित है, एक मद्धिक शोक सगीत की तरह गगौली के लिए मोहर्रम एक पर्व नही है, बल्कि उसकी जीवन दायिनी शक्ति भी है। 'पस्ती के बावजूद अपने आपको ढाडस बधाने के लिए और सच बोलने के लिए सिर से कफन बॉधने के प्रतीक के रूप मे उसकी एक विशिष्ट भूमिका है।'[1] "आज शब्बीर पै क्या आलमे तनहाई है।" हुसैन आमिया के पहला मिसरा पढते ही "मजलिस उलट गयी'--------"तमाम लोग रो रहे थे क्योकि इन तमाम लोगो के गले मे पाकिस्तान की कटी हुई नाल फॉसी की तरह पडी हुई थी और तमाम लोगो के दिल घुटे जा रहे थे।''' तात्पर्य यह है कि '''हर कैफियत अकेली थी। हर जज्बा तनहा था----दिलो मे गहरा खौफ और गहरा शक परवरिश पा रहा था।" पहले तो यह बात मजाक लगी कि जमीदारी खत्म होने जा रही है पर जब सचमुच खत्म हुई तो इनकी 'शख्सियतो की बुनियादे हिल गयी। ताजिये के गिलाफ पुराने होकर बिसकने लगे। मन्नती ताजियो का कद कम होने लगा। दरवाजे वीरान दिखाई देने लगे। हर घर मे शादी के लायक लडकियॉ थी पर लडको का अकाल था। लडकियो के पास सपने देखने का सिलसिला नही रहा और लुतरी बीवियॉ खामोश हो गयी—क्योकि 'जब लडके ही न हो तो कोई लडकियों को किसके साथ बदनाम करे।' सैयदो का टूटा हुआ दर्प स्वीकार कर रहा था कि 'हड्डी-उड्डी जमीदारी का चोचला रहा।' दो सैय्यद जादे हरामी कम्मो की नौकरी बजा रहे थे और फुस्सू मिया ने इमामबाडे के कमरे मे जूते की दुकान खोल ली थी। घर खाली होते जा रहे थे और हर जनाना कमरबन्द मे सिर्फ कुंजियो का भारी गुच्छा बॅधा था। वास्तविकता का यह चरम बिन्दु है पर ऐसे किसी भी बिन्दु पर जिंदगी खत्म नही हो जाती—हर ट्रैजिक मोड से वह नये अर्थ मे शुरू होती है। आधा गॉव का अन्तिम चित्र यह है—"बाहर सुबह बहुत खूबसूरत थी। सहन मे एक मुर्गा एक मुर्गी का पीछा कर रहा था और एक कौवा खपरैल की कलस पर बैठा न मालूम किसे आवाज दे रहा था। गौरियो का एक गोल फुस्सु मिया के कन्धे के ऊपर से उडता हुआ गुजर गया। गढई के किनारे दो-तीन नग-धडग बच्चे एक दूसरे पर पानी उछाल रहे थे। और एक तरफ एक

---

1 हिन्दी उपन्यास का विकास—मधुरेश, पृष्ठ 147

जवान लडकी साडी को घुटनो तक उठाये बैठी बरतन मॉज रही थी। टेढी-मेढी ककर की सफेद सडक पर एक जीप धूल उडाती चली आ रही थी। सामने तालाब के पास ईटो के भट्टे की चिमनी से गाढा धुऑ निकल रहा था। एक छोटा सा बच्चा बगल मे बस्ता लटकाये हुए तेजी से भागता हुआ गुजर गया।''[1] डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव के शब्दो मे कहे तो 'एक नये सम्भावित जीवन के इस आरम्भ बिन्दु को, जिसके पीछे कितने ही बेडौल चित्र या सवाल है, तीखी करुण यादे है, धुँधली परछाइयॉ हैं, 'सिनेमाई प्रतीकवाद' या 'निष्कर्षवाद' कहना अन्यायपूर्ण होगा।' यह चित्र न भी होता तो भी 'आधा गॉव' की कहानी पूरी हो गयी थी और शायद अधिक गहरे सार्थक प्रभाव के साथ।

'मैला ऑचल' की तरह यहॉ भी परम्परागत नैतिकता का शिविर उखडता प्रतीत होता है। 'मर्द ताक झाक करते हैं और रखनिया रखते हैं।' यह तो आम बात है परन्तु जिस स्तर पर सैय्यद जादे नाइनो-चमाइनो की ओर लपकते है वह कुछ सोचने को विवश करता है। पूरे गॉव मे नीच कौम की औरते ऊँचे कौम वालो और धनी मानी लोगो की खाज बनी हुई है। मियॉ लोगो की यौन नैतिकता का हालत यह है कि 'ऐरी-गैरी औरत घर मे डाल देना बुरा नही समझा जाता था। शायद ही मिया का ऐसा कोई खानदान हो जिसमे कलमी लडके-लडकिया न हो। जिनके घर खाने को भी नही होता, वे भी किसी-न-किसी तरह कलमी आमो और कलमी परिवारो को शौक पूरा कर ही लेते।'[2] 'मैला ऑचल' की कई-कई रामप्यारिया यहा है। 'सईदा कई लोगो से लगाई गयी और दो एक पेट गिरे' सर्वत्र शरीर सम्बन्ध है और इस सम्बन्ध के सवाल आर्थिक है। टूटती जिन्दगी और वीभत्स मासल भूख से जुडे आर्थिक प्रश्नो पर राही की दृष्टि सनसनी खेज मुद्रा मे है, जो जमीदारी व्यवस्था की विकृति के रूप मे उपस्थित है। ऐसा लगता है कि राजनीति से जुडे प्रश्नो से टकराता कथाकार अनेक ऐसे प्रश्नो को नजर अन्दाज कर गया है, जो 'आधा गॉव' की सवेदना में बिना-फैसले के अधूरे दीखते है। मेहरूनिया नाइन और सुलेमान, सितारा और अब्बास, गुलाबी-जान और हर नारायण, बदरून और समीउद्दीन, बछनिया और बेदार नैतिकता की घोर गिरावट वाले एक से एक गभीर केस है। अपना सारा का सारा चारित्रिक खोखलापन लिए आदमी एकदम नगा हो गया है। इस माहौल मे भी उपन्यास मे मानवीय एव स्वस्थ प्रेम के कुछ चित्र दीख जाते

1 आधा गाँव, पृष्ठ 314
2 उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ परमानन्द श्रीवास्तव

—सुलेमान-झुगटिया, सफिखा-बछनिया, मिगदाद-सैफुनिया, फुन्नन-कुलसुम—जो अपनी उष्मा से सामती माज की किसी-न-किसी विडम्बना अथवा पाखड को उद्घाटित करते हैं।

अन्य उपन्यासो की कथा-वस्तु मे जहॉ एकसूत्रता, ससबद्धता, एकोन्मुखता और कसावट होती है, हॉ अन्य आचलिक उपन्यासो की भाति 'आधा गॉव' कथावस्तु मे बिखराव और फैलाव है। 'आधा गॉव' कोई भी ऐसी कथा नही है, जिसे उपेक्षा या अधिक प्रामुख्य मिला हो। वस्तुत इस उपन्यास मे कथा-सी कोई चीज है ही नही। गगौली गॉव के आधे हिस्से में बसे भूतपूर्व जमीदार शिया मुसलमानो के चद रेवार है और उपन्यास का पूरा कथावृत्त इन्ही चन्द परिवारो के आगन से शुरु होकर इमामबाडे तक हुँचकर पूरा हो जाता है। कई-कई चेहरे उभरते है, साथ-साथ उनके वैभव-विलासपूर्ण अतीत पूरा हो ाता है। कई-कई चेहरे उभरते है, साथ-साथ उनके वैभव-विलासपूर्ण अतीत और निराशा-घुटन-भरे र्तमान की व्यथा-कथा भी—लट्ठबाज फुन्नन मिया, रईस अब्बू मिया, जमीदार हम्माद मिया, परसराम मार एम० एल० ए०, सैय्यद अली कबीर तथा ठाकुर जयपाल सिह आदि की जीवन-गाथाए गगौली गॉव गुजरने वाले समय-प्रवाह मे बुलबुले की तरह उभरकर फूट जाने वाली हैं। वस्तुत: इस उपन्यास की हानी ' गगौली गाव मे गुजरने वाले समय की कहानी है और समय एक अनन्त प्रवाह होते हुए भी क्षणो, टो, दिनो और महीनो मे बटा होता है। अत: इन समय खण्डो की अलग-अलग कहानयॉ भी इस अनत-वाह मे ही खो गयी है। पाठक पात्रों के विशाल मेले में भटककर न केवल उनके अलग-अलग चेहरे हचानने मे गलती कर बैठता है, बल्कि उन चेहरों के पीछे छिपी उनकी अलग-अलग व्यथा-कथाओ मे कोई पारस्परिक सबध सूत्र जोडने मे भी अपने को असमर्थ पाता है। आधे गॉव की आबादी भीड लगाये डी है और लेखक की नजर जिस चेहरे पर पडती है, उसी की कहानी वह सुनाने लगता है। सपूर्ण गॉव ी समन्वित कथा के रूप मे इन अलग-अलग चेहरो की कहानियो का मूल्य है, परन्तु आपस में कहानियाँ र्गत. सबद्ध नही है।

देश-काल वातावरण शिल्प की दृष्टि से भी यह उपन्यास अन्य आचलिक उपन्यासो से विशिष्टता नये हुए है। राही का उद्देश्य ' गंगौली मे गुजरने वाले समय' की कहानी कहना है, इसीलिए वह गंगौली भौगोलिक और प्राकृतिक वातावरण की ओर ध्यान न देकर समय के प्रभाव मे बनते-बिगडते सामाजिक

सन्दर्भो की ओर अधिक ध्यान देते है, फलत. सामाजिक-सास्कृतिक वातावरण यहॉ अधिक गहरा है। सपूर्ण हिन्दी उपन्यास जगत मे सम्भवत यह प्रथम उपन्यास है जिसमे मुस्लिम समाज तथा सस्कृति की तमाम भीतरी-बाहरी परते, सारी अच्छाइया और बुराइया, खूबिया और खामिया तथा कृतिया ओर विकृतिया अपने यथार्थ रूप मे विविध रग-रेखाओ मे चित्रित हुई है। गगोली के जिन शिया मुसलमानो के सामाजिक जीवन को उपन्यास का प्रतिपाद्य बनाया गया हे, वह भूतपूर्व जमींदारो का समाज हे, सम्पन्न, खाते-पीते सामती सस्कार वाले मुस्लिमो का समाज ह। आर्थिक चिन्ताओ से मुक्त रहने के कारण पूरे साल भर ये लोग या तो मुहर्रम की तैयारिया करने मे बिताते थे या फिर बैठकबाजी करने, मजलिसे लगाने और इश्क-मुहब्बत करने मे। औरते पान-सुपारी-जर्दा लेकर गप्पे हाकती, बच्चे पालती और घर से बाहर निकलने के लिए डोलिया मगवाती। पुरुष अपने दालानो और बेठको मे बैठकर टोले-मुहल्ले की जुलाहिनो, हजामिनो तथा घर की नौकरानियो से ऑखे लडाते तथा अपनी वासना की तृप्ति करते। लेकिन जमीदारी खत्म होते ही उनकी यह दुनिया उजड गयी। लेखक ने बडी साफगोई, निस्सगता से वहॉ की सामाजिक विकृतियो का सर्जनात्मक इस्तेमाल किया है।

अनुभव की प्रामाणिकता के साथ एक प्रकार का भाषा-विवेक भी इसके लिए जरूरी होता है। 'यो ही नही है कि गगौली जैसे आचलिक परिवेश के आत्मीय स्वजनो की कहानी लिखने के लिए राही मासूम रजा ने एक जीवित स्थानीय रग वाली भाषा का सहारा लिया है और इसमे शक नही कि उन्होने चीजो को सही नामो से पुकारने की कोशिश की है।'[1] राही के पास जीवित प्रवाहमान भाषा है, जो यान्त्रिक न होकर मानवीय भाषा है, बोली के जीवन्त मुहावरो और विशेषणो से अर्थसम्पन्न। बोली का यह रग भी खडी बोली के सख्त और बेचलक शब्दो को पिघलाकर बनाया गया अधिक आत्मीय रग है। कही-कही यह भाषा उपन्यासकार से अधिक नैरेटर की भाषा लगती है, क्योकि इसमे खुलापन भी है और चमत्कार भी। उनकी भाषा स्थानीय रगो से रगी होने के कारण अत्यन्त सजीव है। कही तो राही की भाषा शुद्ध बिम्बधर्मी या चित्रमय है—'वह तो अपनी सॉसो की झाडियो मे उलझ-उलझकर गिरी-गिरी पड रही थी।' 'सितारा का सारा बदन सितार की तरह झनझना गया'—तो कही बेहद अनगढ और फूहड। यह भी

---

1 उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 115।

गगौली के आचलिक परिवेश का विरोधाभास ही है, जो आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक दबाव मे ग्रस्त जीवन पर हावी है। गालियो के प्रयोग मे असयमितता की बात उठाई गई, किन्तु इसमे असयमितता नही, सहजता दृष्टिगोचर हो रही है। यह प्रयोग एक नियम से हुआ है, क्योकि समस्त गालियाँ उपन्यास के उत्तरार्ध मे है। इनके वक्ता भी कुछ खास तरह के खास लोग—मिगदाद, हाजी जी, फुन्नन मियाँ, हकीम जी, हरिजन एम० एल० ए० परशुराम—है, जो जिन्दगी से ऊबे, पीडित, निराश और शहर जाने से बचे हुए लोग है। जमीदारी के रहते इन लोगो ने जो शानदार जिन्दगी बिताई उसके टूटते ही वह टूट गये। 'इन शरीर और मन से निचुडे लोगो के सामने अब जिन्दगी का कोई सपना नही रह गया है। ये मानो व्याधिग्रस्त लोग जिनकी जिन्दगी के अन्तर-वाह्य सघर्ष बौखलाहट मे प्रतीकात्मक रूप से गालियो मे प्रकाशित होने लगते है। हारे-टूटे लोगो का ऐसा बीहड जुलूस जब गालियो को बकता सामने आता है तो वह टेननीक की उच्छृखलता से अधिक गॉव की टूटन के मनोवैज्ञानिक विस्फोट के रूप मे अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है।'[1] इस भाषा और इसके परिवेश मे इस प्रकार का आत्मीय सगीत है, जो कहानी के पूरे विन्यास मे घुलता चला जा रहा है और वही उपन्यास को एक आचलिक व्यक्तित्त्व की एकता भी देता है।

---

1 हिन्दी उपन्यास उत्तरशती की उपलब्धियाँ—डॉ० विवेकी राय, पृष्ठ 97-98

झूठा सच

'झूठा सच' न केवल स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास यात्रा वरन् उपन्यास विधा को एक नई पहचान देता है। 'इसलिए नही कि उपन्यास विभाजन की त्रासदी की महागाथा प्रस्तुत करता है वरन् इसलिए कि यह रचना 20वी शताब्दी के चौथे-पाचवे दशक के हिन्दुस्तानी जीवन की लय, उसकी मार्मिक और प्रामाणिक छवि प्रस्तुत करता है जो अपने खाटीपन मे अन्यत्र बहुत कम उपलब्ध होती है।'[1] नेमिचन्द्र जैन का कथन है कि यह उपन्यास कुल मिलाकर इसलिए 'अखबार की कतरनो का बड़ा विशाल सग्रह' बनकर रह गया है कि इसमे घटनाओ के वाह्य रूपो का चित्रण है, दृष्टि परिवेश पर अधिक टिकती है और परिवेश मे जीने वाले व्यक्ति की अन्तरात्मा पर कम, राजनीतिक विचारधाराओ और मान्यताओ के गहरे चटकीले रग कभी-कभी समूचे फलक की रग-सगति के विपरीत बैठते है। सत्रस्त मानवो की आत्मा के आतरिक द्वन्द्व उनके आत्म-मथन तथा उनकी मौलिक आध्यात्मिक पीडा का अभाव है। श्री जैन इन कतरनो को चुनने और सजाने मे लेखक की सावधानी तथा कुशलता को स्वीकार भी करते हैं। अपने मत का खण्डन करते हुए वे यह भी कह देते है कि उपन्यासकार मे राजनीतिक आन्दोलनो को सामाजिक यथार्थ के अन्य पक्षो के साथ समेटने की क्षमता इसकी उपलब्धि है। इसके अतिरिक्त, वे झूठा सच मे केवल विस्तार को आाकते और गहनता के लिए तरसते है। और यह विस्तार भी विश्रृखल है। इस प्रकार आलोचक के यहॉ दो कसौटियॉ दिखाई देती है। डॉ० प्रकाश चन्द गुप्त भी इसमे पट की विशलता देखते है, तो दूसरी ओर उनकी धारणा है कि इसमे कथाकार जीवन की अतल गहराइयो मे उतर सका है। सुधी आलोचक इसमे भारतीय जीवन के व्यापक प्रसार ओर सश्लिष्ट सूक्ष्मता दोनो की झाकी पा लेते है। डॉ० महेश्वर की दृष्टि में 'बुद्धिजीवी वर्ग पर केन्द्रित होने के कारण झूठा सच मे भी प्रेम और सेक्स के वर्णनो को केन्द्रीय महत्त्व दिया गया है। 'झूठा सच' के प्रमुख पात्रो की केन्द्रीय समस्या उनका यौन जीवन है,

---

1 'वर्तमान साहित्य' का कथा साहित्य विशेषाक, अप्रैल 2000 मे हरि मोहन शर्मां का लेख

जिसे विभाजन की विभीषिका और जटिल बना देती है।------भारतीय बद्धिजीवी वर्ग की भूमिका को ही यह उपन्यास एक विशिष्ट राजनीतिक दुर्घटना के परिप्रेक्ष्य मे देखता—परखता है और देश के भविष्य के बारे मे लेखक के अपने विचार व्यक्त हुए है, जो गलत नही, परन्तु बेहद उलझे हुए और स्थूल है।'[1] डॉ० रमेश कुन्तल मेघ 'झूठा सच' को एक उपलब्धि के रूप मे स्वीकार तो करते है, परन्तु इनकी यशपाल से शिकायत यह है कि 'उन्होने इसमे किसी साफ इतिहास दर्शन को निरुपित नही किया है और उनका मार्क्सवाद धूमिल पड गया है, उसका खुमार उतर गया है।'[2] यहाँ कहना होगा कि 'यशपाल ने मार्क्सवादी चिन्तन के प्रभाव को तो स्वीकार किया है, परन्तु इसे चरम सत्य के रूप मे स्वीकार करने से इन्कार किया है।'[3] कुँवर नारायण के शब्द है, ''यशपाल के मार्क्सवादी पूर्वाग्रहो के कारण उनकी कृतियो के प्रति शायद मन मे ऐसी धारणा बन गई थी जैसी अधिकाश मार्क्सवादी कृतियो के प्रति बनी हुई थी—कि वे भी सतही और प्रचारात्मक अधिक होगी, गभीर कम।-------झूठा सच की पहली विशेषता ऐसे पूर्वाग्रहो का स्पष्ट खडन ही मानी जा सकती है। न तो यह उपन्यास सतही है, न मार्क्सवादी दृष्टिकोण का औपन्यासिक प्रचार मात्र। उपन्यास निस्सदेह मानव जीवन के उन गण्य दस्तावेजो मे है जिनका मूल्याकन प्रमुखत: एक कलाकृति के रूप मे होना चाहिए।'[4] 'काल के जितने वृहत्तर सन्दर्भो—आयामो के भीतर मानव इतिहास को देखने की चेष्टा इस उपन्यास मे की गयी है, वह अपने ढग का एक अकेला उदाहरण है।'[5] 'इस उपन्यास का राजनैतिक महत्व यह है कि वह जनता को देश की प्रतिक्रियावादी शक्तियो का वास्तविक घृणित रूप दिखलाता है, उनसे जनता को सावधान रहना सिखलाता है।'[6] नेमिचन्द्र जैन के शब्दो मे, ''विभाजन—सर्वग्राही घटनाओ को उन्होने उसकी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक और वैयक्तिक समग्रता मे, साथ ही उसकी गतिमानता मे, देखने का प्रयास किया है। इस राजनीतिक घटना की जडो को देखने-समझने के लिए लेखक ने पहले खण्ड मे साम्प्रदायिकता के विष के बढने की विभिन्न

---

1 क्रातिकारी यशपाल—स० मधुरेश, पृष्ठ 132
2 हिन्दी उपन्यास पहचान और परख—स० इन्द्र नाथ मदान, पृष्ठ 213
3 वहीं, पृष्ठ 213
4 हिन्दी उपन्यास पहचान और परख—स० इन्द्र नाथ मदान, मे कुँवर नारायण का लेख
5 उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 59
6 कथा विवेचना और गद्यशिल्प—डॉ० राम विलास शर्मा, पृष्ठ 75

अवस्थाओ का, उसके विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक और वैयक्तिक स्तरो का, उसके बारे मे विभिन्न प्रतिक्रियाओ तथा उसके विभिन्न स्थूल-सूक्ष्म रूपो और स्थितियो का प्रस्तुतीकरण किया है। उसने न तो साम्प्रदायिकता के आर्थिक-राजनीतिक पक्ष से बचने की कोशिश की है, न धार्मिक पक्ष से। इस भॉति विभाजन की पृष्ठभूमि को, विशेषकर उसके सामाजिक पक्ष को, वह बडी विशदता से उपन्यास मे प्रस्तुत कर सका है।[1] परन्तु इस उपन्यास की एक सीमा है, मुस्लिम समाज और उसके अन्तर्विरोधो के चित्रण की कमी। हिन्दू और मुस्लिम सास्कृतिक इकाइयो के बीच के जिन साम्प्रदायिक अन्तर्विरोधो का इस्तेमाल करके साम्राज्यवाद अपना उल्लू सीधा करने और उन्हे लडाने मे सफल हुआ, इसका चित्रण किये बिना भारत विभाजन की कोई सही कहानी नही लिखी जा सकती।[2] डॉ० महेश्वर के शब्द है, ''विभाजन के बाद देश के जो टुकडे किये गए और कई सदियो से एक साथ घुल-मिलकर रहते हिन्दू और मुस्लिम जनसमुदायों को अवाछित दायरो मे कैद किया गया उसकी तडपन इस उपन्यास मे नही दीखती, जैसा कि मटो की कहानियो और भीष्म साहनी तथा मोहन राकेश की कुछ रचनाओ मे मिलती है। सारे पात्र जैसे लगता है कि इस दुर्भाग्य को आसानी से स्वीकार कर लेते है। इस स्वीकार के बावजूद जबर्दस्ती लादे गये विभाजन के उत्पीड़न की यत्रणा मूक ही रहती है, केवल एक बहुत बडे विध्वस और अत्याचार का 'ग्राफिक' ही ऑखो के सामने उभरता है और विलुप्त हो जाता है, किसी दुर्घटना की तरह। विभाजन और टूटन को बाद मे भी झेलते हुए पात्र जैसे स्थानान्तरण और पलायन को एक सुरक्षा की तरह स्वीकार कर लेते है।''[3] पुरी और तारा के रूप मे, जो भाई-बहन है, यशपाल राजनीतिक अवसरवाद और आचरण की निष्ठा का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते है। राजनीतिक अवसरवाद के शिकार के रूप मे पुरी का नैतिक और वैचारिक स्खलन अपने समय के यथार्थ को बेहतर ढग से अभिव्यक्त करता है। सामाजिक परिवर्तन के लिए वैचारिक निष्ठा को यशपाल किसी एक पात्र मे केन्द्रित न करके समान विचारो की दिशा मे सोचने और काम करने वाले युवाओ, स्त्री और पुरुष दोनो को समवेत रूप मे प्रस्तुत करते है।

---

1 हिन्दी उपन्यास पहचान और परख—स० इन्द्र नाथ मदान, पृष्ठ 213
2 वहीं, पृष्ठ 213
3 वही, पृष्ठ 213

'झूठा सच' उपन्यास दो भागो मे लिखा गया विस्तृत कथा फलक का उपन्यास है। भौगोलिक दृष्टि से उसका प्रसार लाहौर की भोला पाधे की गली से दिल्ली और लखनऊ तक है। कालक्रम की दृष्टि से कथा का आरम्भ स्वाधीनता प्राप्ति के पहले से होता है और उसका अन्त स्वाधीनता प्राप्ति के बाद उत्पन्न स्थितियो के साक्षात्कार से होता है। पात्रो की दृष्टि मे इसमे विभिन्न जातियो वर्गो, राजनीतिक पार्टियो और अवस्था के नर-नारियो का चित्रण है। इस उपन्यास की कथा मुख्य रूप से जयदेव पुरी, तारा और कनक के बीच या फिर इन्ही पात्रो के पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धो के बीच सक्रिय है। जयदेव पुरी इसका केन्द्रीय चरित्र है। उसे बनाने बिगाडने वाली घटनाओ को कही भी कोई आग्रह युक्त परिणति देने की चेष्टा नही की गयी है। वह जैसा भी है आरम्भ मे थोडी बहुत क्षमताओ सहित और बाद मे अपनी असख्य दुर्बलताओ सहित इस उपन्यास मे उपस्थित है।''[1] मधुरेश के शब्द है, '' 'झूठा सच' मे यशपाल अपने उपन्यासो की परम्परागत सरचना मे परिवर्तन करते है। यहॉ कम्युनिस्ट नायक उसी रूप मे उपस्थित नही है जैसा कि वह उनके पूर्ववर्ती उपन्यासो मे था।

कथा का एकसूत्र है पुरी का कनक से प्रेम, किन्तु उनके विवाह मे सामाजिक तथा आर्थिक विषमताओं के कारण बाधाएँ, पजाब विभाजन की घटनाएँ, कनक की दृढता और पुरी से विवाह-बच्चे, राजनीति-विशारद सूद जी की अनुकम्पा से आर्थिक प्रगति और चारित्रिक पतन तथा अन्त मे कनक से सबध विच्छेद। 'आदर्शवादी पुरी का कथानक के सूक्ष्म ताने-बाने द्वारा धीरे-धीरे नायक पद से गिरना उपन्यास की उल्लेखनीय मनोवैज्ञानिक सफलताओ मे से है। नायक के प्रति लेखक कही भी परम्परागत औपन्यासिक पक्षपात नही दिखाता। तटस्थ भाव से उसे जीवन की कठिन परीक्षाओ से गुजरकर हमारे सामने अतिम परिणाम रख देता है—बिना कोई राय दिये हुए, बिना कही उनकी ओर से शरीक हुए।'[2] कथानक का दूसरा सूत्र जयदेव पुरी की बहन तारा है, उसका मुसलमान राजनैतिक कार्यकर्ता असद के प्रति आकर्षण और निराशा, उसका जबरदस्ती एक अयोग्य वर से विवाह, पजाब विभाजन एव उसकी पृष्ठभूमि मे शारीरिक-मानसिक यत्रणा, दिल्ली आगमन एव कई नौकरियो से होते हुए अन्तत· सरकारी नौकरी और उदार डॉ० प्राणनाथ से पुनर्विवाह। डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव के अनुसार, ''तारा के चरित्र की

---

1 उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 59
2 हिन्दी उपन्यास पहचान और परख—स० इन्द्र नाथ मदान, मे कुँवर नारायण का लेख

परिणति (नेमिचन्द्र जैन से शब्द लेकर कहे तो) एक 'सफलता कथा' मे सीमित होकर रह जाये, यह विडम्बनापूर्ण है। तारा के जीवन के प्रसग सही और प्रामाणिक है पर उनकी परिणति युक्तिपरक है। सोद्देश्य कला और मानव नियति की सहज और वास्तविक या मौलिक विडम्बनाओ की रहस्यमयता मे प्रायः तालमेल बिठाना कठिन होता है। यह जीवन की समझ या अनुभव से अधिक कलाकार की सर्जनात्मक दृष्टि और कलात्मक सयम की समस्या है।''[1] नेमिचन्द्र जैन की भी धारणा कुछ इसी तरह है, ''जितने दुष्ट लोग है उन सबको अपने किये का फल मिलता है, और भले लोगो पर आई हुई विपता आखिरकार अन्त होता है। केवल इस एक वाक्य की ही कसर है कि 'जेसे इनके दिन फिरे सबके फिरे' अन्त की यह अति नाटकीय सुखदता गहन जीवन दृष्टि के अभाव अथवा उसके अत्यन्त सरलीकरण की जिस प्रवृत्ति की सूचक है, वह लेखक यशपाल के गौरव को बढाती नही।''[2]

इन दोनो कथा सूत्रो से अलग कनक की पृष्ठभूमि है, जिसका व्यक्तित्व इस अर्थ मे अधिक जटिल माना जा सकता है कि वह एक ऐसे वातावरण मे पली है जिसमे पाश्चात्य और भारतीय सस्कृतियो का आभिजात्य गोलमाल है। 'लेखक शायद इस चरित्र को उतनी खूबी से नही उभार पाया है जितना मध्यमवर्गीय और निम्नमध्यमवर्गीय चरित्रो को। ऐसा लगता है कि व्यक्तित्व की मनोवैज्ञानिक जटिलताओ को व्यक्त करने लायक अतदृष्टि और भाषा यशपाल के पास नही।[3] कुछ इन्ही दृष्टियो से, जहॉ एक ओर उनमे 'कवि दृष्टि का अभाव' देखते है, वही कुॅवर नारायण की दृष्टि मे 'उपन्यास का सबसे सशक्त अश है चरित्रो का चित्रण—उनका विषम परिस्थितियो के बीच अदम्य सघर्ष। ऐसा नहीं कि वे परिस्थितियो पर सदा विजयी ही होते है, लेकिन वे आसानी से टूटते नही। उनमे जीवन के प्रति एक गहरी आसक्ति है जो निराशा के घोरतम क्षणो मे भी जीने का बल देती है।'[4] डॉ० माहेश्वर के अनुसार, ''इतने अधिक तथा इतने विवादास्पद चरित्रो की सृष्टि भारी सर्जनात्मक प्रतिभा का काम है और यशपाल की सर्जनात्मक क्षमता राहुल साकृत्यायन तथा रागेय राघव से होड लेती है।''[5] झूठा सच' के सभी पात्र चाहे वे पुरी, तारा,

1 उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 64
2 अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन, पृष्ठ 73
3 हिन्दी उपन्यास पहचान और परख—स० इन्द्र नाथ मदान, मे कुँवर नारायण का लेख पृष्ठ 224
4 वही, पृष्ठ 220
5 क्रातिकारी यशपाल—स० मधुरेश, मे डॉ० माहेश्वर का लेख

कनक, सूद, प्राणनाथ जैसे प्रमुख चरित्र हो, चाहे उर्मिला शीलो, बती, कचन, बधवामल की पत्नी बे जी, मास्टर राम भुलाया और रतन जैसे सामान्य पात्र हो सभी अपनी पहचान अलग बनाये हुए हे। जहॉ तक जयदेव पुरी की स्थिति है, 'यशपाल इस मामले मे शुरू से ही सतर्क है और पुरी का जैसा चरित्र निर्माण उन्हे अभीष्ट है, उसका सकेत शुरू से ही देते गए है और इस मामले मे उनसे शिकायत करना उचित नही है। पुरी की आदर्श चरित्र के रूप मे पेश करना उन्हे अभीष्ट न था। यही मानवीय दुर्बलता उस चरित्र की विशिष्टता है।'[1] दुर्बलताओ और तुच्छताओ से जूझते ये निम्नमध्यवर्गीय पात्र हमारे आस-पास हर कही देखे जा सकते है। 'परित्यक्ता बती का चरित्र सहज मानवीय विश्वास की गरिमा और निर्मम स्वार्थपरता की चरम क्षुद्रता के दो दूरस्थ छोरो को एक साथ स्पर्श करता है और अपनी प्रखरता से एक नया भाव लोक उद्घाटित कर जाता है।'[2] इसके चरित्र मे एक खरापन है, जेनुइननेस हे, जो दिल पर चोट करता है। 'अपनी मूढता मे भी वह हमे नगा कर जाती है। भारतीय बौद्धिको की जयदेव पुरी इसीलिए खलता है कि वह उन्हे नगा करता है।'[3]

यशपाल का 'झूठा सच' इतने विशद आकार की सर्वप्रथम कृति है, जो अपने विशाल पृष्ठ सख्या को पूरी सार्थकता प्रदान करती है। कथा शिल्प मे वे एक विशिष्ट किस्म की सीधी बुनावट का प्रयोग करते है, परन्तु कथा के अनगिनत सूत्र छोडते जाने और फिर उपयुक्त अवसर पर उसे समेटते-सहेजते रहने का उनके अन्दर परिष्कृत कौशल है। 'इस प्रकार एकदम कल्पना मिश्रित कथा को भी वे यथार्थ की एक ठोस प्रतीति देने मे सफल हो जाते है। हिन्दी में 'चन्द्रकान्ता सतति' के अलावा ऐसा चरित्र बहुल फिर भी इतना 'कील-काटा-दुरुस्त' कथानक और किसी उपन्यास का नही है।'[4] 'झूठा सच' के सवादो मे नाटकीयता और व्यग्य है, 'जो पाठक को बहस मे हिस्सा लेने को मजबूर करता है और एक बार पाठक जिस बहस का हिस्सा बना जाता है, उसमे उसे ऊब नही होती चाहे बहस जितनी लम्बी खिच जाए। ये सार्थक चुटीले और व्यग्य प्रधान सवाद ही कथा प्रवाह के अपेक्षाकृत शिथिल हो जाने पर भी रचना को

---

1 क्रातिकारी यशपाल—स० मधुरेश, मे डॉ० माहेश्वर का लेख
2 अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन
3 क्रातिकारी यशपाल—स० मधुरेश, पृष्ठ 140
4 क्रातिकारी यशपाल—स० मधुरेश, मे डॉ० माहेश्वर का लेख, पृष्ठ 138

बोझिल और लचर नही होने देते।'[1] कथा प्रसग मे रुचि रखने के लिए यशपाल यौन प्रसगो और प्रणय व्यापार मे पात्रो को लिप्त दिखाते है। भाषा के सम्बन्ध मे नेमिचन्द्र जैन ने इसे 'वर्णनात्मक, रगहीन, सपाट भाषा'[2] कहा है, जिसमे 'व्यजनात्मकता बहुत कम है और बिम्बमयता तो नही के बराबर है। जो चित्र या बिम्ब है भी वे निहायत फूहड, स्थूल और चालू प्रकार के है।'[3]

> 'कनक की अवस्था किसी मेले मे मालिक से बिछुड गये कुत्ते जैसी हो रही थी जो मालिक को ढूँढने के लिए सब ओर सूँघता और भटकता फिरता है।'' (पृष्ठ 167)
>
> ''कद-कण्ठ भी क्या है, जैसे लडाई के जमाने मे मसाला न मिलने पर बचे-खुचे से ही बना दिसा गया हो (पृष्ठ 291)

यशपाल की भाषा उनका सबसे कमजोर पक्ष है। प्रेमचन्द की तरह इनके पास न तो भाषा की मुहावरे दानी है और न ही अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता और न ही शब्दो, वाक्य खण्डो और अभिव्यक्ति कौशल का कोई अनूठा और नया प्रयोग ही मिलता है। 'मगर, अपने को सीधे, घातक और प्रभावी ढग मे व्यक्त करने वाली एक सहज और प्राय: उजड्ड सी भाषा है, जो सीधा मर्म तक पहुँचती हे। भाषा का यह ओज बनावटी या साधा हुआ नही है, स्वाभाविक और भावना का सहजता है। लेखक के भीतर कुरीतियो, सामाजिक विगर्हणाओ ओर छद्म के खिलाफ व्यक्त करने को इतना तीखा आक्रोश है कि एक शिथिल अनगढ भाषा को स्वत. स्फूर्त त्वरा प्रदान कर देता है। भीतर का यह आक्रोश ही कभी व्यंग्य बनता है, कभी विद्रूप, कभी स्वगत कथन, तो कभी सवाद, मगर हर स्थिति मे इसका प्रभाव गहरा और स्थायी होता है।'[4]

इन सभी विशिष्टताओ के बावजूद 'लेखक की सीमित जीवन दृष्टि और मध्यवर्गीय रुझान के कारण 'झूठा सच' न तो विभाजन के सच को पूरी तरह उजागार कर पाता है और न ही स्वातत्रयोत्तर परिवेश के वस्तु सत्य को उजागार कर पाता है।'[5] डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव प्रश्न करते है कि क्या कारण है कि

---

1 क्रान्तिकारी यशपाल— स० मधुरेश
2 अधूरे साक्षात्कार, 79
3 वही, 79
4 क्रातिकारी यशपाल—स० मधुरेश, मे डॉ० माहेश्वर का लेख, पृष्ठ 139
5 वही, पृष्ठ 141

यशपाल को 'झूठा सच' सज्ञा को प्रमाणित करने के लिए एकाधिक तर्क देने पडे है जिनमे से एक नैय्यर की दी हुई व्याख्या यह है, ''घटना तो झूठ-सच नही होती, झूठ-सच तो घटना को प्रकट करने के प्रयोजन मे होता है। मूल सत्य को प्रकट करने के लिए प्रयत्न करना या उसे जमाना भी आवश्यक होता है। सच को बल देने के लिए साक्षी आवश्यक होता है।'' इस व्याख्या मे ही आरोपित दृष्टि का उद्देश्यप्रेरित सरलीकरण निहित है। उपन्यास के समर्पण पृष्ठ पर ही यशपाल की इस धारणा, ''सच को कल्पना से रॅगकर उसी जन समुदाय को सौप रहा हूँ जो सदा झूठ से ठगा जाकर भी सच के लिए अपनी निष्ठा और उसकी ओर बढने का साहस नही करता।'' मे सन्देह की गुजाइश नही है, पर 'हम जो चाहते है उसे एक आदर्श परिणाम तक खीचकर घटित के मुहावरे मे ले जाना उन अन्तर्विरोधो को जन्म देता है जो रचना की निपट अनिवार्यता के विरुद्ध होते है। यही कारण है कि राजनीतिक विवेचन के आग्रह और मानवीय सवेदना की तटस्थ पहचान के बीच जो सन्तुलन 'झूठा सच' को अधिक निखार दे सकता था उसमे यहाँ साफ दरार दिखाई देती है।'[1]

---

1 उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 65

लाल पीली जमीन

बकौल परमानन्द श्रीवास्तव, ''आचलिक जीवन को क्षेत्रीय व्यक्तियो के दम्भ, स्वार्थ, वर्ग-जाति-सम्बन्ध, चरित्र किस तरह प्रभावित करते है और पूरे जीवन को किस प्रकार से खलनायकत्व की गिरफ्त मे ले आते है, यह देखने के लिए 'लाल पीली जमीन से सामना जरूरी है।'' इस उपन्यास की कथा मे विस्तार और तनाव दोनो है, फिर भी स्थितियो का झुकाव आक्रामक तनाव की ओर प्रत्यक्षत दिखाई देता है। इस अचल की सस्कार भूमि, जो काफी हद तम स्वातत्रयोत्तर भारत की सस्कार भूमि है, भद्रता के विरुद्ध भदेस, विद्रूप, क्षुद्र अमानवीय है। इसमे माटी की उर्वरा एव कुँवारी गध बह रही है। 'इस उपन्यास मे एक खास अचल के तौर-तरीको, रिव्युअलो, त्योहारो मे व्यक्त सास्कृतिक विरासतो तथा सामाजिक वर्तावो को चित्रित किया गया है। इनके अतर्विरोधो के मध्य एक सगति को तलाशा गया है। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियो के सभ्यतर होते निकास पैटर्नो को देखा गया है, और देखा गया है कि बुनियादी तौर पर भारतीय आदमी इतरो से कहाँ विशिष्ट है।[1] यह कृति समसामयिक युवा वर्ग मे व्याप्त हिसा और काम कुण्ठा के गहरे कारणो की पडताल करता है। इसके लिए लेखक ने एक छोटे शहर की छोटी बस्ती चुनी है और इसमे रहने वाले तमाम चरित्रो को उभारा है। 'यह बस्ती न पूरी तरह से ग्रामीण है, न पूरी तरह से शहरी और एक अजीब कस्बाई मनोवृत्ति का प्रतीक है जो सारे देश मे व्याप्त है। लेखक ने बडी सफाई से उन ताकतो की पहचान करायी है जो युवा वर्ग मे बढती हुई हिसा के कारण है। ये ताकते जातिवाद पर आधारित है और जो शहरो मे अपनी प्रतिष्ठा बनाने के लिए हिसात्मक शक्तियो को पालती है, जिनकी जरूरत अपनी राजनीति चलाने के लिए राजनेताओ को पडती है और जिसकी सुरक्षा पुलिस करती है।'[2] इसीलिए 'इस उपन्यास के परिवेश मे भयानक हिस्र शक्ति है और व्यक्ति उसके सामने अपनी समस्त जिजीविषा और जीवन के साथ असहाय है। सिवा टूटते हुए बिखर जाने और अदर-ही-अदर गलते-घुलते और सडते जाने

---

1 गोविन्द मिश्र सृजन के आयाम—स० डॉ० चन्द्रकात बादिबडेकर, मे डॉ० भगवानदास शर्मा का लेख, पृष्ठ 19
2 वही, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का लेख, पृष्ठ 87

के अन्य कोई विकल्प नही है।------लेकिन गोविन्द मिश्र ने व्यक्ति को—केशव को—विलक्षण तीव्र सवेदन क्षमता देकर और परिवेश की मार के बदले मे इस सवेदना की राख मे परिणत होने वाली चिन्गारियो का अजीब-सा विद्युत-आलोक पैदा किया है।'[1]

गोबिन्द मिश्र के उपन्यास की लाल-पीली जमीन न शहर की है, न गॉव की। दोनो से कुछ तत्त्व लिया गया है तो भयावहता। 'लेखक इस छोटे से शहर का भूगोल तो बता देता है लेकिन यह भौगोलिक पृष्ठभूमि यथावतता या पहचान के लिए इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी पृष्ठभूमि पर चलने वाली हिस्र, क्रूर, आतकपूर्ण, मानवीय यथार्थ के कलात्मक (फिर भी वास्तविक) नेपथ्य के रूप मे।'[2] निम्न मध्यम वर्गीय इन किशोरो के सामने कुछ भी नही है जिससे वे अपनी आशाएँ-आकाक्षाएँ जोड सके। अपनी नितात अर्थहीन जीवन व्यवस्था मे अपनी पहचान और स्वीकृति के लिए हिसा को छोड कोई दूसरा मार्ग उनके सामने नही है। 'हिसा ही उनका मनोरजन है, हिसा ही उन्हे आर्थिक सुरक्षा देती है। हिसा से ही उन्हे मामाजिक प्रतिष्ठा मिलती है। गरीब अशिक्षित बच्चे के लिए उसका शरीर और उसका दुस्साहस ही सब कुछ है—उसके कारण ही वह इस आपाधापी से भरे ससार मे किसी तरह खडे रहने की जगह बना पाता है।[3] इस परिवेश मे विद्यमान पर्वत, किला, बुर्ज, पेडहीन जमीन, काली बडी चट्टाने और उन्हे घेरने वाला कालापन, पीपल की सरसराहट, कालपन की छाया लिए मदिर और कुइयॉं, जगली तेदुए जिनको शिकारी भी नही मार पाये और जिनके भय से रात को मवेशियो को उनकी किश्मत पर छोडकर लोग सो जाते है, घर के किवाड पर सर्प-मैथुन और किकर्तव्यविमूढ होकर देखने वाले लोग, साडो की लडाई, तीतर की लडाई—यह सब शहर की स्थानीयता को विशेषीकृत करता हुआ भी उसी हिस्रता एव भयावहता की ओर उन्मुख करता है, जो उस परिवेश के लोगो की नसो मे दौड रहा है। यहॉ होली जैसा त्यौहार भी भाभी-देवर के मीठे परिहास के लिए या दुश्मनी भूलकर एक-दूसरे के गले लगाने के लिए नही था, बल्कि बेबसों को अधिक यातना देकर अपनी नपुसकता और क्रूरता की अभिव्यक्ति के लिए था। यहॉ ''लडको का दूध जहॉ छूटा कि वे बाहर नग-मडग घूमने के लिए छोड दिये जाते थे---यह फालतू उम्र थी क्योकि

---

1 वही, डॉ० चन्द्रकात बादिबडेकर का लेख
2 वही, पृष्ठ 94
3 वही सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का लेख

मॉ-बाप के लिए या किसी के लिए भी वे फालतू थे।''[1] ये बच्चे वही खेल खेल सकते थे जो अभावग्रस्त जीवन मे बिना किसी सामग्री के खेले जा सकते है—चिया, गुल्ली डडा, लुका-छिपी दड बैठक, कुश्ती इत्यादि। पशुओ की नार के पीछे गिरते गोबर के पकडने के खेल मे भी रस लेते है। छोटे और सुन्दर लडको को बडे लडके फॅसाते रहते है और इसमे अपनी शान समझते है। 'न बडो के पास शिक्षा और सस्कार देने की क्षमता है, न इच्छा ही, शिक्षा घसीटती चली जाती है। बच्चे भैसा-भैसी, बकरा-बकरी का व्यवहार देखकर बहुत सीखते है और समलिगी व्यवहार भी उनको सिखाता रहता है।'[2] इस 'लाल पीली जमीन' मे 'इस कमल के फूल को तोडकर ही रहना है'—प्रेम की भाषा है और 'कब फॅसोगी'—प्रेम निवेदन। गोविन्द मिश्र ने इस वर्णित तथ्य की क्रूर वास्तविकता को सशक्त चरित्रो द्वारा रुपायित किया है। लगोटधारी पडित साड की तरह शहर मे लडकियो को फॅसाने के लिए घूमते है। सुरेश, शिवमंगल, कल्लू, कैलाश की पूरी जमात इसी प्रकार के कार्य मे अपना सस्कार बना रहे है। तभी तो इस जमीन पर लडकियो को जवानी प्राप्त होने के पहले ही घर की चहारदीवारी मे कैद किया जाता है, क्योकि वहॉ इतने साड फिरते रहते थे कि आम आदमी अपनी लडकी तेरह-चोदह मे ही व्याह कर निबटा देने की मोचता था।' शाती जैसी स्त्रियो के इन सॉडो से बचने का उपाय था, 'तेजी से सुखा जाये। बुढापे की लकीर छू ली तो सब कुछ ठीक हो जायेगा।' 'यहॉ की औरत बडी सख्त होती है। उसकी छाती मर्द की छाती से भी मजबूत होती है,' कहने वाली शाति पडित के बलात्कार के बाद मानसिक यातना से मर जाती है।

पूरे उपन्यास मे ही विवशता, लाचारी, भय का दर्दनाक स्वर गूॅजता रहता है, जिसे केशव तटस्थ द्रष्टा की तरह भोग रहा है। उपन्यास का प्रारम्भ भी इस अत्याचारी, अमानवीय स्थिति से किया गया है, ''मै यहॉ हूॅ। मकान के किसी कोने मे अपनी जगह ढूॅढता हुआ। कुछ दिमाग मे ऐसा धॅस गया है कि पहचान ऐसे ही किसी कोने मे मुझे मिलेगी------इसलिए भागता रहा हूॅ अब तक। एक कोने से दूसरे कोने तक----मै बारी-बारी से हर कोने मे अपने को फिट करते देखता हुआ भटक रहा हूॅ-----अब तक।'' इसमे सन्देह नही कि इस खुरदरे, बेडौल, भयावह वातावरण के तनाव मे कोमलता का अहसास भी कही-कही उभरता दिखाई देता है—

---

1 'लाल पीली जमीन'
2 गोविन्द मिश्र सृजन के आयाम—स० चन्द्रकात बादिबडेकर, मे चन्द्रकान्त बादिबडेकर का लेख, पृष्ठ 96

1 ''उसने बैठकर बिट्टी का हाथ अपने हाथो मे लिया, जहॉ उसके पैर से कुचल गया था, वहॉ सहलाने लगा। हाथ बहुत मुलायम लगा, जैसे पत्ते को छूने मे लगता है।''[1]

2 ''उसने शुरू भी कर दिया था-------मन से बूढा-बूढा महसूस करना।------लेकिन आज उसकी ओढी हुई सख्ती के नीचे फिर वही कोमलता असहायता जाग पडी थी।''

3 ''उसे लगता था कि शैलजा अपनी साफ मुलायम उॅगलियो से उसके शरीर के खुरदुरेपन को एक चिकनाहट मे ढाल रही है।''

पर ये स्थल इतने अलग, अकेले और नगण्य है कि हिसा, यातना, भय की केन्द्रीय काल कथा से क्षणिक विषयातर जान पडते है। कैलाश ने जिस शैलजा के लिए एक कोमल सनसनी अनुभव की थी और शिवमगल से टकराया था और शिवमगल ने जिसकी कुठा से फक्कडपन की राजनीति अपना ली थी, वह कल्लू के साथ भाग गयी। मालती के विवाहोत्तर जीवन को उसके आत्मीय केशव ने ही 'बदबू का भडार' पाया।

कहना न होगा कि सबधो के व्यापक निष्करुण तनाव की इस कथा मे चरित्रो की सख्या कम नही है पर सख्या से ऊपर इस जमीन पर आदमी की यह पहचान है—आदमी वह धब्बा है जिसे जब तक जलाकर हाथ न झाड लिया जाये, वह मिटता नही। दूसरी ओर सॉडो और तीतर की भिडत के कौतूहलपूर्ण चित्र मे मानव-पशुता का व्यग्य बडी तीक्ष्णता से उभरता है, जिसमे चरित्र इकाइयों की पहचान धुॅधली पडती जाती है। शिवमगल, कल्लू, कैलाश, शिवराम, बोस, मास्टर कठी, शैलजा, बिट्टी, छबि, शन्नो मौसी, शाती जैसो की पूरी जमात की आकृतियॉ ही अत तक पहुचते-पहुॅचते गड्ड-मड्ड हो जाती है और 'सबके ऊपर टगा रहता है एक युग या वर्ग का हिसक स्वभाव जो गुणो को गुणो के लिए, सौन्दर्य को सौन्दर्य के लिए, अभाव को अभाव के लिए, व्यथा को व्यथा के लए लाछित करता है। कोमलता सिर उठाती है और कुचल दी जाती है, सबध मानवीयता का स्पर्श पाने के पहले ही नष्ट कर दिये जाते है।'[2] इस परिवेश कथा मे जो युग एव पीढी की कथा भी है, सब 'तगडे की ही तरफदारी' करते

---

1 वही, पृष्ठ 31।
2 उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 150।

है, "वह और जो इस वक्त लस्त-पस्त पडी थी, उसकी तरफ से बोलने वाला कोई न था।"[1] यह वाक्य पूरी सामाजिक सरचना पर टिप्पणी है।

कहना होगा कि 'लाल पीली जमीन' मे गोविन्द मिश्र के अनुभवो की दुनियाँ भी वृहत्तर आयाम लिए हुए तो है, काल और स्थान का अधिक ठोस जटिल और वस्तुपरक प्रत्यक्षीकरण अपने मे एक उपलब्धि है। बुन्देलखण्ड जैसे सीमित अचल के सपाट, खुरदुरे चरित्र-सबधो एव सरचना के बहाने यहाँ स्वतत्र भारत की समाज-सरचना ही अपनी भदेस, विद्रूप, तनावग्रस्त सकीर्णताओ सहित उजागर हुई है 'इस परिवेश-कथा मे प्रत्यक्ष है कि इस अमानवीकृत तत्र मे भय और हिसा, असहाय यातना और अविनीत क्षुद्रता आदमी की दिनचर्या का हिस्सा बन चुकी है। मानवीय अनुभवो का स्पर्श जिन स्थलो मे दिखाई देता है, वे अमानवीयकृत ढाँचे के अधीन अपनी निरीहता ही प्रकट करते है।'[2] बकौल प्रभाकर श्रोत्रिय "यह कस्बाई जीवन-वर्णन मे ही नही सवादो मे, सवादो की बेबाकी और स्वाभाविकता मे भी" उल्लेखनीय है।

स्वातत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास यात्रा मे भाषा की बुनावट के स्तर पर भी यह रेखाकित करने योग्य है क्योकि यहाँ उन्होने कथा भाषा के सर्जनात्मक गुण का विकास किया है। 'ऐन्द्रिय वस्तुगत मूर्तता को वे अधिक महत्त्व देते है, सामान्य अलकृति प्रवाह को कम।'[3] चित्रण की ओर गोविन्द मिश्र का झुकाव दिखाई देता है, जो उनकी भाषा की सर्जनात्मक क्षमता को समृद्ध करती है—"वह पहाडी ढलान बस्ती की तरफ दौडती हुई किले की जीभ थी, एक तरह से, वरना उस बस्ती के इर्द-गिर्द पहाड-ही-पहाड थे।"[4] सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की धारणा है, "भाषा बोलचाल की साफ-सुथरी ही नही, उसमे बोलियो के तमाम ग्रामीण शब्द जो अब खोते जा रहे हैं लेकिन जिनकी अर्थवत्ता का कोई जवाब नही है, बडे सार्थक ढग से पिरोये गये है।'[5] आचलिक शब्दो से स्थानीयता की गध रचने की दिशा मे भी वे सचेष्ट दिखाई देते है। 'आचलिक शब्द, मुहावरे, परम्परा स्थिति, जीवनक्रम सब है, मगर उसे उसी सीमा तक लेखक रखता

---

1 लाल पीली जमीन, पृष्ठ 53।
2 उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तय, पृष्ठ 151।
3 गोविन्द मिश्र . सृजन के आया मे प्रभाकर श्रोत्रिय का लेख, पृष्ठ 112।
4 उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 152।
5 गोविन्द मिश्र · सृजन के आया में प्रभाकर श्रोत्रिय का लेख, पृष्ठ 88

है जिसके बाद जाने पर कृति के ऑचलिक हो जाने का खतरा उसे महसूस कराता है।'[1] इस औपन्यासिक गद्य का एक उल्लेख्य गुण है—स्थितियो, व्यक्तियो—वस्तुओ के बीच की तनावग्रथित लयवत्ता। अनुगढता और रचाव के बीच, सपाटता और सूक्ष्मता के बीच गोविन्द मिश्र का गद्य ठेठ क्रियात्मक भाषिक सरचना का उदाहरण बन सका है जिसका एक अनिवार्य गुण प्रवाह नही, प्रवाह को बाधिक करने वाला आक्रामक अतराल भी है। गोविन्द मिश्र का वाक्य विन्यास व्याकरण की ममान्यता को विचलित भी करता है।'[2]

1 हिन्दी उपन्यास उत्तर शती की उपलब्धियाँ—डॉ० विवेकी राय, पृष्ठ 205
2 उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तय, पृष्ठ 152

तमस

'हिन्दी का सम्भवत: पहला उपन्यास है जिसमे लेखक कम-से-कम प्राय. नही के बराबर स्वय, कुछ कहता है। हिन्दी उपन्यासकारो मे विचार-बौछार का जो रोग है उसमे भीष्म साहनी ने बहुत धैर्यपूर्वक अपने को पृथक रखा है। आतक, भय, सनसनी, तनातनी, खिचाव, दहशत, विरोध, क्रोध, हलचल, हडकम्प, हिसा-प्रतिहिसा, बर्बरता, उपद्रव और लज्जास्पद अमानवीयता के बीच से लेखक उनका चित्र उपस्थिति कर चुपचाप खिसक जाता है और पाठको को आगे सरका देता है ताकि मनोरजक रूप से लेकर कथाओ के बीच से गुजर जाने की अपेक्षा वे गभीर उत्तरदायित्वो और प्रश्नो के बीच से गुजरे।'[1] देश के विभाजन के दौरान पजाब की सरहद पर हुए भयानक साम्प्रदायिक दगो की पृष्ठभूमि पर भीष्म साहनी का 'तमस' विभाजन की नियामक शक्तियो को बेपर्दा करता है। कुल पॉच दिनो के घटनाक्रम पर केन्द्रित यह उपन्यास अंग्रेजो द्वारा साम्प्रदायिकता को हथियार बनाकर 'फुट डालो और राज करो' की नीति के पर्दाफाश से लेकर राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ, हिन्दू महासभा एव मुस्लिम लीग की भूमिका को भी उजागर करता है। इस दौर मे काग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका को भी पूरी निर्ममता के साथ उद्घाटित करता है। 'विभाजन की घटना से अपेक्षाकृत अधिक अतराल के साथ लिखे जाने के कारण इस उपन्यास मे एक ठडापन और तटस्थता का भाव बना रहता है, जो इसे कुछ अधिक ही प्रामाणिकता प्रदान करता है।'[2] भारत भूषण अग्रवाल के अनुसार, 'उन्होने इस आवेशपूर्ण और उत्तेजक अध्याय को कालकारोचित तटस्थता से प्रस्तुत किया है, और यथार्थ का चित्रण करते समय यथासभव निष्पक्षता से काम लिया है। इसमे कोई सन्देह नही कि समय की दूरी ने उन्हें इसकी सुविधा प्रदान की है।'[3]

---

1 हिन्दी उपन्यास . उत्तरशती की उपलब्धियाँ—डॉ० विवेकी राय, पृष्ठ 170
2 हिन्दुस्तान, 14 अगस्त 1997 मे वीरेन्द्र यादव का लेख
3 आलोचना, अप्रैल-लून 1973, पृष्ठ 101

'तमस' के परिचय पत्र मे ही कहा गया है कि वह केवल पॉच दिनो की कहानी' है। ये पॉच दिन 1946 मे अतरिम सरकार की स्थापना से लेकर अगस्त 1947 मे देश मे विभाजन के बीच के वर्ष के पॉच दिन है। लेकिन 'इन पॉच ही दिनो की कथा मे जो प्रसग, जो सन्दर्भ और जो निष्कर्ष उभरते है, उनके कारण, यह पॉच दिनो की कथा 20वी सदी के भारत की अब तक के लगभग 80 वर्षो की कथा हो जाती है। 'अनुत्तेजित गम्भीरता, सन्तुलित भावमयता, प्रखर बौद्धिकता, निर्लिप्त जागरूकता, सहजता, सरलता और रोचकता जैसे गुणो से युक्त, भीष्म साहनी की कथा कहने की शैली, इस उपन्यास मे अपने चरमोत्कर्ष का परिचय देती हुई, आरोपण, बडबोलापन और उपदेशकथन आदि दूषणो से बचती हुई भारतीय जनता को कुछ निष्कर्ष पूर्ण मन· स्थितियो की ओर उत्प्रेरित करती है और अपने व्यजनात्मक आशयो के साथ आत्मालोचन के लिए तैयार करती है। यह औपन्यासिक शैली अपने पाठको को और अधिक जागरूक बनाती हुई 'जाति-प्रेम', 'धर्म', 'सस्कृति', 'परपरा', 'इतिहास' और राजनीति जैसी सकल्पनाओ की आड मे शिकार खेलने वाली प्रतिगामी शक्तियो के दु:साहस भरे जोखिमो को खुलासा पेश करती है।'[1] उपन्यास के प्रारम्भ मे ही डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड कहता है : 'आपको तो पण्डित नेहरु या डिफेस मिनिस्टर सरदार बलदेव सिह के पास जाना चाहिए था। सरकार की बागडोर तो उनके हाथ मे है।'[2] और उपन्यास के अत मे लेखक ने स्पष्ट लिखा है, 'मुस्लिम लीग के प्रधान के साथ बैठे हुए बख्शी जी सामने की ओर देखे जा रहे थे पर गहरी उदासी मे डूबे थे। 'चीले उडेगी, अभी और उडेगी,' उन्होने मन ही मन कहा।'[3] इस प्रकार भीष्म साहनी ने 'अपनी कथावस्तु को विभीषिका की भूमिका तक ही सीमित रखा है जिसमे साम्प्रदायिक तनाव के वातावरण मे एक छोटी-सी घटना से दगो, अग्निकाण्ड और रक्तपात का तॉता लग जाता है, और फिर प्रशासनिक शक्ति के प्रदर्शन के फलस्वरूप तात्कालिक शान्ति हो जाती है, भविष्य मे और भी भयकर रूप से फूटने के लिए।'[4]

'काल' के समान ही 'देश के स्तर पर भी कथावस्तु सीमित है। 'झूठा सच' से बिल्कुल भिन्न 'तमस' मे केवल एक नामहीन शहर और उसके अंचल मे बसे तीन-चार गॉवो की कहानी है। यह शहर

---

1 भीष्म साहनी व्यक्ति ओर रचना—स० प्रताप छाकुर, राजेश्वर सक्सेना, मे डॉ० राजकुमार सैनी का लेख
2 तमस, पृष्ठ 83
3 तमस, पृष्ठ 283
4 आलोचना, अप्रैल-जून 1973 मे भारत भूषण अग्रवाल का लेख

निश्चित ही पश्चिमी पजाब का शहर है क्योकि रिचर्ड अपनी पत्नी से कहता है, 'उस पहाड के पीछे करीब सत्रह मील की दूरी पर टेक्सिला के खण्डहर है।'[1] और आगे चलकर यह भी इगित करता है कि 'मुसलमानो का शहर है'[2] और 'यह शहर ही इस बेढब्बे से बना है कि हर मुहल्ले मे हिन्दू भी रहते है और मुसलमान भी रहते है।'[3] शहर के ही अचल मे बसे सैदपुर मे सिखो की बहुत बडी सगत है। यही नही, शहर मे आर्य समाज भी है, हिन्दू महासभा भी है, गुरुद्वारा प्रबन्ध कमेटी भी है, काग्रेस, मुस्लिम लीग एव कम्युनिस्ट सगठन भी है। इनके साथ कालू ईसाई और अमरीकी पादरी, अग्रेज डिप्टी कमिश्नर और उसकी टूरिस्ट पत्नी-प्रेमिका को जोड लेने पर देश की विविधता का पूरा प्रतिनिधित्व हो जाता है। इस प्रकार 'एक भूमि-खण्ड को एक काल-खण्ड की सीमा मे बॉधकर उपन्यासकार एक साम्प्रदायिक सघर्ष की स्थिति का अध्ययन करता है जो राजनीतिज्ञो के दाव-पेच और अध स्वार्थ का कारण बन जाता है और निर्दोष लोगो की तबाही का जो 'न हिन्दू है, न मुसलमान बल्कि सिर्फ इन्सान है और है भारतीय नागरिक।'[4] जो मारे जाते है, वे सभी धर्म-जाति के लोग है, उनमे नत्थू चमार भी है जिसके सूअर को मारने से उपन्यास और दगे की शुरुआत होती है, वह इत्रफरोश भी है जो आना-दो आना कमाने के लिए दगे के दिन भी अपनी फेरी पर निकलता है, सरदार हरनाम सिह भी है जो गॉव के बाहर बस के अड्डे पर चाय की दुकान चलाता था और कश्मीरी भी है जो फतहचन्द के टाल पर काम करता था, कोयला और लकडियॉ घर-घर पहुँचाने वाला'[5] 'दरअसल सवाल केवल धर्म और सप्रदाय का सीधा-सादा नही है। और भी उलझा हुआ है। कही स्वार्थो का है, कही इतिहास का है, कही मनोविज्ञान का है।'[6] लाला लक्ष्मी नारायण अपने बेटे और अपनी जवान बेटी की सुरक्षा के लिए तो चिंतित है लेकिन अपने हिन्दू नौकर ननकू की उन्हे कोई चिन्ता नही है। वह उसे शहर की जलती साप्रदायिक आग मे अकेले भेज देते है। शहनवाज की व्यूक मोटर उसी आग मे सारे शहर मे चलती रहती है। उपन्यास का एक मजदूर पात्र कहता है, ''आये आजादी, पर हमे क्या? हम पहले भी बोझा ढोते है, आजादी के बाद भी बोझा ढोयेगे।

---

1 तमस, पृष्ठ 38
2 तमस, पृष्ठ 130
3 तमस, पृष्ठ 69
4 आलोचना, अप्रैल-जून 1973, पृष्ठ 101 मे भारत भूषण अग्रवाल का लेख
5 तमस, पृष्ठ 152
6 हिन्दी उनप्यास 1950 के बाद—स० डॉ० नित्यानन्द तिवारी, डॉ० निर्मला जैन म डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का लेख, पृष्ठ 80

''[1] सैदपुर गॉव मे सिक्खे एव मुसलमानो के बीच की लडाई दो जातियो की ऐतिहासिक सघर्ष की श्रृखला की एक कडी है। 'तुर्को के जेहन मे भी यही था कि वे अपने पुराने दुश्मन सिखों पर हमला बोल रहे है और सिखो के जेहन मे भी वे दो सौ साल पहले के तुर्क थे जिनके साथ खालसा लोहा लिया करते थे। लडने वालो के पाव 20वी सदी मे थे, सिर मध्य युग मे।[2] इसमें कोई सन्देह नही कि लेखक ने साम्प्रदायिक दगो के राजनीतिक, सामाजिक एव मनोवैज्ञानिक कारणो का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। 'परिस्थितियो के दबाव मे सूखते जाने वाले स्नेह सूत्रो ओर टूटते जाने वाले मूल्यो एव आदर्शो के कारण उत्पन्न होने वाला दर्द भीष्म साहनी ने उत्कट रूप मे व्यक्त किया है।'[3] केवल वर्णन करना उसका लक्ष्य नही हे। वह उन कारणो मे जाना चाहता है जो साप की तरह कुडली मारे भीतर की गहराइयो मे छिपे हे ओर मोका लगते ही फुफकारने लगते है। साम्प्रदायिकता के इस तमस का कोई तर्क नही है। यह एक भीतरी अधेरा है, एक उन्माद है जो जितना ही भयानक है उतना ही अर्थहीन। बतो और हरनाम तथा सरदार इकबाल सिह, मिल्खी के प्रसग ऐसे मार्मिक और दिल दहला देने वाले हैं जो किसी भी सवेदनशील पाठक को भीतर से झकझोर देगे। सरदार इकबाल सिह को मुसलमानो का गिरोह इस शर्त पर छोड़ता है कि उनका दीन कबूल कर ले। उपन्यासकार लिखता है : ''शाम ढलते-ढलते इकबाल सिह के शरीर पर से सिखो की सब अलामते दूर कर दी गयी थी और मुसलमानो की सभी अलामते उतर आयी थी। पुरानी अलामते हटाकर नयी अलामते लाने की देर थी कि इनसान बदल गया था, अब वह दुश्मन नही था। दोस्त था, काफिर नही था मुसलमान था। मुसलमानो के सभी दरवाजे उसके लिए खुल गये थे।''[4]

उपन्यास का सबसे सबल पक्ष है सप्रदायो की मनोवृत्ति और सघर्ष के लिए उनके उन्माद और उनकी तैयारी का सूक्ष्म और बहुरगी चित्रण। यहॉ भीष्म साहनी का विवरण कौशल शिल्प के लिए अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करता है। लेखक सभी वर्गो और स्तर के लोगो की झलकियॉ प्रस्तुत करके एक व्यापक स्थिति की गम्भीरता को सम्प्रेषित करने मे सफल हो जाता है। 'इनमे से कोई भी वर्णन या कोई भी झलक असाधारण या अतिशयोक्तिपूर्ण नही है, पर कुल मिलाकर वे हमे उस दहशत से परिचित

---

1 तमस, पृष्ठ 108
2 हन्दी उनप्यास 1950 के बाद—स० डॉ० नित्यानन्द तिवारी, डॉ० निर्मला जैन मे डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का लेख, पृष्ठ 80
3 हिन्दी उपन्यास स्थिति और गति—चन्द्रकान्त बादिबडेकर, पृष्ठ 398
4 तमस, पृष्ठ 230

करा देते है जो साम्प्रदायिक सघर्ष के कारण नगर-जीवन में मॅडराने लग जाती है।'[1] मदिर मे साप्ताहिक सत्सग की समाप्ति पर वान प्रस्थीजी का भाषण जिसका अत इस आर्य समाजी लटके से होता है : ''फैलाये घोर पाप यहॉ मुसलमीन ने। नेअमत फलक ने छीन ली, दौलत जमीन ने।'[2] और फिर अन्तरग सभा की बैठक जहॉ सूचना दी जाती है कि ''जामा मस्जिद मे लाठियॉ, भाले और तरह-तरह का असला बहुत दिनो से इकट्ठा किया जा है।''[3] और एक बुजुर्ग का बार-बार आग्रह ''ओ भरावो, डिप्टी कमिश्नर से मिलो। पानी भी न पियो, डिप्टी कमिश्नर से मिलो।'' ऐसा ही अवस्मरणीय प्रसग रणवीर का दीक्षा प्रसग एव गुरुद्वारे मे जुटी सिक्ख सगत का है, जो साम्प्रदायिकता के गहराते तमस को बेनकाब करता है। इसका चरम बिन्दु तब आता है, जब सकट से बचने को कोई उपाय न देखकर गुरुद्वारे का पूरा नारी समाज 'कुरबानी' के लिए चल देता है · ''उसी वक्त गुरुद्वारे मे से उजले कपडो मे मलबूस स्त्रियो की एक डार-सी निकली। आगे-आगे जसबीर कौर थी, अधमुॅदी ऑखें, तमतमाता चेहरा। लगभग सभी औरतो ने अपने दुपट्टे सिर से उतारकर गले मे डाल लिये थे : सभी के पैर नगे थे।-------स्त्रियो का झुण्ड उस पक्के कुएॅ की ओर बढता जा रहा था, जो ढलान के नीचे दाएॅ हाथ बना था-----मत्रमुग्ध-सी सभी उस ओर बढती चली जा रही थी----सबसे पहले जसबीर कौर कुएॅ में कूद गयी।''[4] यहाँ एक कमी यह दिखाई देती है कि लेखक ने मुस्लिम सप्रदाय की प्रतिक्रिया और तैयारी का ऐसा प्रभावकारी कोई वर्णन नही किया है, फिर भी यथा प्रसग उसका छिटपुट चित्रण अवश्य हुआ है, जिसे जोडकर इन प्रसगो के समकक्ष बनाया जा सकता है। इसमे सन्देह नही कि परदे के पीछे काम करने वाली शक्तियो को परदे के पीछे ही रखकर पेश करने की उपन्यास कला लेखक के पास है। 'स्थितियों के जटिल और नाजुक होने के कारण भी लेखकीय तटस्थ चित्राकन वृत्ति की उपयोगिता है। चरित्र से अधिक परिवेश और स्थितियो के उभार पर बल है। घटनाओ के माध्यम से कथाकार उसे सकेतित और सवेदित करता चलता है। उपन्यास के चरित्र प्रधान न होकर परिवेश प्रधान होने का एक परिणाम यह होता है कि पाठक स्वय घटनाओ के बीच 'होने' से अधिक उन्हे सम्यक रूप से 'जानने' की आस्वाद मुद्रा मे अधिक होता है।'[5]

---

1 आलोचना, अप्रैल-जून 1973, पृष्ठ 101 मे भारत भूषण अग्रवाल का लेख पृष्ठ 105
2 तमस, पृष्ठ 65
3 तमस, पृष्ठ 66
4 तमस, पृष्ठ 238-239
5 हिन्दी उपन्यास उत्तरशती की उपलब्धियाँ—डॉ० विवेकी राय, पृष्ठ 171

शिल्प विधि की दृष्टि से देखे तो भीष्म साहनी का समूचा ध्यान यथार्थ पर है, यथा तथ्यता और प्रमाणिकता पर है। इसीलिए कोई एक कथा श्रृखलाबद्ध जारी नही रहती। 'वह अलग-अलग कोणो से उठती है और व्यापक निष्कर्षो को उससे सकेतित करना उद्दिष्ट होता है।'[1] इसी अर्थ मे वह किसी चरित्र की नही, गतिशील स्थितियो की कहानी होती है अैर उनके ही ऊपर नायकत्व जाता है। काग्रेसी, आर्य समाजी, राष्ट्रीय स्वय सेवको और मुस्लिम लीग यहाॅ समूहगत चरित्र के रूप मे उपस्थित है। नत्थू, रणवीर, मुबारक अली, रिचर्ड और लाला लक्ष्मी नारायण लाल चरित्र के रूप मे एक-एक स्थितियो के द्योतक है। डॉ० विवेकी राय के अनुसार, ''व्यक्ति को स्थितियो के रूप मे व्यग्य करने की विशेषता लेखक मे अद्‌भुत है। उपन्यास का सबसे बडा व्यग्य रिचर्ड है। पूरी स्थितियो के व्यापक अर्थ मे पूरा उपन्यास ही व्यग्य उपन्यास बन जाता है। 'रागदरबारी' का व्यग्य मुख्यत: शब्द व्यग्य है, अधिकाशत: पग-पग पर ऊपर से झकृत और अनुरजित करने वाला। 'तमस' का व्यग्य अर्थ व्यग्य है, स्थितियो को आत्मसात करने के बाद भीतर से झकझोरने वाला।''[2] उपन्यास के प्रभाव को सघन बनाने के लिए कथाकार ने कुछ प्रयोग किया है। महत्वपूर्ण घटना प्रसगो को वह थोक मे उपस्थित करता चला गया है। धर्म परिवर्तन, युद्ध, भगदड, प्रभातफेरी, दीक्षा, छुरेबाजी, सूअर हत्या और सगत आदि की घटनाएॅ ऐसी ही है।

तमस के वस्तुसगठन मे कुछ घटनात्मक बिखराव होते हुए भी बहुत विशिष्ट कसाव है। इस कसाव के दो सूत्र उभरकर सामने आते हैं—मुराद अली और रिचर्ड। मुराद अली जितनी ही विरलता के साथ उपन्यास की यात्रा मे उपस्थित है, उतनी ही सघनता के साथ प्रभावी होता है। वह मुख्यत: तीन बार सामने आता है—प्रारम्भ मे, बीच मे और अन्त मे रिलीफ कमेटी के साथ, परन्तु तीनो ही बार वह नये-नये चेहरे के साथ उपस्थित है। रिचर्ड सघन राजनीतिक स्वार्थ मे लिप्त एक प्रशासक का चेहरा है, जिसके ऊपर तमस का समस्त उत्तरदायित्व जाता है 'पर अन्त तक जिस परदे के बाहर भी काम करता होता है उससे या मोटे परदे के पीछे रखकर लेखक उसे उपस्थित करता है। वह लीजा से स्वीकार करता है, ''सिविल सर्विस हमे तटस्थ बना देती है। हम यदि हर घटना के प्रति भावुक होने लगे तो प्रशासन एक दिन भी न चल पायेगा।'' लीजा उससे कहती है, ''बहुत चालाक नहीं बनो, रिचर्ड। मैं सब जानती हूँ। देश के नाम

1 वही, पृष्ठ 171
2 वही, पृष्ठ 172

पर ये लोग तुम्हारे साथ लडते है और धर्म के नाम पर इन्हे तुम आपस मे लडाते हो।''[1] कहना होगा कि 'इस उपन्यास की ताकत देशव्यापी गृहदाह मे ईधन जुटाने वाली प्रतिगामी शक्तियो के आलम को बेनकाब कर देने वाली, उस व्यग्यात्मक शैली मे निहित है, जो भाषा की व्यजनात्मक शक्ति का भरपूर इस्तेमाल करती हुई फिरका परस्ती, कट्टर धर्मिता, धर्मान्धता आदि की मन स्थितियो के सामाजिक सन्दर्भो को पर्त-दर-पर्त उघाडती चलती है।'[2] इस उपन्यास के शिल्प को लेकर भारत भूषण अग्रवाल की धारणा है, ''नत्थू और हरनाम सिह के वर्णन मे लेखक नाटकीय उपन्यासो के-से शिल्प का सहारा लेकर, सम्प्रदायो के चित्रण मे आचलिक उपन्यासो का-सा शिल्प अपनाता है और रिचर्ड एव लीजा के चित्रण मे चरित्र प्रधान उपन्यासो का-सा। फलस्वरूप विविधता तो सिद्ध हो जाती हे, पर एक सूत्रता नष्ट हो जाती है।'' पर यही विविधतापूर्ण शिल्प कौशल इस उपन्यास की विशिष्टता है, जो हिन्दी उपन्यास यात्रा मे इसे रेखाकित करती है।

1 तमस, पृष्ठ 48
2 भीष्म साहनी व्यक्ति और रचना—स० प्रताप ठाकुर एव राजेश्वर सक्सेना मे राजकुमार सैनी का लेख, पृष्ठ 126

दीवार में एक खिड़की रहती थी

विनोद कुमार शुक्ल का 'दीवार मे एक खिडकी रहती थी' इसलिए महत्वपूर्ण है कि इसने न केवल हिन्दी उपन्यास साहित्य मे दाम्पत्य प्रेम की नीव डाली है, बल्कि दूसरी ओर कथा लेखन मे कविता और उपन्यास (गद्य) के बीच शताब्दियो से खडी भेद की नकली दीवार को ढहा दिया हे। 'विनोद पहले ऐसे कथाकार है, जो अपने उपन्यास मे 'पत्नी' को प्रेयसी का दर्जा देते है। पत्नी सोनसी का जितना रसमय और विस्मयकारी वृत्तान्त इस उपन्यास मे दर्ज है वह इतना परिचित किन्तु अपरिचित प्रेम का इलाका है जो इस शताब्दी के कथा-लेखन मे एक आदर्श लोक की तरह है। प्रकृति और स्त्री के सौन्दर्य को मिलाकर इस उपन्यास मे एक अनजान खिड़की खोली गयी है, जो हमारे कथा-क्षेत्र में शताब्दियों से बन्द थी।'[1] मधु बी. जोशी के शब्द हैं, ''यू भी हिन्दी कथा साहित्य मे प्रेम वही है जो परकीया के साथ किया जाता है। 70 के दशक मे धर्मयुग मे लम्बी चली परिचर्चा 'पत्नी घर मे प्रेयसी मन मे' अभी भी बहुतो को याद होगी। रीतिकालीन कवि कहते थे, 'जोग हुते कठिन सजोग पर नारी कौ। इस पृष्ठभूमि में 'दीवार मे एक खिडकी रहती थी' एक छोटे-मोटे चमत्कार से कम नही है।''[2] प्रभात रजन इसे 'हाशिये' का रूपक कहते है, विकास कथा मे छूटे हुओ का रूपक। उनके शब्द है, ''उपन्यास के पाठ मे उपस्थित कथा के आधार पर हम चाहे तो यह कहने के लिए भी स्वतत्र है कि उपन्यास 'सामान्यीकरण' के इस दौर मे 'विशेष' के रोजमर्रेपन की एक साधारण कथा है जिसे एक असाधारण भाषा मे गढा गया है। यह उपन्यास की एक बडी विशेषता मानी जायेगी कि इसमे अभिव्यजको की एक ऐसी श्रृखला रची गयी है जो पाठको को परस्पर विरोधी अर्थो के सञ्जाल का हिस्सा बना देती है।

उपन्यास की कथा के केन्द्र में हैं नायक रघुवर प्रसाद जो एक निजी महाविद्यालय में व्याख्याता हैं। कुल आठ सौ रुपये वेतन पाते हैं। उनकी कथा के वृत्त को पूरा करती है उनकी पत्नी सोनसी की कथा।

---

1 वर्तमान साहित्य, शताब्दी कथा विशेषाक 2000, पृष्ठ 224
2. हस, मार्च 99

हाथी और साधू, विभागाध्यक्ष आदि की कथाए भी आती है, लेकिन उपन्यास की दुनिया उनके अनुसार ही चलती है। 'इस उपन्यास मे कोई महान घटना, कोई विराट् सघर्ष, कोई युग सत्य, कोई उद्देश्य या सन्देश नही है।''[1] कथानक कस्बाई महाविद्यालय के गणित के व्याख्याता रघुवर प्रसाद और उनकी नव-विवाहिता सोनसी के आसपास बुना गया है। परिवेश निम्नमध्यवर्गीय है जहाँ पास-पडोस, परिवार, महाविद्यालय, उसके छात्र, कर्मचारी और रोजमर्रा के जीवन के ब्यौरे है' अपने पूरे विस्तार मे मौजूद है। यहा न नायक है और न खलनायक, बस जीवन और उसकी जीवनन्तता है। लोग और उनका जीवन, सादा और निरीह है, लेकिन चमत्कार की गुजाइश और प्रतीक्षा बनी रहती है। 'विनोद कुमार शुक्ल इस जीवन मे बहुत गहरे पैठकर दाम्पत्य, परिवार, आस-पड़ोस, काम करने कर जगह, स्नेहिल गैर सम्बन्धियो के साथ रिश्तो के जरिए एक इतनी अदम्य आस्था स्थापित करते है कि उसके आगे सारी अनुपस्थिति मानव-विरोधी ताकते कुरुप ही नही, खोखली लगने लगती हैं।'[2] 'पत्नी के आने से छाए उत्सवी वातावरण मे ही माँ, पिता, छोटे भाई की अस्वस्थता और उनके लिए खास कुछ न कर पाने की लाचारी का विवादी स्वर उभरता है, महँगाई का सदाबहार निम्न वित्तीय राग है, फिर भी जीवन मे आस्था है।'[3] लेकिन इस साधारण सी दिखने वाली दुनियाँ मे एक खिड़की भी है, प्राय. कथा उसके पार भी चली जाती है। 'उस पार की दुनियाँ मे स्वच्छ तालाब हैं, हरे पेड़ हैं। फुल-चुक्की चिड़िया है, लम्बी पूँछ वाली शाह बुलबुल है। उस दुनिया मे 'अल्पना की मछली जल में' तैरती दिखाई देती है। एक बूढ़ी अम्मा है, जो कभी चाय पिलाती है, तो कभी बताशे खिलाती है और कभी हँसते-हँसते सोनसी को सोने के कडे भी दे देती है।[4] लेकिन इस निष्कलुष दुनियाँ, में बिना रघुवर प्रसाद-सोनसी की इच्छा के किसी का प्रवेश सम्भव नहीं है। इस प्रकार यहाँ दो दुनियाँ सामानान्तर रूप में उपस्थित है। खिडकी के उस पार की दुनियाँ में स्वतन्त्रता की सत्ता है जहाँ प्रत्येक वस्तु की नामहीन उपस्थिति है, जिस पर सासारिक पहचानों का आवरण नहीं है। इस पार की दुनियाँ, जिसमे रघुवर प्रसाद-सोनसी के अतिरिक्त पूरा समाज है, में रघुवर प्रसाद सोचता है 'उसका वेतन अच्छा होता तो वह बताता कि एक पुत्र अपने पिता की किस प्रकार परवाह करता है।'

---

1 'दीवार मे एक खिडकी रहती थी' मे विष्णु खरे का अनुकथन
2 'दीवार मे एक खिडकी रहती थी' मे विष्णु खरे का अनुकथन
3 हस, मार्च 99 मे मधु बी जोशी का लेख
4 बहुवचन, एक मे प्रभात रजन का लेख

यहाॅ पिता की बन्द ऑखो मे 'बेटे की गृहस्थी की खटर-पटर' का सुख है, सोनसी है, माॅ है, स्कूटर वाले विभागाध्यक्ष है, टम्पो की भीड-भाड है, नीलकण्ठ देखने की अतृप्त इच्छा है और हाथी पर सवार साधु है। अर्थात् यह एक ऐसी दुनिया है जिसमे 'सामाजिक व्यवस्था की सत्ता' है। 'ये कथाए साधारण-सी दिखने वाली कथा मे असाधारणता पैदा कर देते है। उपन्यास मे 'जो है' की कथा बार-बार 'जो नही है' कथा की तरफ ले जाती है और उसे गहरे अर्थ सकेतो से भर देती है।'[1]

दरअसल खिडकी के आर और पार की दुनियाॅ एक-दूसरे की सहज पूरक है, दोनो ही कलुष और कल्मष से पूरी तरह मुक्त है। इन दुनियाओ से रघुवर और सोनसी है और उनसे ही यह दुनियाए। प्रभात रजन के शब्द हैं, ''कथा मे इन दो दुनियाओ के परस्पर विरोध की अन्तर्पाठीयता चलती रहती है। परस्पर विरोध इस अर्थ मे जिस अर्थ मे उपन्यासों को 'पैराडॉक्सिकल' कहा जाता है। वह पैराडॉक्स ही इस उपन्यास की एक रेखीय-सी दिखने वाली कथा को बहुअर्थीय बनाता है। यह पैराडॉक्स' बाहर की दुनिया और खिडकी के उस पार की दुनिया जिसकी 'सारी जगह रघुवर प्रसाद के मन की जगह थी। गोबर की लिपी पगडंडी मन की पगडडी थी। साफ सुथरा आकाश उडने के लिए मन का आकाश था,' के द्वन्द्व मे स्पष्ट होता है। अमरीकी उपन्यास ई एल डॉक्ट्रो ने उपन्यास को 'प्राइवेट आई' (I) कहा है, कुछ वैसा जो लिखा नही जाता। इस उपन्यास मे दो दुनियाओ का द्वन्द्व कुछ वैसा ही 'प्राइवेट आई'(I) और 'पब्लिक आई' के बीच द्वन्द्व है, बल्कि ऐसा लगता है जैसे प्राइवेट आई एक लम्बी कथा-यात्रा पर निकल गया हो जिसमे 'कितने दिन हो गए को कितने हो गए मे ही रहने देना चाहिए। दिन को गिनती मे नही समझना चाहिये। किसी को भी नही। गिनती चारदिवारी की तरह है, जिसमें सब मिट जाता है। अन्तहीन जैसा का भी गिनती मे अन्त हो जाता था।''[2]

उपन्यास की केन्द्रीय वस्तु दाम्पत्य है तो उसकी अनुसंगी एन्द्रिकता भी श्रृगार रस वाली ऐन्द्रिकता नहीं, 'दया, माया, ममता और अगाध विश्वास' पर टिकी ऐन्द्रिकता है, यहाँ पत्नी की ऑख के पानी मे गोता लगाकर सूर्य चन्द्रमा हो जाता है। 'केवल एक दिशा रघुवर प्रसाद के लिए आगे जाते हुए स्वयं सोनसी थी-----सोनसी के आगे निकलते ही उधर की धरती, पेड-पत्ता सोनसी के पीछे आ जाते।'

---

1 बहुवचन, एक प्रभात रजन का लेख, पृष्ठ 229
2 वही।

'दाम्पत्य-जीवन का ऐसा प्रेम और ऐसा विरह लेखक की जीवन मे आस्था का पाठ ही बनाता दिखायी देता है जो इस 'सिनिकल' बनाने वाले समय में जीवन को जी ने लायक जगह बनाने का सतोष देता है। यह एक ऐसी दुनिया है जिसकी सम्भावना अभी नष्ट नही हुई है।'[1] असल मे 'रघुवर प्रसाद एक वयस्क हो गया बच्चा ही है जिसके विस्मय और जिज्ञासाये अभी टटके हरे हैं।'[2] प्रभात रजन के अनुसार, ''यह उपन्यास स्वप्न और यथार्थ के बीच की असगति का पाठ नही दिखाई देता, बल्कि उनके बीच की सगति ढूँढने की एक कोशिश की तरह लिखा गया है।------यहाँ बने-बनाये साहित्य सिद्धान्त इस उपन्यास के 'पाठ' को किसी भी रूप मे नही पकड पाते, बल्कि हर प्रकार की शास्त्रीयता इस उपन्यास की कथा के सामने लाचार दिखाई देती है। इसी कारण खिडकी के बाहर की दुनिया अम्बर्टो इको के 'सिटी ऑफ रोबोट्स' के 'फैटेसीलैड' की 'डिजाइनर' दुनिया जैसी नही दिखती है, बल्कि वह मनुष्य की सम्पूर्णता की इच्छा का विस्तार ही दिखाई देती है।''[3]

उपन्यास मे कथा ही नही भाषा भी कई स्तरो पर उपस्थित है, भाषिक ससारो की अलग-अलग सरचनाएं है। रघुवर प्रसाद, सोनसी, विभागाध्यक्ष, बच्चे, साधू, हाथी, पिताजी सबकी अपनी-अपनी दुनियॉ है, जो किसी की दुनिया मे हस्तक्षेप नही करती—

1 ''समझ गया। पर सर। गाय एक समय पालतू नही रही होगी। वह भी जगली जानवर होगी। मनुष्य जगली था। भालू भी धीरे-धीरे पालतू हो जाता है।''

2 ''रघुवर प्रसाद रबड़ की चप्पल पहने छत्ता लेकर दरवाजे का पल्ला सावधानी से खोलकर बाहर निकले। दूसरा पल्ला खोलते तो अम्मा के सिर से टकराता। सोनसी ने दरवाजा उड़का दिया था। पानी के छीटे अन्दर आ रहे थे। बाहर बिजली के उजाले में गिरती हुई पानी की बूँदे जीवित बूँदे की तरह लग रही थी। पतगो की तरह बूँदे थी।''

3 ''मैं कहा हूँ?'' रघुवर प्रसाद ने कमरा झाँकते हुए सोनसी से पूछा, जैसे कमरे से पूछा।

''तुम मेरे पास हो' कमरा झॉकते हुए सोनसी ने कहा, जैसे कमरे ने कहा।

---

1 बहुवचन, एक, प्रभात रजन का लेख, पृष्ठ 231
2 हस, मार्च 99, मधु बी जोशी का लेख, पृष्ठ 87
3 बहुवचन, एक, प्रभात रजन का लेख

'ओ मै।' खाली कमरा देखते हुए सोनसी ने आश्चर्य से कहा 'तुम यहॉ मेरे पास हो।' रघुवर प्रसाद ने कहा, इसके बाद दोनो कमरे मे कूद गये।' "

4 "थक गए तो एक टिपरिया चाय की दुकान मे चाय पी।"

'थक गए तो एक खण्डहर जैसे पुरानी सराय मे केसरिया दूध पिया—पत्नी ने सुना।'

'अच्छी गरम चाय थी'

'गाढा गरम दूध था पत्नी ने सुना'

कहना होगा कि इन छोटे-छोटे भाषिक अनुभवो से उपन्यास की विविध कथाओ मे निजत्व ला दिया है। 'विनोद कुमार शुक्ल ने सचमुच मे एक ऐसी भाषा रची है, जो न सिर्फ नए ढग की है, बल्कि जिसने भाषिक प्रयोगो में इतनी नवीनता पैदा की है, अनुभव और अर्थ के नये क्षितिज अचानक ही इस तरह से उद्घाटित होते है कि लगता है अरे, इस बिल्कुल चिरिचित दुनिया को हम कितने नीरस ढग से जानते और जीते रहते है।'[1] यह एक विरल भाषा का उदाहरण प्रस्तुत करती है, जो विनोद कुमार शुक्ल के प्रयोगों मे जीवन्त हो उठी है। कही-कहीं तो वह कविता का आस्वाद देती है। वैसे तो पहले भी कई उपन्यासो को कवित्वपूर्ण या काव्यात्मक कहा गया है लेकिन 'दीवार मे एक खिडकी रहती थी' की काव्यात्मकता सिर्फ भाषा के स्तर पर नही है, बल्कि पूरे विजन के स्तर पर है। 'दीवार मे खिड़की रहती थी' की काव्यात्मकता चीजो, घटनाओ और सम्बन्धो को इस तरह अनुभव करने मे है जिसे आम तौर पर हमारा कथा साहित्य नही करा पाया। दरअसल भाषा सिर्फ अनुभव की अभिव्यक्ति भर नही, वह अनुभूति की प्रक्रिया को भी निर्धारित करती है।'[2] कहना होगा कि यह उपन्यास हमारे अनुभव करने के ढग को बदल देती है। हम अपने आस-पास के वातावरण को नये तरीके से, नयी सवेदना से देखने लगते हैं। उसमें वह देखने की, ढूँढ़ने की कोशिश करते है जो अब तक 'अनदेखा' था पर वहॉ मौजूद था। अमूर्तन के स्तर पर कविता यही रोल अदा करती है, इसी अर्थ मे यह उपन्यास काव्यात्मक है। पर काव्यात्मक होने के बावजूद यह गद्य का एक प्रतिमान प्रस्तुत करती है। 'इसका गद्य इतना ठोस, चुस्त और सुबोध है कि प्रेम जैसा अमूर्त विषय भी नितान्त मासल और आत्मीय लगता है।'

---

1 हस, मार्च 99 मे रवीन्द्र त्रिपाठी का लेख, पृष्ठ 89
2 हस, मार्च 99 मे रवीन्द्र त्रिपाठी का लेख, पृष्ठ 89

कुल मिलाकर 'दीवार मे एक खिडकी रहती थी' एक घरेलू प्रेमाख्यान है जो अपने मिजाज मे खाटी देसी यानी भारतीय है। नामवर जी के अनुसार यह उपन्यास, चले आ रहे एक रेखीय ढॉचे को तोडता है। टालस्टाय के उपन्यासो की भॉति छोटी-छोछी बाते, रोजमर्रा के व्यौरे यहॉ भी हैं। उनके शब्द है, "'दीवार मे एक खिडकी रहती है', एक उपभोक्ता समाज मे एक प्रति ससार की रचना करता है। इस यात्रिक जीवन के विरुद्ध एक मिठास, गरमाई का आभास खिड़की के बाहर कराता है।"[1] अन्त मे प्रभात रजन के शब्दो मे कहे, तो 'इस उपन्यास का ससार एक अभाव के जीवन की दुख की कथा नही है, बल्कि उसमे अभावो से भरे जीवन के छोटे-छुटे सुखो के बेजोड सस्मरण है जिसमें प्रेम और अपनेपन का सम्मिश्रण दिखाई देता है। उपन्यास 'आज की सुबह' के वर्णन से शुरू होता है और एक सबेरे समाप्त हो जाता है। इस बीच उपन्यास मे अनेक दिन-रातो के सपने है। भूले-भटके प्रसंग है। दाम्पत्य जीवन है और उसके तमाम प्रसग हैं—प्रेम और विरह के प्रसंग।'[2]

---

1 कथा क्रम, 98 मे नामवर सिह का व्याख्यान, हस मार्च 99
2. बहुवचन, एक पृष्ठ 231

मुझे चाँद चाहिए

सुरेन्द्र वर्मा हिन्दी रगमच एव नाट्य साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि ही नही है, वरन् इस औपन्यासिक उपलब्धि के बाद उन्हे सीधे प्रसाद, मोहन राकेश की उस परम्परा मे रखा जा सकता है, जिन्होने हिन्दी 'नाटक' एव 'उपन्यास' साहित्य दोनो को समान रूप से समृद्ध किया है।

'मुझे चॉद चाहिए' उपन्यास की अन्तर्वस्तु एक कलाकार का सघर्ष है। यह सघर्ष भी दो स्तरो पर चलता है—एक स्तर पर कलाकार का 'व्यक्ति' के रूप मे अपने परिवार, निजी सम्बन्धो, कला के बाजार और विपरीत सामाजिक परिस्थितियो से कठोर सघर्ष, दूसरे स्तर पर एक 'कलाकार' के रूप मे अपने माध्यम, कला-मूल्यो, कला-परिवेश तथा अपनी कलात्मक लालसा और निजी क्षमता के बीच सतुलन का विकट आत्म सघर्ष। इस दृष्टि से यह सघर्ष जितना वाह्य है, सामाजिक, उतना ही निजी और आभ्यान्तरिक भी। यह सघर्ष एक खतरनाक आत्मसघर्ष भी है। इस तरह यह उपन्यास सामाजिक सघर्ष से लहूहूहान कलाकार की सूली मे बिंधी हुई आत्मा का विलक्षण एव जीवन्त दस्तावेज है। इस मूल अन्तर्वस्तु की अभिव्यजना के लिए लेखक ने रगमच और सिनेमा के कला माध्यमो को चुना है। इस कजात्मक पृष्ठभूमि मे ही 'मुझे चॉद चाहिए' की विलक्षण किन्तु त्रासद प्रेम कहानी का धूप-छॉही ताना-बाना बुना गया है।

54, सुल्तानगज से राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से लेकर सिनेमा ससार तक फैली इस प्रेम कहानी मे कलाकार के संघर्ष को यो तो अनेक चरित्रों के माध्यम से व्यंजित किया गया है, लेकिन इस अन्तर्वस्तु की सबसे तीखी और बहुमुखी व्यजना जिन दो पात्रो के माध्यम से होती है वे है—उपन्यास की नायिका वर्षा वशिष्ठ उर्फ सिलबिल और नायक हर्षवर्धन। इनके अलावा घर-परिवार, सहयोगियो एव मित्र-मण्डली से लेकर दोनों कला माध्यमो और उनके व्यवसाय बाजार से जुडे अनेकानेक जीवन्त और दिलचस्प पात्र है, तो वही वर्षा के लिए दिव्या उसकी मार्गदर्शक और आत्मीय भावनात्मक सम्बल है, जिसने उसके अन्दर भरे ज्वार को मुक्त करने का सही रास्ता सुझाया था क्योकि ''अगर मिस

दिव्या कत्याल उसके जीवन मे न आती, तो वह या तो आत्म हत्या कर चुकी होती या रूँ-रूँ करते चार-पॉच बच्चो को सभालती, किसी क्लर्क की कर्कश, बोसीदी जीवन-सगिनी होती।''[1] यहॉ तक कि इन मानव प्राणियो के साथ ही तोता 'अनुष्टुप' भी अपने छन्दो से बडी रोचक और सटीक टिप्पणी करता है—

[''झिल्ली, सीताराम बोला''

''किशोर गायत्री-मन्त्र पढ लिया''

''सिलबिल धीरे बोलो''

''सिलबिल, तुलसी मे पानी नहीं दिया''?]

पर इस सन्दर्भ मे स्पष्ट है कि ''सिलबिल के साथ अनुष्टुप का सम्बन्ध वैसा ही था, जैसे बाघिन का हिरनी से होता है।''

उपन्यास का शीर्षक 'मुझे चॉद चाहिए' अल्बेयर कामू के नाटक 'कैलिगुला' से लिया गया है, जिसका नायक कालिगुला और उसके चरित्र को निभाने वाला हर्षवर्धन भी कहता है कि—

''हेलिकान, मै सिर्फ चॉद चाहता हूँ।''

चॉद की यह कामना अप्राप्य आकाक्षा का प्रतीक है। यह अनायास ही नही है कि सुरेन्द्र वर्मा ने उपन्यास के समर्पण पृष्ठ पर आरम्भ मे ही कालिगुला का यह सवाद उद्धृत किया है जो उनकी लेखकीय लालसा और उनके नायक हर्ष की त्रासद नियति को व्यजित करता है—

> ''अचानक मुझमे असम्भव के लिए आकाक्षा जागी। अपना यह ससार काफी असहनीय है, इसलिए मुझे चन्द्रमा, या खुशी चाहिए—कुछ ऐसा जो वस्तुतः पागलपन-सा जान पडे। मै असम्भव का सधान कर रहा हूँ . देखो, तर्क कहॉ ले जाता है—शक्ति अपनी सर्वोच्च सीमा तक, इच्छा शक्ति अपने अनन्त छोर तक। शक्ति तब तक सम्पूर्ण नही होती, जब तक अपनी काली नियति के साामने आत्म समर्पण न कर दिया जाये। नही, अब वापसी नहीं हो सकती। मुझे। आगे बढते ही जाना है . ''[2]

---

1 मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-13

2 मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-5

कहना न होगा कि वर्षा वशिष्ठ के ये शब्द जहाँ उसकी महत्वकांक्षा, उसके स्वप्न, उसकी जीवन दृष्टि को उभारता है, वही समकालीन सामाजिक विडम्बना की क्रूर तस्वीर को पूरी क्रूरता एव तीखेपन के साथ व्यक्त करता है। इसलिए पकज विष्ट के ये वाक्य पूर्वाग्रह से लदे हुए है—

> ''जहाँ तक वैभव-प्रेम का सवाल है वर्षा को जो है सो तो है ही, पर लेखक को यह वैभव-प्रेम इस हद तक पूरे उपन्यास मे छलछलाता है कि वितृष्णा से भर देता है।''[1]

वस्तुत: वर्षा वशिष्ठ के रूढिवादी निम्न मध्यवर्गीय परिवेश से उस आकाक्षा एव विडम्बना के तनाव मे ही 'मुझे चॉद चाहिए' खुलता है और विकसित होता है। उसके परिवार की सात पीढियो मे किसी ने वैसा नही किया जैसे वह करती हे। उसकी बडी बहन गायत्री की प्रशसा करते हुए परिवार और आस-पास के लोग उसे 'सुग्गा' या 'रामजी की गाय' कहते-समझते है तबकि उससे लोग सशकित और आतकित रहते है क्योकि अपने बारे मे निर्णय की छूट वह प्राय: अपने लिए ही सुरक्षित रखती है। प्रभा खेतान अपने लेख मे वर्षा वशिष्ठ के चरित्र को लेकर लिखती है—''मुझे चॉद चाहिए, की नायिका—वर्षा वशिष्ठ का सर्जक पुरुष है। उपन्यास मे गजब की कला चेतना है, एक सचेष्ट और सजग रूप से बुना गया ताना-बाना। रचना धर्मिता का ऐसा सतुलन जो मच के सफल निर्देशक की ओर इगित करता है। क्लाइमेक्स, ऐटिक्लाइमेक्स इतनी सयत, सुदृढ भाषा पुरुष की हो सकती है क्योकि विरासत मे उसे कालिदास मिले है, किन्तु जहाँ तक उपन्यास की नायिका वर्षा वशिष्ठ का सवाल है, तो ऐसा लगता है मानो लेखक एक प्रतिभा का निर्माण कर रहा हो मगर सारे प्रयासो के बावजूद वह वर्षा वशिष्ठ मे प्राण नही फूँक पाता। वर्षा वशिष्ठ होकर नही सोच पाता। वर्षा वशिष्ठ स्वय नही चल रही है, लेखक उसको महत्वाकाक्षाओ की पारम्परिक सीढियों पर चढा रहा है। यहाँ तक कि हॉलीवुड ले जाता है और उसके बाद वह बच्चे की माँ बनती है। क्या लेखक के मानस मे वही एक घिसा-पिटा मुहावरा काम नही कर रहा है कि तुम कुछ भी करो, कही भी जाओ कितनी भी ऊँचाई पर लेकिन पुरुष के बिना अधूरी हो, मातृत्व ही तुम्हारी वास्तविक सफलता है।[2] इतना ही नहीं वह लिखती है—''उस लिजलिजी पुरुष—परम्परा का प्रतीक वह

---

1 हस, जुलाई, 94 अक—पकज विष्ट—''तो मुझे चाँद चाहिए''

2 हस, जून, 1994 अक-दो नये उपन्यासो के बहाने नारी चेतना की पडताल-प्रभा खेतान

बच्चा है ।''[1] पर कहना न होगा कि प्रभा जी ने इन शब्दो मे उनके अध नारीवादी मानदण्डो की प्रतिध्वनि है, जिसकी पृष्ठभूमि मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' की नायिका 'मदा' है जो ''माँ नही बनी, उसके प्रारब्ध मे विवाह नही है।'' जिसकी पृष्ठभूमि गॉव देहात है। जबकि इन दोनो के कथा ससार एव परिस्थिति मे अन्तर है। मैत्रेयी की नायिका का प्रेमी कभी लौटकर उसके पास नही आता, जबकि वर्षा का प्रेमी 'हर्ष' उसके सारे सघर्ष मे, उसे पूरे चरित्र निर्माण मे, उसकी पूरी सोच मे उसके साथ है। हर्ष की 'अतरगता' और एक तरह से उसके पूरे परिवार की सहमति और प्यार पाकर उसे लगता है कि सारे सघर्ष और भटकाव के बावजूद एक राह मिल गयी है, जिस पर किसी का अवरोध उसे स्वीकार नही—

> ''मेरे शरीर मे ऐसी उन्मत्त बयार बन्दी थी, हर्ष ने अपने स्पर्श से ये झरोख खाले है, उसने सोचा।''

इस प्रकार मैत्रेयी की नायिका 'मदा' का प्रेमी जहॉ उसके जीवन मे एक रिक्तता भरता है वहॉ वर्षा की सशरीर उपस्थिति ने वर्षा को कलात्मक एवं भावात्मक दोनो दृष्टियों से समृद्ध किया—

> '' यह पुरुष मेरा अपना है, ससार मे मेरा निकटतम् यही है। मेरे स्त्रीत्व की सारी गहन अनुभूतियॉ इसी के साथ जुडी है। यह मेरे अधेरे क्षणो का साथी और सहारा रहा है ''[2]

पुरुष द्वारा सृजित होने के कारण वर्षा वशिष्ठ जैसी स्त्री को जो नारी—प्रभा खेतान—सही नही मानती, वह एक नारी—मन्नू भण्डारी—द्वारा रचित 'दो कलाकार' एव 'जीती बाजी की हार' जैसी कहानियो की नारियो को क्या सही मानेगी, जो शिक्षित, मार्डन होने के बावजूद मातृत्व के लिए तरस रही है। फिर क्या ये उषा प्रियवदा की 'रूकोगी नहीं राधिका' की राधिका को उतनी ही पिछडी हुई नही मानेगी, जो हरचन्द पुरुष की आकाक्षिणी बनी रहती है। वैसे 'मुझे चॉद चाहिए' की पुरुष निर्मित नारी—वर्षा वशिष्ठ की बावत एक पुरुष आलोचक पकज विष्ट की टिप्पणी भी यहॉ मौजू है—

> ''स्त्री के अंतरग का उद्घाटन इतने ग्राफिक ढग से किया गया है कि ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो यह उपन्यास किसी स्त्री ने लिखा हो।[3]

---

1 वही

2 मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ–119

3 समकालीन भारतीय साहित्य, अक–49 (विजय मोहन सिंह का लेख ''एक तलाशहीन मोहक यात्रा'')

सच तो यह है कि मातृत्व एव पत्नीत्व छोडकर स्त्री को प्रगतिशील बनाने की दृष्टि ही बेसिकली गलत है। यह ईहा तो स्वाभाविक है। बस जरूरत है पुरुष की भी स्वाभाविक ईहा-पितृत्व व पतित्व को केन्द्र मे लाया जाये, जो नजरअदाज होता रहा है, जिससे मातृत्व, पत्नीत्व आदि विचार नारी को बोझिल बनाते रहे है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि मातृत्व-पत्नीत्व का ग्लोरिफिकेशन करके नारी के भावात्मक शोषण को बन्द किया जाय। सुखद सत्य है कि वर्षा वशिष्ठ के साथ इन सन्दर्भो मे सुरेन्द्र वर्मा की सकल्पना इसी राह पर है।

स्त्री पर पडी पुरुष वर्जना मूलकता को खत्म करना भी जरूरी मुद्दा है, जो पूरी हिम्मत व साफ सोच-समझ के साथ वर्षा वशिष्ठ करती है। बचपन से लेकर अन्त तक स्त्री होने के कारण करणीय-अकरणीय के सभी पारस्परिक विधिनिषेधो को तोड़ने के सफल प्रयत्न इसके प्रमाण है। वर्षा का चरित्र एक नयी तरह की औरत का मॉडल है जिसे आधुनिक कहकर पारिभाषित नही किया जा सकता। वह मध्यवर्गीय पारम्परिक औरत से अलग है और साथ ही पारम्परिक भी। इस तरह उसमे 'विरुद्धो का सामंजस्य' है। मध्यवर्गीय औरत की पारम्परिक भूमिका को अस्वीकार कर वह आदमी जिन्दगी को अपनी तरह से जीने का निर्णय करती है—

"मेरा व्यक्तिगत जीवन मेरा सरोकार है।"[1]

महानगरीय आधुनिक स्त्री के रूप मे उसके व्यक्तित्व का रूपान्तरण होता है। दिल्ली मे हर्ष के साथ गणतन्त्र दिवस के दिन उसका पहला मौन सम्पर्क घटित होता है और यह समागम उसके भीतर न तो 'पापबोध' जगाता है न यौन-उच्छृखता की ओर प्रेरित करता है। यहॉ वर्षा उस पारम्परिक स्त्री से अलग हो जाती है जो यौन-शुचिता को ही अपना आदर्श मानती है और वह उस माड स्त्री से भी अलग है जो यौन-शुचिता के विरोध मे उन्मुक्त यौनाचार के सिद्धान्त मे जीने को विकल्प मानती है। पारम्परिक भारतीय स्त्री की अस्मिता पर सबसे गहरा आघात तब होता है जब हर्ष की मृत्यु के बाद वर्षा उसके बच्चे की अनब्याही मॉ बनती है। इस समय वह हिन्दी फिल्मो की नायिका के रूप मे अपने शिखर पर हैं और

---

1 मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-124

कैरियर की दृष्टि से उसका यह निर्णय उसके लिए घातक भी हो एकता है। लेकिन हर्ष के साथ अपने भावात्मक लगाव के कारण वह ऐसा निर्णय करती है—

> ''वह सिर्फ हर्ष की ही स्मृति नही, उसका अपना भी अश है। वह इन दोनो की साझी प्रतिबद्धता है। अपनी कला निष्ठा के बाद वह वर्षा का सबसे महत् मानवीय गठबन्धन है।''1

यहाँ एक ओर तो वह परम्परा को तोडती है तो दूसरी ओर हर्ष के प्रति अपने अति लगाव के कारण उसकी मृत्यु के बाद भी भावात्मक स्तर पर उसी के साथ बँधी रहती है। दूसरा चेहरा पारम्परिक भारतीय औरत के चेहरे का ही एक अश है। यही नही, प्रारम्भिक जीवन मे जिस पिता एव भाई से उसे प्रताडना मिलती है, उसके प्रति भी वह बेहद उदार हो जाती है और छोटे भाई और बहन के प्रति 'अपना दायित्व' निभाती है। यहाँ भी वह ठेठ पारम्परिक भारतीय औरत का प्रतिनिधि चरित्र है जो अपने कैरियर एव भविष्य को लेकर व्यावहारिक है और जिसकी भावात्मक जडे परिवार और परम्परा में विद्यमान है। वर्षा के चरित्र की दो सबसे बडी विशेषताएँ हैं—उसकी दृढता और संतुलित नमनीयता। उसका जन्म उत्तर प्रदेश के एक पिछड़े हुए कस्बे शाहजहाँपुर के ऐसे परिवार मे हुआ था जो ''पैसे की कलेजा निचोड़ सनातन कमी'' के बावजूद कट्टर रूढिवादी मूल्यो मे जकड़ा हुआ था। उपन्यास के प्रथम पैराग्राफ मे ही उसकी सम्भावित नियति और उससे उबरने का सकेत व्यजित है—

> ''अगर मिस दिव्या कत्याल उसके जीवन मे न आती, तो वह या तो आत्महत्या कर चुकी होती या रूँ-रूँ करते चार-पाँच बच्चों को सभालती किसी क्लर्क की कर्कश, बोसीदी जीवन-सगिनी होती।''

ऐसा नही है कि दिव्या के उसके जीवन मे आने से ही वह इस आशकित नियति से मुक्ति पा लेती है। उसे एक लम्बे समय तक, यहाँ तक कि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय और राजधानी के रंगमच पर असाधारण उपलब्धियो के बाद भी, लगातार प्रताडना, प्रतिबन्धों और मारपीट को झेलते हुए जीवन और कला मार्ग पर अपना चुना हुआ रास्ता बनाना पडता है। इन तमाम असहनीय यातनाओ के बीच वह एक बार

---

1 मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-553

आत्महत्या का असफल प्रयास भी करती है। निस्सदेह दिव्या उसकी मार्गदर्शक और आत्मीय भावनात्मक सम्बल है, जिसने उसके अन्दर भरे ज्वार को मुक्त करने का एक सही रास्ता सुझाया था—

> ''तुम्हे अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक माध्यम चाहिए। वह क्या होगा, यह मै अभी पक्के तौर पर नही कह सकती। पर एक बार रगमंच की कोशिश कर लेने मे कोई हर्ज नही है।''[1]

आत्माभिव्यक्ति का यह ज्वार, लक्ष्य भेद की एकाग्रता और चरित्र की दृढता के साथ अतिशय नमनीयता के नाजुक सतुलन साधने की असाधारण क्षमता यदि उसमे न होती वह शाहजहॉपुर से शाहजहॉनाबाद ओर चित्रनगरी बम्बई तक की विलक्षण उपलब्धियॉ हासिल न कर पाती। प्राय चुप रहने वाली वर्षा उर्फ सिलबिल मे बचपन से ही मौन आक्रोश और विद्रोह के जबर्दस्त तेवर थे। इसकी पहली अभिव्यक्ति तब हुई जब सिलबिल अपना नाम यशोदा शर्मा से बदलकर वर्षा वशिष्ठ रखती है। इसके बाद दिव्या के सानिध्य मे मिश्री लाल डिग्री कालेज, शाहजहॉपुर और लखनऊ के रगमच पर अभिनय से लेकर राजधानी के एन एस डी मे प्रवेश लेने तक उसने हर विपरीत पारिवारिक ओर सामाजिक परिस्थितियो का उत्कट दृढता के साथ मुकाबला किया। कला मार्ग पर अपने एकाग्र लक्ष्यभेद मे सलग्न सिलबिल के लिए 'मिट्ठू' के प्रति आकर्षण भी अवरोध नहीं बन पाता। यहॉ तक कि आगे चलकर हर्ष और सिद्धार्थ के साथ उसके प्रेम सम्बन्ध और उनके उतार-चढाव भी उसकी कला-साधना और अपने माध्यम को साधने के आत्मसघर्ष मे बाधा नही बन पाते। वह अपने निजी, पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धो के साथ-साथ कलात्मक मूल्यो के प्रति भी पूरी तरह ईमानदार और निष्ठावान बनी रहती है। अपनी साधारण नमनीयता और तार्किक सन्तुलन के फलस्वरूप वह प्रत्येक विपरीत परिस्थिति की अन्धी खाई में से उबरकर व्यक्तिगत सफलता और कलात्मक बुलदियो के चॉद छू लेती है।

इस उपन्यास की चरित्र सघटना मे दूसरा प्रमुख पात्र हर्ष है, जो अत्याधुनिक और सम्पन्न आई ए एस परिवार का लाडला इकलौता बेटा है, जिसका 'ईगो' भी उसकी बहन सुजाता के शब्दो मे 'किगसाइज' है। एम ए की शिक्षा अधूरी छोडकर तथा कई-कई भौतिक सम्भावनाओ को ठुकराकर सिर्फ अभिनय की खुशी पाना चाहता है—उसे सिर्फ अभिनय की कला का चॉद चाहिए। अथक प्रयत्नो के

---

1 मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-28

ाद अपनी मनचाही फिल्म 'मुक्ति' के शुभारम्भ के दिन सेट पर जाते हुए वर्षा से हाथ मिलाकर हर्ष कालिगुला' का सवाद बोलता है।

''होलिकान, मै सिर्फ चॉद चाहता हूँ''

और वह उसे नही मिला। मुक्ति बन नही पायी, जबकि अभिनय कला का तो वह स्वय चॉद था। फेल्म ''कम्पन'' की भूमिका के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार पा चुका था। उसके अभिनय को लेकर राष्ट्रीय ाट्य विद्यालय के निदेशक एव नाट्य-कलाओ के मास्टर डॉ अटल की टिप्पणी हे—

> ''हर्ष का रोल निभाने का थ्रस्ट मुझे ऑलिवियर की याद दिलाता है, उसके समृद्ध स्वर और डिस्कशन मे बर्टन की नफासत एव चमक है। ब्रेडो की तरह हर्ष का ग्राफ टेढा-मेढा नही जाता। उसकी शैली क्लिफ्ट की तरह प्रखर, जटिल तथा सूक्ष्म है। वह डिनीरो के समान अपने चरित्र मे बारीक नक्काशी करता है और डीन की तरह उसमे अपनी भूमिका से परे जाने की सामर्थ्य है। वह निस्सदेह आज के भारत का सर्वश्रेष्ठ अभिनेता है।''[1]

अब और क्या चाहिए—

> ''किसी भी दृष्टि से हर्ष को आकाश पर होना चाहिए था।''[2]

पर उसे आत्महत्या करनी पडी—

> ''वह चौपाल के धूलपरे फर्श पर सूखी विष्ठा के बीच पडा था।'' उसकी कलात्मक क्षमता और सफलता के बीच ''खलनायक की भूमिका निभाने वाले थे, उत्कृष्ट कलाशून्य और समझौता विरोधी कार्य शैली।''[3]

यह युगबोध भी कितना भयावह है कि आज कोई एक दो व्यक्ति खलनायक नही रहे। पूरा जमाना ही खलनायकत्व मे इस तरह शामिल है कि मूल्यवत्ता ही खलनायक बनने के लिए अभिशप्त है। इससे ज्यादा

---

1 मुझे चॉद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-541

2 मुझे चॉद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-546

3 मुझे चॉद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-524

त्रासद और क्या हो सकता है। सुरेन्द्र वर्मा ने हर्ष के चरित्र विन्यास के माध्यम से इस रूप मे आज के युग का सबसे ज्वलन्त एव संवेदनशील प्रश्न उठाया है और इसे यथार्थ की अधिकतम सम्भावनाओ के मध्य पूरी सतर्कता के साथ प्रस्तुत किया है। दिव्या ने यदि उसमे रगमच के प्रति सस्कार का निर्माण किया तो डॉ अटल का चरित्र जो कला एव रगमच के प्रति समर्पित एक ईमानदार, सचेष्ट, जागरूक अध्यापक की विशिष्टताओ से आप्लावित है, वर्षा के रगमचीय अनुभो को गम्भीरता एव सहजता मे गुम्फित करके अभिनव तराश दिया। वर्षा ने उनके सिद्धान्तो एव मूल्यो को अपनी जीवन साधना एव कला साधना मे पूरी तरह आत्मसात कर लिया था।

फिल्म दुनिया से जुडे हुए अनेकानेक चरित्र भी मीरा, नारग, श्रीमती कुलकर्णी, हुसैन भाई, नीरजा, कचन प्रभा आदि वर्षा के चरित्र को नया पार्श्व एव जीवन्त बनाने मे सहायक है, तो 'झुमकी' उसके लिए एक मानसिक-शारीरिक एव भावात्मक साथी है।

अन्त मे चरित्र विन्यास पर पडताल समाप्त करने के पूर्व 'दिव्या कत्याल' के चरित्र को भी समझ लेना प्रासगिक है, क्योकि उसके चरित्र की उपस्थिति भी इस पूरे उपन्यास के कलेवर को बहुत गहरे अर्थो में एव दूर तक प्रभावित तो करती ही है, नायिका वर्षा के चारित्रिक निर्माण की प्राथमिक पाठशाला रही है। वह उसके लिए 'इमोशनल एंकर', 'फ्रेण्ड', 'फिलॉसफर और गाइड' सभी रही है जिसने उसके अन्दर भरे ज्वार को मुक्त करने का सही रास्ता सुझाया था। दिव्या कत्याल से उसका सम्पर्क धीरे-धीरे उसके जीवन की दिशा ही नही बदलता एक असम्भव की आशंका भी उसमे रोप देता है।

इस प्रकार वर्षा का चरित्र-विकास लगातार एक आरोही क्रम मे एक से एक बड़ी सफलता की ओर बढता है जो कभी लेखकीय पक्षधरता भी लगती है जबकि हर्ष के चरित्र में उतार-चढाव अधिक है। वर्ग-चरित्र हर्ष और वर्षा दोनो मे समानान्तर रेखाओ की तरह बढता है।

वर्षा के साथ-साथ लगभग समान पृष्ठभूमि के चतुर्भुज मे भी ये खूबियॉ हैं। चतुर्भुज एक नौटंकी मे शुरुआत करने वाले चरित्र की जिजीविषा है। चतुर्भुज की ठेठ कर्मठता पहले उसे एन एस डी मे स्थापित करती है और फिर रिपर्टरी मे और आगे चलकर वर्षा की जरा सी मदद से बम्बई मे एक स्तर पर वर्षा का पुरुष प्रतिरूप है और इसी कोण से भारतीय समाज मे पुरुष और स्त्री की सामाजिक स्थिति की तुलना की जा सकती है। चतुर्भुज ने सुशीला से शादी की जब नौटकी मे था। महानगर के जीवन मे कला

के बीच और बहुत कुछ उसी के माध्यम से अपना भावात्मक आधार खोजने की कोशिश करता है। पहले अनुपमा फिर रम्भा जैसे अनुभवो से गुजरकर वह अश्क के 'शहर मे घूमता आईना' के 'चेतन' की तरह फिर अपनी पत्नी सुशीला की ओर लौटता है। चतुर्भुज के अतिरिक्त राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय एव रिर्पटरी से जुडे अन्य चरित्र विन्यास मे रीटा, अनुपमा, कल्याणी, वर्तिका देसाई, ममता लहरिया आदि कहीं न कही से वर्षा के चरित्र निर्माण मे ही योगदान कर रहे है।

कहना न होगा कि 'मुझे चॉद चाहिए' हिन्दी के परम्परागत उपन्यासो से एकदम अलग है। अन्तर्वस्तु के स्तर पर यह विशिष्ट एव मौलिक उद्भावन क्षमता वाला उपन्यास तो है ही, शिल्प एव रूप के स्तर पर भी यह एक विशिप्ट कलाकृति है। चित्राकन मे लेखक की अद्भुत क्षमता के साथ ही इस उपन्यास की सबसे बडी विशिष्टता है उसके शिल्प का नयापन, भाषा की विलक्षण चमक और शैली की मौलिकता। इस उपन्यास के रूप व शिल्प के सन्दर्भ मे सर्वप्रथम बिन्दु इसका शीर्पक है—'मुझे चॉद चाहिए'। इस उपन्यास के कलेवर मे सुरेन्द्र वर्मा ने 'चॉद' के इतने बहुआयामी एव व्यजनापूर्ण प्रयोग ऐसी खूबसूरती से किये है कि कृति के सभी अग-उपादन एव दृष्टि व कोण इसकी चॉदनी की छटा से आलोकित हो उठे है। यह प्रयोग अपनी प्रतीकात्मकता मे कलात्मक तो है ही, गहन वैचारिकता से सवलित भी है। उपन्यास खुलते ही प्रथम पृष्ठ पर कालिगुला के उद्धरण पर नजर पडती है—

> ''अचानक मुझमे असम्भव की आकाक्षा जगी। अपना यह ससार काफी असहनीय है, इसलिए मुझे चन्द्रमा या खुशी चाहिए— कुछ ऐसा, जो वस्तुत: पागलपन-सा जान पडे ।''

और नायिका वर्षा वशिष्ठ का बचपन से ही प्राय: सब कुछ करना उसके पूरे परिवार को पागलपन ही लगता रहा—चाहे दसवी मे पढते हुए यशोदा शर्मा से वर्षा वशिष्ठ का नाम परिवर्तन हो, चाहे घर के कार्य के साथ ट्यूशन-नौकरी करने वाली शर्मा परिवार की सात पीढियो मे वह पहली लडकी हो अथवा शादी-व्याह करके घर बसाने के बदले नाटक करने का दीवानापन हो। इसी तरह आगे फिल्मो की सफल तारिका बन जाने के बाद बगले के बदले फ्लैट मे रहना, छोटे बजट की सार्थक फिल्मो तथा नाटको मे समय गॅवाना भी सबके बीच पागलपन ही समझा गया और सबसे बडा पागलपन तो माना गया—प्रेमी हर्प के मर जाने के बाद अपने गर्भ मे पलते उसके बच्चे की बिन ब्याही मॉ बनने का निर्णय।

अब सवाल उठता है कि जिस चॉद की बात लेखक अपनी नायिका के सन्दर्भ मे करता है वह चॉद वस्तुत है क्या? बम्बई मे व्यावसायिक सिनेमा की गोरी और गरिमामय नायिका वर्षा को कुछ इस भाव से देखती है जैसे कह रही हो—

''यह शक्ल लेकर स्टार बनना चाहती है।''

और तब उसकी कल्पित उपेक्षा का मन ही मन उत्तर देते हुए वर्षा कहती है—

''आप तो जानती है आकाक्षाओ के पीछे अक्सर कोई लॉजिक नही होती ।''[1]

और दूसरो की तरह वर्षा की आकाक्षाएँ ही उसका अपना चॉद है, जिसके दो पार्श्व है—अभिनय-प्रेम और हर्ष-प्रेम। ये दोनो वे खुशियॉ या चॉद हैं, जिसके बिना कालिगुला की तरह उसके लिए 'दुनिया काफी असहनीय' होती वह पूरे उपन्यास मे इन्हीं दोनो पार्श्वो के लिए जीती हुई नजर है। हर्ष की मृत्यु पर ''मेरे वास्ते चन्द्रमा हमेशा के लिए बुझ गया ''[2] के रूप मे प्रतीक सकेत काफी बेवाक व स्पष्ट है, पर अभिनय-प्रेम के लिए चॉद का प्रयोग भी पूरी मनोहरता के साथ स्पष्ट हुए बिना नही रहते—पहली फिल्म 'जलती जमीन' के शुरू होने पर ''चॉद निकल आया था। दूर-दूर तक दिखाई देते बालू के ढूहो पर चॉदनी फैली थी।''[3] तथा शूटिग पूरी हो जाने के बाद ''बगल मे खेजरे के पेड थे। ऊपर गोलाकार चॉद। ''[4] ये दोनो ही यूँ देखा जाय तो असम्भव आकाक्षाएँ नही है, पर हर्ष को पाकर भी न पा सकने की परिणति अपनी औपन्यासिकता मे असम्भव का एहसास दिला जाती है, जो एक त्रासदी का निर्माण कर कसक बनकर चुभाती रहती है। इसी के साथ उसकी अपनी कला-निष्ठा, अभिनय-प्रेम जुडी हैं। कला-फिल्मो के लिए अतिरेकपूर्ण और जुनून की हद तक पहुॅचे हुए हर्ष के समर्पण का हस्र वह देखती रही है। वास्तव में, यही उपन्यास का केन्द्रीय विषय है और बहुत स्पष्ट है कि अभिनय के इस चॉद को कलाकारो के कोण से देखा गया है—प्रमुखत: प्रशिक्षित कलाकारों के कोण से। इसके लिए 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' पर पूरे दो सौ पृष्ठ रखकर कलाकारो की प्रशिक्षण मे उनकी अथक मेहनत, समर्पण, लगन व

---

1 मुझे चॉद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-346

2 मुझे चॉद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-547

3 मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-301

4 मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-304

मुस्तैदी से मिली-जुली सशक्त और उससे आती कला क्षमता का ऐसा सजीव चित्र उपस्थित किया गया है कि वह ''राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' का एक प्रवृत्तिगत दस्तावेज तो बना ही है, पूरी रचना मे विश्लेपित अभिनय कला की व्याख्या से यह उपन्यास, बकौल श्री रवीन्द्र त्रिपाठी,

''रगमच के प्रशिक्षण के लिए एक जरूरी पाठ्य पुस्तक की तरह पढा जा सका है''[1]

रचना के इस चुनाव व तदुपयुक्त निर्वाह को समझ लेने के बाद ''कला के सामाजिक पहलू के न छूने'', ''रगमंच का समाज से रिश्ता'' न बताने तथा ''रगमच को दर्शक न मिलने के कारणो मे न जाने'' जैसे पकज विष्ट के प्रश्न-कृति मे उठाये गये प्रश्नो को नजरअदाज करके उस पर अपनी मॉगो के थोपने के कारण अवान्तर बन जाते है। वैसे कलाकार के जीवन से जुडी लगभग सभी सम्भ्व स्थितियो—समस्याओ का यथार्थ अकन इसमे हुआ है, जो कलाकार के सामाजिक पहलू के रूप मे ''कला का सामाजिक पहलू'' है। इसे उन सभी पात्रो के माध्यम से समझा जा सकता है, जिन्हे लेखक ने ''अनुभव के सधानी'' कहा है। इन सभी की कलात्मक अनुरक्ति शकाओ-विवादो से परे है। फिर भी ''कलात्मक रगमच के अग्रदूत अपने बूते पर दिल्ली मे सिर्फ सर छिपाने का ठिया ही पा जाये, तो बहुत हैं।'' 'अधेर नगरी' के सेट पर लटका 'जुत्थी' का शव इन कलाकारो की ऐसी नियति के जिन जलते सवालो की ओर उँगली उठाता है वे नितान्त सामाजिक ही है। इसी के बरक्स अपने अन्दर के कलाकार की निर्मम हत्या करके व्यावहारिकता के नाम पर व्यावसायिक होने की सासारिक परिणतियो को झेलते रगजगत, स्नेह, मच, कला के दीवाने चतुर्भुज तथा इन्ही जैसे नीलकान्त-चिन्तामणि आदि अनेक कलाकार भी आज के दौर मे कला के सामाजिक अभिशाप की दर्दनाक दास्तान ही कहते नजर आते हैं। ऐसे मे हर्ष के टूट जाने के हद तक की अक्खडता तथा इन कलाकारो की स्वय को मारकर पैदा की गयी नमनीयता के बीच वर्षो वशिष्ठ आज के दौर की एक आदर्श स्थिति की हामी भरती खडी है। वह धैर्य व सहनशीलता के साथ व्यावसायिक समझौते करके स्टार बनने की सफलता पा लेती है। इसके लिए वर्षा ने सतत् सघर्ष किया है जिसकी सही नोटिस परमानन्द श्रीवास्तव जैसे समीक्षको ने ली है लेकिन श्री विजय मोहन सिह का मानना है कि—

''जहॉ तक सघर्ष का प्रश्न है, वर्षा के सन्दर्भ मे वह है ही नही। कुल मिलाकर पूरे उपन्यास मे वह ''लालकालीन-कन्या'' बनी रहती है। जैसे ही कोई समस्या आती है,

1 हस, जुलाई, 1994

कोई उद्धारकर्ता तुरन्त अवतरित हो जाता है।   खुल जा सिमसिम घटित हो जाता है।''[1]

यह सही है कि उसे हर समस्या का हल मिल जाता है, पर उपन्यास के पूरे कलेवर मे घुसने के बाद उसे 'खुल जा सिमसिम'' नही कहा जा सकता। इसीलिए बडे भटकाव नही आये हैं, लेकिन रूकावटे ओर निराशाएँ बहुत दूर तक हर मोड पर उसकी रहबर बनी रही। किन्तु एक बार अभिनय की समझ और लय पा जाने के बाद निरन्तर कठिन परिश्रम, दृढ निश्चय एव भरपूर लगन-समर्पण के भरोसे से वह कला-साधना के एक-एक किले पर अपनी सफलता का झण्डा लहराती चली गयी। फिल्मो मे ब्रेक उसे इसी बल पर मिला और पर्याप्त व्यवहार कुशलता से वह हर मजिल पार करती हुई हॉलीवुड तक पहुँच गयी। वहॉ के सरनाम उस्तादो आदि को लेकर अपनी समझ व कला का लोहा बनवा सकी। फिल्मो मे अपेक्षाकृत आसानी से मिली कामयाबी के लिए न ही वर्षा पत्र-पत्रिकाओ की प्रचारात्मकता के दन्द-फन्द का सहारा लेती है और न ही किसी की हम विस्तर होती है तथा न ही फूहड अग प्रदर्शन करती, जबकि यह सब आज की फिल्म दुनियॉ का समाजशास्त्र हो गया है। लेकिन पूर्ण सत्य यही है)ऐसा नही कहा जा सकता। वह कहती भी है,

''आइ हैब नथिग टू रिवील एक्सेप्ट माई टैलेट   ''[2]

वह मानती है कि ''दि मिस फिट्स'', ''आई रिमेम्बर'' और ''पर्सोना'' जेसी फिल्मो मे प्रेम-दृश्य करते समय वह मितभाषी और मितभूषी दोनो हो सकती है, लेकिन बम्बइया सिनेमा की भडैती के लिए नही।

पर वह जानती है कि उसके अभिनय का चॉद यह नहीं है। इसके लिए वह स्टार का ग्लैमर पाने के बाद भी थियेटर करती है। नसीरूद्दीन शाह, श्रीराम लागू जैसे कलाकार इसी नक्शेकदम पर चल रहे हैं या इन्ही के नक्शेकदम को देखते हुए सुरेन्द्र वर्मा वर्षा वशिष्ठ की राह बना सके। इसे इस रूप में न देख पाने के कारण ही श्री विजय मोहन सिह कह देते हैं—

''उपन्यास मे यात्रा तो है, तलाश नही है। उसकी परिणति या तो स्थूल सफलता के शिखर पर होती है या कुत्ते की मौत के रूप मे।''

---

1 समकालीन भारतीय साहित्य, मार्च, 1995 ''एक लतायाहीन मोहक यात्रा'' विजय मोहन सिह

2. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-317

यहाॅ सकेत वर्षा और हर्ष की तरफ है, पर यह निष्कर्ष बहुत सरलीकृत है। असल मे, यहाॅ यथार्थ की तीन परिपाटियाॅ है, जो उपन्यास-यात्रा मे जीवन की तलाश के तीन आयाम है और तीनो को मिलाकर ही समकालीन जीवन वास्तव का विवेच्य वृत्त पूरा होता है। वर्षा की सफलता स्थूल नही है। यह निर्मम यथार्थ के करूण स्वीकृति से सत्य का सरवाइवल है। हर्ष का कुत्ते की मोत मरना सत्य के लिए घिनोना यथार्थ के अस्वीकार की जानदेवा स्थिति के व्यग्यात्मक निदर्शन की दारूण अभिव्यक्ति है—अस्तित्ववादी मुहावरो के साथ। शेष कलाकारो मे प्राय: सत्य से छुपाकर यथार्थ के आगे घुटने टेक देने की नियति उजागर हुई है। इसी त्वरा मे व्यावसायिक हमलो के बीच कला मूल्यो की अवहेलना से डॉ अटल का ''राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय'' छोडना भी यथार्थ की मूल्यहीनता को ठुकराकर सीमित दायरे मे अपने कलागत सत्यो को निभाते हुए सन्तुष्ट रहने का रास्ता अख्तियार करने के रूप मे गौरतलब है।

लेकिन काबिलियत के बावजूद सम्भव आकांक्षाओं का असम्भव बनते जाना ही आज की त्रासद नियति है और जमाने के पतनोन्मुख मूल्यो की इस कहानी को पूरी शिद्दत और ईमानदारी के साथ एहसास कराता है प्रस्तुत उपन्यास, और इस तरफ बहुतेरी समीक्षाओ के बावजूद अब तक किसी का ध्यान नही गया। इसका कारण यह है कि वर्षा वशिष्ठ के अलावा इस उपन्यास पर सोचा ही नही गया, जबकि मूल्य चेतना की इस दृष्टि के केन्द्र मे है हर्ष। अत इसे समझने के लिए वर्षा के अलावा और उसके समानान्तर हर्ष के चॉद को भी समझ लेना होगा। वह कई-कई भौतिक सम्भावनाओ को ठुकराकर सिर्फ अभिनय की खुशी पाना चाहता है—अथक परिश्रमो प्रयत्नो के बाद अपनी मनचाही फिल्म 'मुक्ति' के शुभारम्भ के दिन सेट पर जाते हुए वर्षा से हाथ मिलाकर हर्ष ''कालिगुला'' का सवाद बोलता है—

''होलिकॉन, मैं सिर्फ चॉद चाहता हूँ''

और वह उसे नही मिला। ''मुक्ति'' बन नहीं पायी। क्यो? अभिनय कला का तो वह स्वयं चॉद था। डॉ अटल के शब्दो मे—

> ''हर्ष का रोल निभाने का थ्रस्ट मुझे ऑलिवियर की याद दिलाता है, उसके समृद्ध स्वर और डिस्कशन मे बर्टन की नफासत एव चमक है। ब्रेडो की तरह हर्ष का ग्राफ टेढा-मेढा नही जाता। उसकी शैली क्लिफ्ट की तरह प्रखर, जटिल तथा सूक्ष्म है। वह डिनौरी के समान अपने चरित्र मे बारीक नक्कासी करता है और डोन की तरह उसमे

अपनी भूमिका से परे जाने का सामर्थ्य है। वह निस्सदेह आज के भारत का सर्वश्रेष्ठ अभिनेता है।''[1]

पर उसे आत्महत्या करनी पडी—

''वह चौपाल के धूलभरे फर्श पर सूखी विष्ठा के बीच पडा था।''[2]

उसकी कलात्मक क्षमता और सफलता के बीच ''खलनायक की भूमिका निभाने वाले थे, उत्कृष्ट कला मूल्य और समझौता विरोधी कार्यशैली।'' ध्यातव्य है कि उत्कृष्ट कला मूल्यों बनाम लोकप्रिय या व्यावसायिक कला मूल्यो के बीच समझौता करने की कीमत पर ही वर्षा स्टार बन गयी—

''मै लोकप्रिय सिनेमा मे बेवकूफ बनी रहूँगी, पर साथ ही तो बजट फिल्मे भी करूँगी।''

परन्तु हर्ष तो कला को लेकर टोटल परफेक्शनिस्ट था। अभिनय उसका 'फैशन' था और इसके लिए वह 'ओगाज्मि' की हद तक 'पजेसिव' था, इसीलिए अपनी प्रतिबद्धता निभाने मे जान तक गॅवानी पडी। वीभत्स यथार्थ यही है कि इन मूल्यो के साथ आत्महत्या ही आज की नियति है और ऐसा नहीं है कि यह स्थिति आज हो गयी है। आजादी मिलने के तुरन्त बाद हिन्दी उपन्यास ''मैला आँचल'' मे राजनैतिक मूल्यो की पतनोन्मुखता के समक्ष 'बामनदास' की हत्या, जो वस्तुतः आत्महत्या ही है, तथा सामाजिक-साम्प्रदायिक मूल्यो के खिलाफ राही मासूम रजा के 'टोपी शुक्ला' की आत्महत्या की निर्मम—करूण परिणति देख चुके है। कलात्मक मूल्यो के लिए व्यावसायिकता के बीच हर्ष की आत्महत्या इसी श्रृखला की अगली, पर पुरजोर कडी है—सर्वाधिक ह्रदय विदारक रूप मे प्रस्तुत।

'मुझे चॉद चाहिए' मे मूल्यहीनता का यह अश इसलिए ज्यादा गहरा व प्रभवी है, क्योकि लेखक ने इसे व्यापक स्तर पर उठाकर यथार्थ की वृहत्तर स्थितियो को उघाड दिया है। इस क्षेत्र मे हर्ष के समानान्तर समझौतापरस्तो की एक लम्बी कतार उन्होने खडी कर दी है—आदित्य, चतुर्भुज, चिन्तामणि, स्नेह, नीलकान्त और वर्षा वशिष्ठ भी। इनमे सबसे सुदृढ़ आर्थिक-सामाजिक स्थिति के चलते समझौतावाद के

---

1 मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-541

2 मुझे चॉद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-546

विरोध की भूमिका के लिए हर्ष ही सबसे उपयुक्त था। जैसे समझौतावाद का आज टोटल वर्चस्व है। कोई हर्ष खोजे से भी शायद ही मिले, वरना सभी समझौते के लिए तैयार है या मजबूर हैं। इस मजबूरी का सकेत भी हर्ष के उस प्रसग मे है, जहॉ वह कहता है—

''मुक्ति के बाद मै हर तरह की फिल्म करने को तैयार हूँ। न इटेलेक्चुअल सवाल करूँगा न पैसे का मोलभाव।''[1]

क्योकि सब कुछ के बावजूद अपमान और विस्थापित जिन्दगी की हीनता ने उसे तोड डाला था किन्तु वैसा हो जाता तो उपन्यास भी समझौता परस्त होकर शायद युगोबोधीय यथार्थ के ज्यादा निकट होता। शायद उपन्यास सपाट भी हो जाता और सारी टीस व कचोट जाती रहती। लेकिन लेखकीय दृष्टि ऐसा नही चाहती कि जमाने के नितान्त भौतिक मूल्य उच्चतर कला मूल्यो पर हावी हो जाय, उन्हे निरस्त कर दे और ऐसे मे योग्य के सघर्ष की असफलता के आवेश मे वरण की गयी (हर्ष की) मृत्यु ने सभी भौतिकता परस्त समझौतावादियो की सफलता को ही निरस्त कर दिया है। बस, इस अहम् फैसले पर पहुँचने का क्लाइमेक्स अपनी बेहद आकस्मिकता में कला मूल्यो के प्रति कट्टर समर्पण एव कलाकार के स्वाभिमान को दोषी बनाकर छोड देता है—और वह भी हर्ष के कलापथ के सहयात्रियो द्वारा। इससे क्रूर मजर और क्या हो सकता है? तब इस रूप मे सुरेन्द्र वर्मा का हर्ष फैज की उस राह का रहबर बनते-बनते रह गया है, जहॉ यदि अपनी पसन्द की जिन्दगी जीने की हालत न हो, तो उसके लिए जान देकर यह तो सिद्ध किया ही जा सकता है कि अपनी प्रतिबद्धताओ के लिए जान देने के हालात तो अभी शेष हैं—

''मुश्किल है अगर हालात वहॉ,

दिल बेच आये, जॉ दे आये

दिलवालो कूच-ए-जाना मे,

क्या ऐसे भी हालात नही।''

लेकिन मूल्यवत्ता की व्यजना से हटकर वर्षा हर्ष की इस आत्महत्या की सैद्धान्तिक व्याख्या करती हैं—

---

1 मुझे चॉंद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-530

''जगत—विसर्जन कोई समाधान नही।''[1]

''यह दुर्बलो और कायरो की अपनी बौनी क्षमता को पहचानने की स्वीकृति है। सच्चे और महान वे है, जो अपनी असफलता की कचोट के साथ जिन्दा रहते है। अपने निकृष्टतम् रूप मे भी जिन्दगी मौत के सर्वश्रेष्ठ ढग से बेहतर है।''[2]

मृत्यु के ऊपर जीवन की सकारात्मक दृष्टि के तहत लेखकीय पक्षधरता भी यहॉ सेद्धान्तिक स्तर पर सही है, पर वर्षा का यह निष्कर्ष ग्राह्य इसलिए नही होता क्योकि हर्ष की मृत्यु से वह बुरी तरह प्रभावित है—

''मेरे वास्ते चन्द्रमा हमेशा के लिए बुझ गया है ''[3]

इस पीडा और आक्रोश को वह छिपा भी नही पाती—

''आत्महता को पता नही होता कि अपने निकटतम् लोगो को वह कैसे सर्वग्रासी दु:ख के शिकजे मे कसा छोड रहा है।''[4]

वर्षा हर्ष को दोषी भी ठहराती है—

''मन के स्तर पर एहसास था—अपराध किसी का है, तो सिर्फ हर्ष का। एक ओर ऊँचे कलात्मक मूल्य, जिद और स्वाभिमान है और दूसरी ओर छुईमुई अह।''[5]

लेकिन यह एक फिफ्टी-फिफ्टी समझौता परस्त और व्यावहारिक बुद्धि का निष्कर्ष है। प्रतिभाएँ जिद्दी व स्वाभिमानी हुआ ही करती है और बहुत हद तक जनूनी भी। ये दोनों ही चॉदाकांक्षी—हर्ष और वर्शा—एक-एक स्तर पर असम्भव के संधानी बनते है—अभिनय के चॉद को न पाकर हर्ष एवं हर्ष-प्रेम के चॉद को न पाकर वर्षा।

---

1 मुझे चॉद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-549

2 मुझे चॉद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-549

3 मुझे चॉद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-547

4 मुझे चॉद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-549

5 मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-546

सुरेन्द्र वर्मा का 'मुझे चॉद चाहिए' एक वृहत्काय उपन्यास होते हुए भी सामान्य अर्थ मे वर्णनात्मक उपन्यास नही है। उसकी शैली एक खास खिलदरेपन से भरी होने पर भी मनोहर श्यामा जोशी के 'कुरू-कुरू स्वाहा' और कृष्ण बलदेव वैद के परवर्ती उपन्यासो 'उसका बचपन' और 'गुजरा हुआ जमाना' को छोडकर—की चमत्कार पूर्ण एब्सर्ड शैली नही है। 'मुझे चॉद चाहिए' अनेक स्तरो पर व्यजना एवं व्यापक अर्थछवियो की बेहद सजग और सयत प्रभाव क्षमता वाला उपन्यास है। सुरेन्द्र वर्मा ने नाटककार के रूप मे अपनी समूची क्षमता का उपयोग इस उपन्यास मे किया है। उनकी जिस कथायुक्ति से उनकी नाटकीय प्रतिभा का एहसास होता है वह है—दो-दो चरित्रो का समक्षीकरण। इसे कथा के आरम्भ से अन्त तक देखा जा सकता है—वर्षा-दिव्या, हर्ष-वर्षा, वर्षा-शिवानी, हर्ष-सूर्यभान, दिव्या-रोहन, हर्ष-चारूश्री, रीटा-सुकुमार, वर्षा-रीटा, रजना-हर्ष, वर्षा-चारूश्री, वर्षा-कचन प्रभा, वर्षा-रजना, वर्षा-सिद्धार्थ, चतुर्भुज-अनुपमा। इनके चरित्र-विधान मे वर्णनात्मकता से अधिक उसकी सवादात्मकता है। इन सवादो की रचनात्मकता ऐसे घटित होती है, जैसे सेट पर घटित हो रहा हो, छाया-प्रकाश, रग-रेखाएॅ, मुद्राएॅ-हावभाव आदि की जीवन्तता लिए हुए। इस दृष्टि से वर्षा-शिवानी प्रसग चरम नाटकीय है। भयानक, त्रासद, मर्मभेदी, प्रेम-घृणा का अद्‌भुत सगठन—

> [''सहसा शिवानी घुटनो पर झुकती हुई उसके बिल्कुल निकट आ गयी। वर्षा की चिबुक ऊपर उठायी, ''तुम्हारी ऑखे बहुत सुन्दर हैं।'' उससे बिना मुस्कान के कहा।
>
> वर्षा हल्के से मुस्करायी। अचानक अपनी पलक पर शिवानी के होठो का स्पर्श पाया। दृश्य जैसे फ्रीज हो गया।
>
> ''मैने तुम्हारे गिलास मे साइनाइड मिला दिया है।'' शिवानी अपनी जगह बैठी मुस्करा रही थी। वर्षा को लेकर जो चौकन्नापन अभी तक उसमे था, वह अब क्षीण लग रहा था।''
>
> शिवानी निकट आयी। अपनर गिलास बगल की मेज पर रखते हुए बिस्तर के किनारे बैठ गयी—
>
> ''तुम्हारी नाजुक-सी गर्दन पर—''उसने अपने दोनो हाथ वर्षा के गले पर रखे, थोड दिया और मुस्कराकर पूछा— ''दबा दूॅ?''

''बडी सवेदनशील कातिल हो'' वर्षा हँसी—''मक्तूल से उसकी मर्जी पूछ रही हो।''

शिवानी ने दबाव थोडा बढा दिया, फिर थोडा और   दोनो मुस्करा रहीं थीं, पर वर्षा को अब सॉस लेने मे मुश्किल हो रही थी और चेहरे पर तनाव झलक आया था।

''अलविदा   '' शिवानी बोली

''खुश रहो अहले-वतन   '' वर्षा ने ऑखे बन्द कर ली।

कुछ पलो का विराम रहा।

* फिर शिवानी सहसा सिसकने लगी। फिर दोनो हाथो मे मुँह छिपा लिया। रूदन मे विवशता और शर्मिंदगी की रगत थी। जैसे ऊँचे कपोत को पख की अक्षमता के कारण किसी टहनी पर बसेरा लेना पडे।

''शिवानी   '' वर्षा ने बॉह पकडकर उसे खीचा। शिवानी मुडी और जैसे भीगी ऑखें दिखाने की शर्म से बचने के लिए मुँह वर्षा के वक्ष मे छिपा लिया।

. . .   .

.   .

.

इस दौरान कितने पल बीते, वर्षा को नहीं मालूम। फिर शिवानी के मुखड़े का क्लोज-अप जेसे धीरे-धीरे पीछे खिसकते हुए डिजॉल्व हो गया और पर्दे पर अधेरे के चौकोर खाने उभरने लगे   '']1

यह है उपन्यास मे नाटक, अपनी पूरी लयात्मक टोन एव रगचेतना के साथ। कहना न होगा कि इस कथायुक्ति ने एक अर्थ मे, 'मुझे चॉद चाहिए' के पूरे रचनातन्त्र को प्रभावित किया है। यहॉ कथा-भापा मे नाट्यभाषा का निरतर लेकिन अनारोपित हस्तक्षेप है।

---

1 मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-69

सुरेन्द्र वर्मा ने प्रस्तुति के सभी आयामो को नये तरह से साधा है, जिसके अन्तिम स्वरूप को नाट्यमय रूप मे पाठक तक पहुँचाते पाते है। सवादमयता भावभगिमा एव क्रियान्विति आदि प्रचलित तत्व तो है ही, साथ ही अपेक्षित प्रसगों के विस्तार को एक वाक्य मे खत्म करके दृश्यो को कट करके घटनाओ से निकलते हुए निष्कर्षो को अव्यक्त रख करके कही निष्कर्षो के पीछे की घटनाओ को अनकही छोड करके अद्भुत नाट्य सिद्ध किया है। कालिदास से लेकर आधुनिक नाटकों का सुसमृद्ध रचना-ससार उपन्यास के पात्रो के जीवन मे इतनी सतर्कतापूर्वक लेकिन अनारोपित रूप मे अन्तर्युक्त है कि वही कुल मिलाकर एक रचनात्मक आस्वाद पैदा करता है। ऐसा लगता है कि पूरे उपन्यास की पृष्ठभूमि मे यह सगीत वाद्यवृद रचना की तरह बजता रहता है। यशोदा शर्मा से वर्षा वशिष्ठ बनने मे कालिदास के 'ऋतुसहार' की भूमिका है। स्थितियो ओर अनुभव की समरूपता के प्रसग मे कालिदास प्राय हमेशा और सर्वत्र उसके साथ है। जब वर्षा लखनऊ मे पहली बार नाट्यकर्मी सहयोगियो के साथ बीयर का घूँट भरती है, तो उसे 'मालबिकाग्नि मित्रम्' का सवाद आता है—

> ''निपुणिका सुनती हूँ कि मदिरा पीने से स्त्रियाँ बहुत सुन्दर लगने लगती है। क्या यह सच है? ''1

दिल्ली मे हर्ष से अपने धीरे-धीरे बढते आत्मीय सम्बन्ध के प्रसग मे भी वर्षा को ''रघुवश'' याद आता है—

> ''पहले फूल खिले, फिर नई कोपले फूटी, फिर भौरे गूँजने लगे और तब कोयल की कूँक सुनाई दी। इस क्रम से धीरे-धीरे वनस्थली में बसन्त ने अपने पाँव आगे बढाये ''2

'आठवाँ सर्ग' के सुरेन्द्र वर्मा यहाँ इस उपन्यास मे भी एक सीमा तक कालिदास से सम्मोहित है कि वर्षा की ही नही, उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि के तर्क से दिव्या भी इस कालिदास-सम्मोहन से मुक्त नही है। दिल्ली मे वर्षा को ब्लाउज भिजवाते हुए उसे 'अभिज्ञान शाकुतलम्' मे प्रियवदा का संवाद याद आता है

---

1 मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-69

2 मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-113

और वह परिहासपूर्वक लिखती है कि नाप बढ जाने से उसका परिश्रम कही व्यर्थ न चला जाय। हर्ष के समक्ष कौमार्य-विसर्जन के आह्लादपूर्ण क्षणो मे तो वर्षा का समूचा अस्तित्व ही इस नाटकीय थरथराहट का उदाहरण बन जाता हे। पूर्वराग बेला मे एक नाटकीय भगिमा अपनाकर वह नाटकीय भाषा मे नाटकीय सवाद बोलकर सहमति और आह्लाद प्रकट करती है—

[''तन्मय चुम्बन के दौरान सिलबिल ने महसूस किया कि उसकी कमीज के बटन खोले जा रहे है।''

''घर आये अतिथि का वस्त्रारोहण आपको शोभा नही देता श्रीमान।'' सिलबिल ने कृत्रिम प्रतिरोध किया।

''जो प्रेम चुम्बन-श्रृखला तोडता है, वह गौबध पाप का भागी बनता है। ''हर्ष गम्भीरता से बोला।

''भूल हुई। ''कामसूत्र'' का मेरा अध्ययन आपके जैसा गहन नही है।'' मुस्कान दबाते हुए सिलबिल ने कहा।

हर्ष ने उसके कान की लौ अपने होठो मे ली, चुभलायी और हल्के से काट ली।

''तुम कैसे भारतवासी हो?'' सिलबिल कराही, ''गणतन्त्र दिवस पर नवनिर्माण के बजाय ऐसी ह्रासोन्मुख हरकत ''

अब दृढ आलिगन मे वर्षा कर नग्न पीठ पर हर्ष के चपल हाथ का स्पर्श था। जहॉ-जहॉ हाथ फिसलता, त्वचा रोमाचित होती जाती।

सहसा हुक खुला और उसकी ब्रा निकाल ली गय। (अन्तर्वस्त्रो का यह जोडा हर्ष की भेट था)।

''मेरी भोली-भाली कचुकी ने तुम्हारा क्या गिगाडा है?'' हर्ष मोहविष्ट-सा उसके वक्ष को देख रहा था (सिलबिल को खुशी हुई कि कुछ वर्ष पहले दिव्या की सलाह पर आभार व्यक्त किया था)।

''चैपलिन जी क्या सोचेगे? वरिष्ठ अभिनेता का लिहाज करना हमारा ''

सिलबिल की बात पूरी नही हो पायी। हर्ष ने उसके बाये उरोज को चुम्बनो की लडी से बॉधते हुए चूचुक की होठो मे भर लिया। सीत्कार के साथ सिलबिल की सॉस रूक गयी। तलवो मे झुनझनी उठी और पूरे जिस्म को स्पदित कर गयी

उसकी जीन्स का बटन काज से निकला और जिप खुली। ''कुमारी कन्या के नीति-बन्धन को न छोडो आर्य पुत्र।''

उन्मादी चुम्बनो की श्रृखला से उसका मुॅह बन्द करते हुए हर्ष ने एक आतूर हाथ से लेस की पेटी के पास उसके नितम्बो को सहलाया

यहॉ पर भाषा न केवल अपनी नाटकीय भगिमा का बिम्ब खडा कर रही है वरन् अतिशय सवेदनशीलता के बावजूद भाषा मे कही भी अश्लीलता का पुट नही है। किसी भी लेखक के लिए सबसे कठिन और नाजुक होता है 'सेक्स' का वर्णन, विशेष रूप से स्त्री-पुरुष समागम का चित्रण। इसमे सस्ती लोकप्रियता के फूहड आकर्षण के साथ ही खुद भी चटखारे लेकर वर्णन करने के भरपूर अवसर होते है। इस नाजुक किन्तु खतरनाक कसौटी पर भी किसी लेखक की जीवन-दृष्टि और कलात्मक क्षमता को परखा जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस सन्र्दभ में सुरेन्द्र वर्मा ने यशपाल, नागार्जुन ओर अमुतलाल नागर जैसे श्रेष्ठ प्रगतिशील लेखको को भी छोड़ दिया है। इस वर्णन में लेखक ने भाषा से लेकर भगिमा तक जिस सतुलन और कौशल का सहज प्रदर्शन किया है, वह किसी को भी चकित कर देने वाला है। उनकी इस विशिष्टता की भूमिका मे दो कारक तत्त्व हैं—स्मृत्यावलोकन आर भाषा, जो उनके 'द्रौपदी', 'सूर्य की अतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' एवं 'आठवाँ सर्ग' नाटकों की खास टेकनीक है।

सुरेन्द्र वर्मा के यहॉ स्मृत्यावलोकन का अभिप्राय फ्लैशबैक से न होकर पूर्वघटित की स्मृति के आधार पर पुनर्रचना तथा उसके विश्लेषण से है। हर्ष जब मोहविष्ट सा उसके वक्ष को देख रहा था तो स्मृत्यावलोकन के आधार पर सवेदनशीलता को तीक्ष्ण बना देती है—

''सिलबिल को खुशी हुई कि कुछ वर्ष पहले दिव्या की सलाह पर उसने रातो सोते समय ब्रा पहने रहना बन्द कर दिया था। आकार एव पुष्टि की दृष्टि से परिणाम बहुत सुन्दर निकले। उसने अगले ही दिन दिव्या को पत्र लिखकर आभार व्यक्त किया था।''

कहना न होगा सुरेन्द्र वर्मा इस समागम चित्र को सकेतात्मक बनाकर इस नग्नता को एक हल्के से आवरण द्वारा आवृत्त कर देते है।

भाषा का सतुलन भी इस चित्रण को नई अर्थवत्ता देता है। इसमे एक ओर 'तन्मय', 'चुम्बन', 'अतिथि', 'वस्त्रारोहण'' 'श्रीमान', 'कृत्रिम', 'प्रतिरोध', 'चुम्बन-श्रृखला', 'कामसूत्र', 'ह्रासोन्मुख', 'दृढ आलिगन', 'चपल हाथ', 'त्वचा', 'रोमाचित', 'कचुकी', 'वक्ष', 'कुमारी कन्या', 'नीवी-बन्धन', 'नितम्ब', 'उरोज', 'दत-चिन्ह' जैसे शब्दो का प्रयोग है जो आज के पाठक के लिए ओट पैदा करते है, वही दूसरी ओर 'कान की लौ', 'चुभलायी', 'काटना', 'हूक', 'जीन्स का बटन', 'लेस की पेटी', 'सहलाया', 'नग्न सीना', 'गला सूखने', 'दबाव', 'बयार', 'झरोखा', 'थरथराहट', 'सॉस', 'रूक', 'टीला' जैसे आज की आम बोलचाल की भाषा के ऐसे शब्द है जो अपनी उष्णता तथा प्रखरता से प्रत्यक्षत. प्रभावित करते हैं। दोनो वर्गो के शब्दो से सतुलित-सयमित उपयोग से सुरेन्द्र वर्मा ने अपनी भाषा को अपेक्षित तापक्रम उपलब्ध कराया है। परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है इन शब्दो, बिम्बो और इनकी ध्वनि का सयोजन, वाक्याशो की त्वरित गति के साथ-साथ उन्माद और उत्तेजना का उत्तरोत्तर ऊपर चढ़ता ग्राफ।

इसके अतिरिक्त भी उपन्यास मे बहुत कुछ है जो भाषा को नवीन तेवर तो देता ही है, वर्णन की दीर्घता और एकरसता को भग करके उसे एक कलात्मक अन्विति का उदाहरण बनाता है। पत्राश, स्मृतिखण्ड, साक्षात्कार, सवादो के बीच मे कोष्ठको में दिये गये सोचे और अनकहे विचार इस खिलदरेपन को और बढाते हैं। 'स्टार एण्ड स्टाइल' मे हर्ष का व्यावसायिक फिल्मो की अभिनेत्री चारूश्री के सम्बन्ध मे दिया गया साक्षात्मकार रीटा द्वारा वर्षा को दिखाये जाने पर हर्ष की चारूश्री से बढ़ती हुई अन्तरगता पर वर्षा की प्रतिक्रिया की दृष्टि से एक ऐसा ही उदाहरण है। शिवानी भी इसी साक्षात्कार को दिखाकर हर्ष के विषय मे वर्षा की प्रतिक्रिया जानना चाहती है, क्योकि इस प्रसंग मे वह वर्षा की प्रतिद्वन्द्विनी भी रही है।

यहाॅ तक कि अखबारो मे छपी टिप्पणियाॅ भी बहुत कौशलपूर्ण ढग से आन्तरिक भाव-प्रकाशन का माध्यम बनती है। हर्ष की चारूरी के साथ की गयी फिल्म 'कपन' के विषय मे अखबार ने टिप्पणी की हे—

''प्रणय दृश्य'' कपन की विशेष उपलब्धि होगे ''

इसे पढकर वर्षा अपने अतीत मे खो जाती है—

''वर्षा की देह पर हर्ष के चुम्बनो की स्मृतियाॅ सुगबुगाई। पलके झपकने लगी। उसे अपने होठो पर हर्ष के दबाव की उष्मा का अनुभव हुआ। फिर तत्क्षण मन मे एक कातर पुकार गूॅजी, जो देह की भीतरी नसो में प्रतिध्वनित हुई जैसे प्राचीन, नग्न खडहर मे कोई चीखे और अबाबीलो वाली ऊॅची मेहराब के जाली-लगे खडित गलियारो मे प्रेमात्माओ सी बौराई अनगूॅजे सुनाई दे ।''[1]

फिल्मी 'रिपोर्टरो' के सन्दर्भ मे भी फिल्म दुनिया के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के साथ ही भाषा मे भी एक ताजगी का सचार किया है—

''कामसूत्र के कौन से आसन आपको पसन्द है? किस उम्र मे आपकी कौमार्य तिलाजति हुई थी?'' बनावट स्टैड'' पर आपकी क्या राय है? आज की जटिल जिन्दगी मे आप इसे अनिवार्य मानती है न? आप ऑर्जी अपने मित्रो के साथ पसन्द करेगी या अजनबियो के साथ? दो पुरुषो के सग एक साथ सेक्स—थ्री—वेलव— पर आपका मत?''[2]

ये सवाल है, जिनके सहारे बम्बई फिल्म नगरी मे आकाश-चढे सितारो का व्यक्तित्व सामने लाते है, फिल्मी रिपोर्टर। उन्हे सिर्फ सनसनी खेद मसाला चाहिए, जिससे कि पत्रिका बिक सके। 'डिबानेयर' सस्कृति मे सॉस लेती बैगीजधारी ताजा-ताजा कॉलिज से निकलकर जर्नलिज्म का तीनमासी पार्टटाइम कोर्स करके सम्पादिका या पत्रकार को देखकर वर्षा को लगता है कि—

''प्रकाशक ने आज ग्यारह इकतालिस पर चर्च गेट के बाएँ दरवाजे से जो भी नौजवान लडकी निकलेगी उसे सम्पादक बना देगा''

---

1 मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-233

2 मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-397

के आधार पर इन्हे चुना होगा। उपन्यास के ये प्रसग फिल्मी दुनिया के अन्दर चलती हिसक उठा-पटक, झूठ, फरेब, विज्ञापन की दुनिया के ऐसे अनुभव के साक्षात्कार कराते है कि दिमाग की नसे भनभना उठे। ऊपरी तौर पर बहुत क्रूड लगने वाले इन प्रसगो मे भी व्यग्य भाषा का रचनात्मक तेवर द्रष्टव्य है। जीवन यथार्थ की गहरी सूझ-बूझ के साथ कलात्मक चित्राकन मे सूक्ष्म से सूक्ष्म डिटेल्स का सटीक वर्णन और भाषा को लेकर गद्य शैली तक हिन्दी को लगभग एक नया सस्कार देने की उनकी कोशिश उन्हे निर्विवाद रूप से एक बडा लेखक और एक समर्थ, सक्षम कलाकार साबित करती है। कोई आश्चर्य नही कि उनकी इनमे से अनेक खूबियो के पीछे एक श्रेष्ठ नाटककार के रूप मे उनकी मॅजी हुई लेखनी का हाथ है। यही कारण है कि उपन्यास में कोरा वर्णन बहुत कम है। ज्यादातर सूक्ष्म और कलात्मक चित्राकन के साथ सटीक और सहज सवादो मे गतिशील और जीवन्त दृश्याकन किया गया है। इस दृष्टि से यह उपन्यास दो सशक्त गद्य माध्यमो के सफल कलात्मक सयोजन का भी विलक्षण उदाहरण है। नागर जी के महान उपन्यासो के बाद ऐसा बतरस और कथारस शायद ही कही और मिले।

इस उपन्यास की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता यह है कि एक त्रासदीय प्रेम-कहानी के गहरे कारूणिक रगो के बीच-बीच मे जिस तरह से हास्य-व्यग्य और क्रीडाभाव के झिलमिलाते दृश्य पिरोये गये है, वह इस त्रासदी को और भी गहरा बना देते हैं। विशेष रूप मे चतुर्भुज धनसोखिया और ममातर सिनेमा के नाम से विख्यात तथाकथित कला फिल्मकारो के प्रसग। उपन्यास मे रगजगत और सिनेमा की शब्दावली का भी बडा सर्जनात्मक इस्तेमाल किया गया है।

गहरी अनुभूति-सम्पन्नता कर प्रमाण देने वाले इस उपन्यास मे यदि भावुकता पर सचेत नियत्रण है तो श्रेय सुरेन्द्र वर्मा की विनोदीवृत्ति को है। वर्षा की स्वीकारोक्ति है कि देह-प्रेम के गहरे क्षणो मे उसका हास्यबोध निखर उठता है। दिव्या-रोहन हनीमून के लिए जाना चाहते है तो वर्षा ''मॉ'' मे ''कुमारसम्भव'' के मैना के मूल भाव को पकडती है—

> ''मैना को यह देखकर बडा सन्तोष हुआ कि शिव-पार्वती के यौवन का पूरा उपयोग कर रहे है, क्योकि जब मॉ यह देख लेती हे कि मेरी कन्या का पति उसे प्यार करता है, तो उसका जी हल्का हो जाता है।''

यह प्रसग भी हास्यबोध के बाहर की चीज नही है। कालिदास का स्मरण कई बार हास्यबोध या विनोदवृत्ति के अधीन है।

यह असत्य नहीं कि जिस गहराई तक जाने के लिए बहुत से आधुनिक लेखक जादुई यथार्थ, मिथक, स्वप्न, प्रतीकात्मक जैसे सूत्रो पर निर्भर रहे है, उसे सुरेन्द्र वर्मा ने सीधे अनुभव ज्ञान ओर सहज अन्तर्दृष्टि के आधार पर उपलब्ध किया है। अतएव न केवल अन्तर्वस्तु वरन् शिल्प की दृष्टि से भी 'मुझे चॉद चाहिए' ने हिन्दी के उपन्यास-साहित्य मे ''गोदान'', ''मैला ऑचल'', ''राग दरबारी'', ''कुरू कुरू स्वाहा'' के बाद एक नया क्षितिज खोला है, एक नये दौर की शुरूआत की है।

मुंशी रायज़ादा

आलोचक डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र ने 'शेखर एक जीवनी' की समीक्षा करते हुए लिखा कि, 'महत्वपूर्ण रचनाओ की विशेषता होती है कि वे जीवन और जगत् के बारे मे ही नही स्वय अपनी साहित्यिक परम्परा को नये सिरे से व्यवस्थित करती हैं और भविष्य के लिए सभावनाएँ पैदा करती हे। 'शेखर एक जीवनी' ऐसी ही रचना है जिसकी रोशनी उससे पहले के और बाद के उपन्यास साहित्य पर पडती है। शेखर को पढते ही लगता है कि न केवल उपन्यास लिखने का तरीका बदल गया बल्कि उपनयास पर विचार करने का तरीका भी बदल गया।' कहना न होगा कि डॉ० मिश्र का यह कथन 20वी सदी के अतिम दो दशको की उपन्यास यात्रा को भी पूरी तरह प्रकट करता है। इस समय अनेक ऐसे उपन्यास लिखे गये, जिन्होने अन्तर्वस्तु एव सरचना के ढॉचे को ही नही तोडा, उपन्यास पर प्रचलित समीक्षा पर भी आघात किया। अवध की पृष्ठभूमि पर इतिहास एव सभ्यता की समीक्षा करता हुआ कमलाकान्त त्रिपाठी का 'पाहीघर' एव 'बेदखल' आया तो सुरेन्द्र वर्मा का 'मुझे चाँद चाहिये', विनोद कुमार शुक्ल का 'दीवार मे एक खिडकी रहती थी', कमतानाथ का 'कालकथा', गिरिराज किशोर का 'पहला गिरिमित्या',। अलका सरावगी ने 'कलिकथा . वाया वाइपास' मे मारवाडी परिवार की कथा कहते हुए इतिहास को खोजने का उपक्रम किया तो जीवन की अन्तिम दहलीज पर, मगर पूरी रचना धार्मिता के साथ उपस्थित लक्ष्मीकान्त जी ने मुँशी रायजादा' द्वारा। बकौल लक्ष्मीकान्त जी यह 'एक ऐसे गुमनाम खानदान की गाथा जो अवध की नवाबी मे बुलदी पर था— पर जिसे आज कोई नही जानता है।

अवध की कथा कमलाकान्त त्रिपाठी ने भी कही, प्रेमचन्दीय मुहावरे एव शैली के साथ, पर लक्ष्मीकान्त जी ने इस कथा मे नये मुहावरे की तलाश की है, जो इतिहास की निर्ममता एव कथा की काव्यात्मकता के सामजस्य पर टिकी है। उन्होंने स्वयं इस उपन्यास के प्रारम्भ मे कुछ सूत्र देते हुए लिखा है— ''मुशी रायजादा मे यदि आप इतिहास तलाशेगे तो कथा छूट जाएगी और यदि केवल कथा ढूँढेंगे तो वैज्ञानिकता के कुतर्क मे किवदन्तियो, मिथको, लोकमानस की मिट्‌टी मे रसा-बसा जीवन छूट जाएगा।

यदि जनमानस से जुडकर देखेगे तो मुशी रायजादा की कथा इतिहास की खमीर मे रसी-बसी होने के कारण स्वय अपने आप को सत्यापित करती चलेगी।'' इतिहास और वंशवृक्ष बहुत कुछ सत्य प्रतीत होने बावजूद काल्पनिक ही हैं। लेखक ने इतिहास को उतना ही अपनी कथा मे लिया है, जितना कथा के लिए आवश्यक है। इसमे अनेक किवदन्तियॉ है जो लेखक के अनुसार 90% सत्य है कथासूत्र को उन्ही के माध्यम से पिरोने की कोशिश की गई है। लक्ष्मीकान्त जी के शब्द है— ''आशा है जितना सत्य इसमे हे उसे आभास के रूप मे ही स्वीकार करेगे। यदि प्रत्येक पात्र को आप वास्तव मे ढूढने की कोशिश करेगे तो मेरे साथ और पात्र के साथ ज्यादती होगी। यदि इस खण्ड के सत्तर साल के इतिहास को आप कथा समझने के लिए सहारे की तरह इस्तेमाल करेगे तो ज्यादा सगत होगा। इनमे से अधिकाश पात्र ऐसे हैं जिनकी मैने केवल तस्वीरे देखी है, कुछ हस्तलिपियॉ देखी है, कुछ का जीते-जागते अपने बीच मे देखा है, कुछ को किवदन्तियो के माध्यम से देखते जाने की कोशिश की है। मेरा सकल्प कथानक के गठन और अनुभूतियो के विभिन्न स्तरो की महनता को प्रामाणिक रूप से चित्रित करना है, न कि कथा की प्रामाणिकता और इतिहास पुरुषो की 'ममीज' को जगाकर खडा करना।'

कहना न होगा लक्ष्मीकान्त जी की साफगोई उपन्यास मे मूर्त रूप मे दिखाई देती है, लेकिन यह केवल इतना ही नहीं है लक्ष्मीकान्त जी ने एक ऐसे कायस्थ परिवार की कथा को इतिहास के चौखटे मे फिट करके उपन्यास सवेदना का अग बनाया है, जिसे मृच्छकटिकम् मे 'धूर्त और जाल-फरेब' करने वाले के रूप मे पहचान मिली हैं, तो मुद्राराक्षस मे यह जाति शकटार के रूप मे उपस्थित है, जो निरन्तर विद्रोह और प्रतिशोध मे अपना सब कुछ मिटा देने के लिए तत्पर है। 'मुशी रायजादा' की कथा के केन्द्र मे बकौल लक्ष्मीकान्त वर्मा 'यह एक ऐसे अभिशप्त खानदान की गाथा है जो छः पीढियो के बाद धूल मे मिल जाता है। गुमनाम हो जाता है। लेकिन फिर एक विशाल वटवृक्ष की भॉति खड़ा हो जाता है और अपने समय के जीते जागते मूल्यो का निर्माण करता है। उनके लिए सघर्ष करता है और अपने मिटने के लिए समस्त साधन जुटाकर पुन मिट जाता है। लेकिन उन्ही के बीच से फिर कोई दूसरा मुशी रायजादा का वशज मूल्यो को लेकर जीने की कोशिश करता है— और धूल मे दबी हुई दूब की तरह फिर से उग आता है।' लेकिन यह एक परिवार की कथा-कायस्थ परिवार की कथा— होने के साथ ही मनुष्यता का इतिहास एव उसके बनते बिगडते मूल्यो की कथा है। मुशी रायजादा का टूटना वस्तुतः इतिहास की उस

पीढी का टूटना है, जो अवध क्षेत्र मे इस्तमरारी बन्दोबस्त के लागू हने के बाद टूट रही थी। यहॉ केवल राजनैतिक व्यवस्था मे ही परिवर्तन नही हो रहा था, सामाजिक, सास्कृतिक, आर्थिक सभी मूल्य ढह रहे है या ढहने के कगार पर है। उपन्यासकार के शब्दो मे 'भगवतीचरण, रामचरण की यह कथा उसी कानून के आधार पर बनी है, जो अवध के नबाबो के सम्भाले नही सम्भली और एक आलीशान ढॉचे के समान इतिहास के गर्त मे लीन हो गयी।' मुशी रायजादा भी इसी व्यवस्था से ममहित है, ''लखनऊ के नवाब को भी क्या हो गया— आखिर पूरे सूबे की हिफाजत मे हम सबने अपना खून-पसीना एक किया था। बगैर हमसे पूछे दीवानी फिरगियो को देकर नवाब ने तो अपने हाथ ही कटा लिये। आज यह नौबत है कि हमारी सवारी को रोकने के लिए दो फिरगी सिपाही ही काफी है।''

वैसे तो यह उपन्यास मुशी रायजादा अर्थात् भगवतीचरण की कथा है, फिर भी इसके अतिरिक्त अनेक कथाएॅ है, जो इस कथा को गति एव समृद्ध कर रही है। कथा के सूत्रधार है, इस उपन्याम के एक पात्र लक्ष्मीकान्त जो इसी रायजादा खानदान से जुडे है। उपन्यास का प्रारम्भ सन् 1920 मे नवम्बर महीने मे मुशी रायजादा की पीढी के चिराग नौबतराय और उनके सोनारगढ के खण्डहर से शुरू होती है। तीन टीलो— सोनारगढ, मनियाारगढ और शेषमहल— पर बसे इस खण्डहर की 'कहानी अजता एलोरा की गुफाओं के समान गौरवशाली तो नही हैं, फिर भी इसके खण्डहरो में एक बहुत बड़े इतिहास का हिस्सा खामोश सो रहा है। मनियारगढ के खण्डहरो पर बसाया गया सोनारगढ दो सदियों का इतिहास सजोये खडा है। आज मनियारगढ क्यो खण्डहर मे बगला इसकी कहानी केवल किवदन्तियो मे ही शेष है। सोनारगढ क्यो बसा इसका इतिहास तो है, पर अब वह भी धीर-धीरे किवदन्तियों मे ही शेष है।' (पृष्ठ 28) इसी परिसर के अन्तिम छोर पर एक लम्बी इमारत बची है, जिसे लोग सोनारगढ का घोड़साल कहते है। इसी खण्डहरनुमा घुडसाल जिसका तीन चौथाई ढह चुका था, एक चौथाई अपनी शान-शौकत के साथ धीरे-धीरे ढह रहा था, इसी चौथाई ढहते हिस्से मे मुशी नौबतराय का आवास था। 'मुशी नौबतराय के अस्तबल वाले इस कमरे की हर चीज जैसे उनकी जिन्दगी के सफरनामे की धज्जियॉ उडा रही थी। उन सबके बीच बैठे मुशी नौबतराय खुद ही कई पीढियो की सील लगी दस्तावेज जैसे लग रहे थे।' (पृष्ठ 34) फिर भी रायजादा खानदान की परम्परा, सस्कृति उनके यहॉ सुरक्षित है, ''फिर यह खण्डहर मै जिन्दा रहते हुए क्यो फिरगियो के हवाले करूॅ। कम से कम इतिहास मे यह तो कहा ही जाये कि भले ही

रायडादा मुशी भगवतीचरण की शाखा मिट गई, लेकिन उससे कोई समझौता नही किया। रही अभयाचरण की बात सो वह भी जो कुछ कह रहा है, वह अपने नसल के हिसाब से ही कह रहा हे। अखिर है तो मुशी रामचरण की सातवी पीढी का'' (पृष्ठ 93) पिछले छत्तीस वर्षो से इस खानदानी खण्डहर मे रहते-रहते मनोरमा देवी भी धीरे-धीरे एक खण्डहर हो रही है। मनोरमा देवी, का विश्वास था— ''किसी के भाग्य मे सोनारगढ का किला था। उसने उसका सुख भोगा। मेरे भाग्य मे सोनारगढ के खण्डहर थे मुझे उसी को भोगना चाहिये अब तो मै इन खण्डहरो से ही प्रेम करने लगी हूँ धीरे-धीरे ये मेरे रोम-रोम मे बस गये हैं '' (पृष्ठ 56) इसी खण्डहर से हवेलियॉ बनने और हवेलियो से खण्डहर बनने की यात्रा कथा के सूत्रधार लक्ष्मीकान्त ने मुशी रायजादा और रामचरण की कथा के माध्यम से प्रस्तुत की है। यह कथा सोनारगढ के गाधीवादी आन्दोलनकारी राम पाण्डेय द्वारा, कैथी लिपि में कमिश्नर अभयाचरण को प्राप्त हुई, जिसे इस उपन्यास के सूत्रधार लक्ष्मीकान्त ने तैयार की। उन्होने ने इस कथा मे केवल मुशी रायजादा का इतिहास, जो उनके अतिम वशज अम्बाचरण ऊर्फ नौबतराय तक जाता हैं, लिखा वरन् उनके भाई रामचरण का इतिहास भी प्रकरान्तर से कहने की कोशिश की है, जो आज सर अम्बिकाचरण और कमिश्नर अभयाचरण के रूप मे दिखाई दे रहा है।

अभयाचरण की कथा में सर अम्बिकाचरण बैरिस्टर, हेलेन और सन् 1920 से 30 तक का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन है। ''अम्बिकाचरण के मन मे दो ही पूर्वजो के चित्र आते थे। एक तो बाबा नागरमल का जिनकी धोती आकाश मे सूखती थी और फिर मुशी रायजादा आफ़ताबेजगशमसुलउल्मा मुशी भगवतीचरण का।'' (पृष्ठ 108) ''अम्बिकाचरण ने जिस वातावरण मे शिक्षा पाई थी और जिस तरह नामजद होकर कमिश्नर कलेक्टर लोग बनते थे, उससे पीछा छुडायाा था, वह इस बात का सबूत था कि रामचरण की शाखा मे भी परिवर्तन आ रहा था।'' (पृष्ठ 109) अम्बिकाचरण देख रहे थे कि आने वाला जमाना गाधी जी का है, इसीलिए वे अपने पुत्र कमिश्नर अभयाचरण मे उन्ही मूल्यो का सतर्कतापूर्ण विकास कर रहे थे। ''अभयाचरण ने तो जलियॉवालाबाग के बाद ही त्याग पत्र देना चाहा। सुभाषचन्द्र बोस और अरविन्द की तरह रहना चाहता था, पर अम्बिकाचरण ने रोक दिया था।'' (पृष्ठ 109) उनकी धारणा थी, ''समय आयेगा जब न मैं तुम्हे रोकूँगा और न तुम मेरी बात मानोगे अभी समय नही आया है।'' (पृष्ठ 109) हेलेन भारतीय आध्यात्मिकता व सस्कृति की जीवतता का क्रमश: विकसित होती

हुई सवेदना है तथा एक आदर्श भारतीय नारी जो कस्तूरबा मे दिखाई देती उसकी बनती प्रतिरूप, जो मैलिकता लिये हुए है।

मुशी रायजादा की कथा की भूमिका के रूप मे भानुमल— सोना, थापनदेव, सत्ती माई, मनियारबाबा, सोनारगढ, मनियारगढ, शेषमहल की कथा है, जो किवदन्तियो के रूप मे कही गयी है, लेकिन प्रस्तुतीकरण मे कल्पना व इतिहास का समुचित योग है। इतिहास यहाँ आइने की तरह है। यह कथा शास्त्र के लिए शेषमहल और शस्त्र के लिए मनियारगढ और श्री के लिए सोनारगढ के बीच सन्तुलन की कथा है, जिसकी नीव भानुमल-सोना ने डाली लेकिन सूत्रधार रहे थापनदेव, जो आज भी इतिहास में सक्रिय रूप से उपस्थित हैं। ''भानुमल ने राजा की पदवी तो नही ली, लेकिन उनको मुगल सम्राट की ओर से पजहजारी का पद और शमसुलउल्मादबीरूलमुल्क रायजादा का खिताब मिला और इस प्रकार रायजादा खानदान की नीव पडी जिसने इस क्षेत्र मे अपने आचरण से नई मर्यादाएँ स्थापित की'' (पृष्ठ 139)

'सोनारगढ', 'मनियारगढ', 'शेषमहल,' 'थापनदेव', सत्तीमाई' की कथा के बाद पुन लक्ष्मीकान्त, जो इस उपन्यास मे सूत्रधार के रूप मे है कि कथा मे वापसी होती है और 'चाँदोपार' की कथा शुरू होती है, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी और सोनारगढ की असली टकराहट की कथा है, जिसे रामचरण ने अपनी परम्परा और सस्कृति से अलग हटकर पैदा की। 'इसमे एक दबग विदेशी ताकत और एक शुद्ध भारतीय सस्कृति आमने-सामने एक-दूसरे से टकराने की तैयारियाँ करते नजर आयेगे।' (पृष्ठ 235) इसमे इतिहास और लोकवार्ताओ की दुनियाँ अन्य कथाओ की अपेक्षा काफी सन्तुलित है। एक ओर रायजादा परिवार की कथा मे लोक वार्ताओ, किवंदन्तियों की प्रगाढ चमक है, तो दूसरी ओर एल्फिन्स्टन, वुडरोज, विलियम जैसे अग्रेज पात्रो की कथा मे ऐतिहासिक तथ्य। ये तीनो ही चाँदोपार की कथा को विशिष्ट आयाम देते हुए सोनारगढ, मनियारगढ एवं शेषमहल को खण्डहर बनाने वाली स्थितियाँ पैदा करते हैं, जो प्रकारान्तर से पूरे समाज, सस्कृति, संस्कार, भारतीयता, आध्यात्मिक संस्कार को खण्डहर बनाने वाले वातावरण की सृष्टि कर रहे है। वुडरोज और एल्फिन्स्टन के सन्दर्भ किस तरह सामाजिक— मनोवैज्ञानिक गुत्थियो से उलझे हुए है, इसे उपन्यासकार ने कोईलिया प्रसंग के माध्यम से उद्घाटित किया है। छोटे सरकार रामचरण—छोटी सरकार गौरी और हबीबुल्लाह दोनो अपने-अपने कोणो से उपन्यास की कथा को नया

आयाम दे रहे है। रामचरण का प्रसग इस बात का दस्तावेज है कि किस प्रकार अग्रेजो ने एव उनकी साम्राज्यवादी मानसिकता ने 'फूट डालो और राज करो' के माध्यम से भारतीय सस्कारो एव सामाजिक समरसता को लहुलुहान कर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। कजरी बाई, लतीफन बाई की कथा उपन्यास म सास्कृतिक मूल्यो की कथा को प्रस्तुत कर रही है, दुर्गाचरण, लालामनभावनलाल, कुबरादादी, धनराज कुँवर, सभी चरित्र मुशी रायजादा की कथा को ही सम्पन्न कर रहे है। मुशी जाकिर हुसैन, खान साहब जैसे चरित्र तत्कालीन भारतीय समाज की सामासिक सस्कृति को अभिव्यक्ति दे रहे है। अग्रेजी साम्राज्यवाद द्वारा उत्पन्न साम्प्रदायिकता को जाकिर हुसैन स्पष्ट देख रहे है— "मेरे सामने आने वाले जमाने का नक्शा बिल्कुल साफ है। अभी तक इस मुल्क मे जो भाईचारा एक देश मे पैदा होने के नाते हमारे-तुम्हारे बीच था, वह खत्म होगा। अब हिन्दू कौम और मुसलमान कौन का नुमाइन्दा होकर हम दोनो लडेगे यह एक ऐसी बला है जिससे हमारी आने वाली नसले बेजार होगी।" (पृष्ठ 459)

मुशी रायजादा का खानसाहब, रामचरण व मीर साहब के साथ गोरखपुर की अदालत मे उपस्थित होने का प्रसग कथा के मार्मिक स्थलो मे से है, जो रामचरित मानस के वनगमन की स्मृतियॉ ताजा करता है। मुशी रायजादा का अपने भाई रामचरण के प्रति स्नेह भारतीय सस्कार एव जीवनमूल्यो के नये स्तरो को उद्घाटित करता है। रास्ते मे ठाकुर गुरभजन सिह, बाबा रामरखदास आदि के प्रसग उपन्यास मे रायजादा के व्यक्तित्व के नये स्तरो को रेखाकित करता है कि रायजादा के यहॉ 'तहजीब और सस्कृति ही इन्सानियत है।' बाबा भैरवनाथ का प्रसग इतिहास की वह सच्चाई उकेरता है, जहॉ साधु-सन्तो ने भी अग्रेजो के खिलाफ युद्ध मे अपने को होम किया था। यह उपन्यास उन तथ्यो का इतिहास भी प्रस्तुत करता है जिससे जातियो का दर्प, सस्कार और गरिमा टूटी, वे क्या स्थिथियॉ थी जिन्होंने वास्तुकला, स्थापत्यकला आदि के सस्कारो की दीवार को ढहा दिया था। इसी लिए यह जितनी सोनारगढ, मनियारगढ, शेषमहल की कथा है, उससे कही कम भारतीय इतिहास मे बनते-बिगडते मूल्यो, स्वतत्रता आन्दोलन की कथा नही है। महात्मा गाधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, कस्तूरबागाधी, एनीबेसेन्ट सभी यहॉ लक्ष्मीकात, अभयाचरण-हेलन, अम्बिकाचरण आदि पात्रो के साथ उपस्थित है जलियॉवालाबाग हत्याकाण्ड की आहट है तो असहयोग आन्दोलन मे भाग लेती जनता और उस पर दमन करती अंग्रेजी व्यवस्था भी। सलमात अली जैसे पात्र का सकल्प भी है, 'जहॉ मै तने-तनहा हूँगा वहॉ महात्मा गाधी और खुदा दोनो मेरे दाये-बाये होगें।' (पृष्ठ

232) यहाँ आकर लक्ष्मीकात को लगता है कि ठीक जिस तरह सोनारगढ, मनियारगढ और शेषमहल के सूत्रधार पाथनदेव है, उसी प्रकार स्वतंत्रता आन्दोलन भी गाधी जैसे पाथनदेव के साथ है जो 'सिर्फ सियासी क्रान्ति ही नही, कई क्रान्तियाँ एक साथ कर रहे है।' (पृष्ठ 233) तभी लक्ष्मीकान्त हेलेन से जो रायजादा खानदान की कुलबधु है से कहते है, 'यह देश तो गाधी जैसे लोगो की ही बात सुनेगा क्योकि गाधी की बात मे देश का मानस बोलता है। यहाँ छोटे-छोटे गाधी तो भरे पडे है। तप और तपस्या का देश है यह तुम्हारे देश वालो ने भारत को सिर्फ सोने की चिडिया के रूप मे ही देखा इट हैज ए गोल्डेन सोल आलसो।' लक्ष्मीकात वर्मा का यह उपन्यास इसी गोल्डेन सोल की खोज की यात्रा है।

अपनी कथात्मक शैली, गहरी मानवीय सवेदना, मार्मिकता, जीवन्त भाषा, आचलिक शब्दो एव मुहावरो के द्वारा मानव नियति को साक्षात्कृत करने का प्रयत्न उपन्यास मे बनता है। लोककथाओ के पात्रो की जीवन्तता का अभिनव प्रयोग है, जो उपन्यास के ढाँचे को नयी परिभाषा दे रहा है। परिवेश के स्तर पर यहा वर्तमान गोरखपुर जिला, जिसमें कभी बस्ती जिला भी शामिल था, जीवन्त हो उठा है, लेकिन अर्थ की लयात्मक झनक इसे वृहत्तर परिवेश दे रही है।

उपसंहार

देश की स्वाधीनता एक ऐसी विभाजक रेखा है, जो समाज और साहित्य को देखने का सारा दृष्टिकोण ही बदल देती है। शुरु मे इस परिवर्तन की रेखाये स्पष्ट नही थी। लोगो को ऐसा भी अहसास हुआ कि 14 अगस्त की रात मे सोने और 15 अगस्त की सुबह उठने मे कही कुछ ऐसा नही था, जिसे मूल्यगत अन्तर का सकेत माना जा सके। ''बलवत सिंह के 'काले कोस' के निसार की तरह जो लोग मर पिचकर पाकिस्तान गये थे, उन्हे एक सा ही आसमान देखकर हैरत हुई थी और कृष्णा सोबती की आजादी शम्मोजान की तरह जो लोग यहीं रह गये थे, गली मे हुई सजावट और झडियों के बावजूद उनके लिए कमरे की उन्ही बोसीदा दीवारों और झिगली खाट पर वे ही पुराने और बीमार से ग्राहक थे, जिनके साथ उसे पहले की तरह ही वही सब कुछ करना था।''[2] स्वाधीन देश के प्रथम प्रधानमत्री नेहरू, भ्रष्टाचार और कालाबाजारी के विरुद्ध लम्बी चौडी घोषणाओ के बावजूद, तेजी से फैलती और पसरती इस हाहाकारी बाढ़ के आगे असहाय थे। राजनीति का अपराधीकरण एवं अपराधी का राजनीतिकरण की स्थितियॉ माहौल को और प्रदूषित कर रही थी। 15 अगस्त 1948 को यशपाल ने विप्लव के अक मे फहरते हुए राष्ट्रीय झण्डे का चित्र देते हुए, जो लिखा वह प्रेमचन्द के गबन के देवीदीन की ही बात का—गद्‌दी पर जॉन की जगह गोविन्द बैठ गया था—विस्तार था, ''15 अगस्त 1948 के दिन और इसके बाद की पूरी इबारत इस प्रकार है . पन्द्रह अगस्त के दिन राष्ट्र का तिरगा झण्डा उन सरकारी इमारतो पर फहरेगा जिनसे जनता के दमन के और सार्वजनिक अधिकारो को कुचलने के हुक्मनामे निकलते हैं। पन्द्रह अगस्त के दिन राष्ट्र का तिरगा झण्डा उन थानो और कोतवालियो पर फहरेगा जहॉ से रोटी की पुकार करने वाले निहत्थे किसानो और मजदूरो पर आक्रमण किया जाता है। पन्द्रह अगस्त के दिन राष्ट्र का तिरगा झण्डा उन जेलो पर फहरेगा जिनमे निरपराध राजनैतिक बन्दी सिसक रहे हैं, यह राजनैतिक बन्दी भूखी जनता के वही प्रतिनिधि है, जिन्होने ब्रिटिश दमन की चोट को सबसे आगे बढकर सहा था। पन्द्रह अगस्त के दिन इस झण्डे के नीचे जमीदारशाही सैकडो वर्षो तक निरीह जनता को लूटते रहने की वीरता के परिणाम मे

अपनी आय से अधिक मुआवजे का आश्वासन पायेगी। पन्द्रह अगस्त के दिन राष्ट्रीय झण्डे की छत्र-छाया मे पूँजीपति शाही अपने मुनाफे की लूट पर राष्ट्रीय अधिकार को ऑच न आने का आश्वासन पायेगी।''[3]

यह एक मोहभंग की स्थिति थी, जिसमे सबसे बडा योगदान देश विभाजन की त्रासदी का था। यह न केवल देश का विभाजन था, वरन् मूल्यो के विघटन का चर्मोत्कर्ष था। विभाजन ने साम्प्रदायिक विद्वेष, घृणा, अविश्वास एव मानवीयता के ह्रास की जो समस्या उत्पन्न की, उसमे सभी परम्परागत मूल्य ढह गये और एक नई स्थिति का उदय हुआ, जिसे हम आधुनिक व्यक्ति का आन्तरिक सकट भी कह सकते है। मनुष्य अपने पारिवारिक एव सामाजिक सम्बन्धो मे शरणार्थी बन गया और उसकी सारी प्रतिबद्धताये, एक-एककर खण्डित होती गयी। मूल्यो एव आस्थाओ के खण्डित होने से नया बुद्धिजीवी वर्ग पराजय की आत्मग्लानिपूर्ण असहाय अनुभूति मे पूरी तरह टूट गया और आगजनी, बलात्कार, अपहरण एव हत्याओ का क्रम चलता रहा। इन स्थितियो को यशपाल ने 'झूठा सच', भीष्म साहनी ने 'तमस' मे पूरी बेबाकी के साथ प्रस्तुत किया है।

स्वाधीनता ने लोगो की आशाओ एव आकाक्षाओ को तोडा था और लगभग समूचे देश को हताशा और मोहभंग की ऐसी अधी सुरग में धकेल दिया था, जिसमे घुटन-बेबसी और अधेरे के सिवा कुछ नहीं था। लेकिन इन सबके होते हुए भी उसने समाज की जड़ता को एक झटके से ही तोड दिया था और विभाजन की विभीषिका के बाद जब स्थिति सामान्य हुई तो ऐसा लगा कि हम एक पर्याप्त बदले हुए परिवेश में है। शिक्षा और नौकरी की सम्भावनाओ ने और पजाबी समाज एवं संस्कृति के अपेक्षाकृत खुलेपन एव वर्जनाहीनता ने उत्तर भारतीय समाज को भी गहराई से प्रभावित किया था। लडकों की बेरोजगारी की तुलना मे लड़कियों के लिए नौकरी के अवसर अधिक थे। इस कारण घर-परिवार एव समाज मे उनकी परम्परागत स्थिति मे अन्तर आना स्वाभाविक था। नौकरी की खोज मे गॉव से शहर आने वाले युवकों ने जिस नगरीय सभ्यता को जन्म दिया, उसने नये सामाजिक सास्कृतिक मूल्यो को पैदा किया। इन्ही मूल्यो ने स्वातत्र्योत्तर उपन्यास साहित्य की दिशा बदल दी। इन उपन्यासो मे व्यक्ति एव समाज के सम्बन्धो का पुनर्मूल्याकन व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्ध सूत्रों को अन्वेषित करने की दृष्टि से हुआ। उपन्यासकारो का मुख्य लक्ष्य सामाजिक परिधि मे व्यक्ति को भयमुक्त एव आशका रहित करके वह आत्मविश्वास देना था, जिससे व्यक्ति मे उस समर्थता का विकास हो सके, जिसके माध्यम से वह उन

सकटो, अन्तर्विरोधो, उलझनो एव अवरोधो का साक्षात्कार कर सके, जो नित्य उसकी अनुभूतियो से, आस्थाओ से टकराकर उसे जर्जरित करती रहती है। स्वाधीनता के बाद का हिन्दी उपन्यास एक स्तर पर समकालीन जीवन के दूरव्यापी विस्तार को अपने भीतर समेटता है, और दूसरे स्तर पर गहराई के आयाम मे कुण्ठित और खण्डित व्यक्तित्व की करुणा को अभिव्यजित करता है। कुल मिलाकर उसमे समकालीन जीवन के विविध रूपो की, विशेषकर पूर्ववर्ती युग की तुलना मे, पर्याप्त विविध झॉकी मिलती है, मनुष्य के कई एक परिचित-अपरिचित रूपो के, परिवेश, और उसके साथ सम्बन्ध के, मानवीय सम्बन्धो और परिस्थितियो के चित्र मिलते है।

आधुनिक हिन्दी उपन्यास मे जीवन का विस्तार अधिक है, जिसके विविध रूप, स्तर एव आयाम है। कही यह विस्तार काल मे बडा है, कही मानव अनुभूति की दृष्टि से और कही मनुष्य के टूटने बनने की दीर्घ और बहुमुखी गाथा अकित करने का प्रयास करता है। इन उपन्यासो मे सामाजिक उतार-चढाव भी पूरी भास्वरता के साथ उपस्थित है। कही 'राग दरबारी', 'लाल पीली जमीन', 'यह पथ बन्धु था', 'उखडे हुए लोग', 'महाभोज', 'अलग-अलग वैतरणी', 'नीला चॉद', 'सोना माटी' है, तो कही 'सूखा बरगद' (मजूर), 'काला जल' (शानी), 'आधा गॉव', 'सात आसमान', 'मित्रो मरजानी' है। 'एक चूहे की मौत', 'अंधेरे बन्द कमरे', 'कुरु-कुरु स्वाहा', 'कसप', 'बेघर', 'रात का रिर्पोटर', 'जिन्दगीनामा', 'मुझे चॉद चाहिये', 'नौकर की कमीज' की परम्परा भी अपने बहुआयामी स्वरूप के साथ उपस्थित है। कही यह विस्तार जीवन के किसी एक अश की, विशेषकर परम्परागत अश को, उसके समस्त पिछड़ेपन और सकीर्णता, अध विश्वासो और सस्कारो के साथ प्रस्तुत करता है और नयी तथा पुरानी नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक मान्यताओ के बीच टकराहट के सन्दर्भ मे दिखाता है। जीवन के किसी एक विशेष क्षेत्र या खण्ड को अधिकाधिक समग्रता के साथ प्रस्तुत करने की और साथ ही मध्यवर्गीय जीवन की एकरस कुण्ठा से उकताकर नया भाव जगत खोजने की प्रेरणा ने कुछ ऐसे उपन्यासो की सृष्टि की है, जिनमे किसी जाति विशेष अथवा धन्धे के लोगो के जीवन को चित्रित किया गया है। 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' (अब्दुल बिस्मिल्लाह), मुर्दों का ओीला (रागेय राघव), अल्मा कबूतरी (मैत्रेयी) इस प्रकार की औपन्यासिक सर्जना का उल्लेखनीय उदाहरण है।

जिन्दगी के बाह्य यथार्थ से साक्षात्कार की एक अन्य अभिव्यक्ति हुई है, आचलिक उपन्यासो मे, जिसका उदय रेणु के 'मैला आँचल' से होता है। डॉ० शिवप्रसाद सिह ''आचलिकता की प्रवृत्ति को स्वातत्र्योत्तर हिन्दुस्तान की सास्कृतिक प्रवृत्ति मानते है। जिसके भीतर भारतीयता को अन्वेषित करने की सूक्ष्म अन्त:धारणा काम कर रही थी''[1]। नागार्जुन रेणु के पहले से लिख रहे थे, किन्तु उन्हे 'मैला आँचल' के आने के बाद आचलिक उपन्यास का चिन्ह मिला। इनका 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ' और 'वरुण के बेटे' आचलिक उपन्यासो की समस्त शिल्पगत विशेषताओ से पूर्ण न होते हुए भी मात्र अचल केन्द्रित कथावस्तु और आचलिक भाषा प्रयोग के कारण ही आंचलिक माने जाते रहे है। शिवप्रसाद सिह का 'अलग-अलग वैतरणी', राही मासूम रजा का 'आधा गाँव' रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ', आचलिक उपन्यास के स्वरूप को विस्तृत करता है। विवेकी राय का का 'बबूल', श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' केशव प्रसाद मिश्र का 'कोहवर की शर्त' केवल आंचलिक भाषा प्रयोग के आधार पर ही आचलिक उपन्यास मान लिया जाता है, जबकि इनमे से अधिकाश मे आचलिक वातावरण का भी निर्माण नही हुआ है। अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' के बाद शहरी आचलिकता का भी प्रश्न उठा। जनपदीय, प्रादेशीय एव स्थानीयता के रग से रगे हुए उपन्यास भी इस युग को नया तेवर देते हैं।

हिन्दी उपन्यास यात्रा इस बात कि गवाह है कि वह समकालीन समस्याओ से जूझते रहने के साथ ही सामयिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं पर्यावरणीय समस्याओ को भी अपना अग बनाती रही है। इसके अपने टोटे भी है। रिपोर्ताज और सर्जनशील लेखन का अन्तर खत्म होने की सम्भावना होती है, कृति कल्पना और चितन की प्रक्रिया से न गुजरकर तात्कालिक के आवाहन से शक्तिक्षीण हो जाती है। परन्तु कुछ उपन्यास लेखक खतरो को उठाकर भी महत्त्वपूर्ण रचना दे सके हैं। शिक्षा के क्षेत्र मे चल रही हलचले लेखको के लिए सर्वाधिक निकट लगे स्वाभाविक है। गिरिराज किशोर ने 'परिशिष्ट' में दलित छात्रो के साथ होने वाले अत्याचारो का पर्दापाश किया है। काशीनाथ सिंह का 'अपना मोर्चा' छात्रों के आन्दोलनो की तस्वीर प्रस्तुत करता है। श्रवण कुमार गोस्वामी का 'चक्रब्यूह' विश्वविद्यालययीन परिवेश को समग्रता मे चित्रित करता है। विश्वविद्यालय मे चल रहे भ्रष्टाचार, जातिवाद, मारधाड, राजनैतिक हस्तक्षेप का घिनौना रूप इत्यादि के कुचक्र मे एक मूल्यों के प्रति समर्पित कुलपति किस तरह यातना

---

[1] डॉ० शिव प्रसाद सिह—आधुनिक परिवेश व नव लेखन, पृ० 118

भोगता है, इसमे इसका बडा सवेदनशील चित्र उकेरा गया है। निर्मल वर्मा का 'रात का रिपोर्टर' आपातकाल मे 'सफोकेट' होनेवाली मनुष्य चेतना का सूक्ष्म निरीक्षण करता है।

युद्ध से सम्बन्धित एव उसकी पृष्ठभूमि से सम्बन्धित उपन्यास भी लिखे गये। निर्मल वर्मा का 'वेदिन' गिरीश अस्थाना का 'धूप छाही रग', सुदर्शन मजीठिया का 'तोपो के साये मे'।

हिन्दी उपन्यासकार नये क्षेत्रो को ढूढकर, अच्छे उपन्यास दे रहे हैं। नाटक और फिल्म को अपनाकर सुरेन्द्र वर्मा ने कलाकारो से सम्बन्धित अनेक सार्थक प्रश्न उठाकर 'मुझे चॉद चाहिये' जैसी रचना की है। 'मुझे चॉद चाहिए' उपन्यास की अन्तर्वस्तु एक कलाकार का सघर्ष है। यह सघर्ष भी दो स्तरो पर चलता है—एक स्तर पर कलाकार का 'व्यक्ति' के रूप मे अपने परिवार, निजी सम्बन्धो, कला के बाजार और विपरीत सामाजिक परिस्थितियो से कठोर संघर्ष, दूसरे स्तर पर एक 'कलाकार' के रूप मे अपने माध्यम, कला-मूल्यो, कला-परिवेश तथा अपनी कलात्मक लालसा और निजी क्षमता के बीच सतुलन का विकट आत्म सघर्ष। इस दृष्टि से यह सघर्ष जितना वाह्य है, सामाजिक, उतना ही निजी और आभ्यान्तरिक भी। यह संघर्ष एक खतरनाक आत्मसंघर्ष भी है। इस तरह यह उपन्यास सामाजिक सघर्ष से लहूहूहान कलाकार की सूली मे बिधी हुई आत्मा का विलक्षण एव जीवन्त दस्तावेज है। इस मूल अन्तर्वस्तु की अभिव्यजना के लिए लेखक ने रगमच और सिनेमा के कला माध्यमो को चुना है। इस कजात्मक पृष्ठभूमि मे ही 'मुझे चॉद चाहिए' की विलक्षण किन्तु त्रासद प्रेम कहानी का धूप-छॉही ताना-बाना बुना गया है।

हिन्दी उपन्यास की समृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण अग है उसका मिथकीय उपन्यास। भारत एक पुराणकथाओं से समृद्ध देश है और आधुनिकता के बावजूद यह पुराणप्रियता शिक्षित मानस मे दिखाई देती है। हिन्दी लेखक पर समकालीनता अथवा समसामयिकता का इतना गहरा प्रभाव है कि वह ऐतिहासिक युग मे महज ऐतिहासिक तथ्यो को अपनी समसामयिक या आधुनिक दृष्टि से देखता है और पुराण या इतिहास और आधुनिकता के समन्वित नजरिए से रचना के लिए प्रेरित होता है। राहुल साकृत्यायन का 'सिह सेनापति', चतुरसेन शास्त्री का 'वैशाली की नगर वधू', 'सोमनाथ' ऐतिहासिक उपन्यास है। 'वय रक्षाम·' मे प्राग्वेदकाल की कथाओं को तत्काल के सजीव वातावरण मे एक साथ बुनने का अच्छा प्रयास है। लेकिन हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'वाणभट्ट की आत्मकथा' नामक बहुत ही अच्छा उपन्यास प्रस्तुत

किया जिसमे प्रेम की आधुनिक और शाश्वत दृष्टि से वाणभट्ट की जीवनी को देखने का प्रयास किया गया। स्वाधीनता युग मे 'चारुचन्द्र लेख' एक उल्लेखनीय उदाहरण है, जिसमे 12वी शदी के विघटनशील भारत का चित्रण है। इस अधकारमय युग मे भी भारत की सार्वकालिक चेतना की दीप्ति दिखाने का प्रयास किया गया है। इसमे भारत की आध्यात्मिक साधना को लोकोन्मुख बनाने का सदेश व्याप्त है। 'पुनर्नवा' में चौथी शताब्दी का चित्रण है तो 'अनामदास का पोथा' मे द्विवेदी जी उपनिषद्काल की सास्कृतिक स्थिति को साकार करते है। द्विवेदी जी की मुख्य चिता अध्यात्म को निजी चेतना से मुक्त कर जन-जीवन से सबद्ध करने की रही है। इसी कडी मे शिव प्रसाद सिह 'दिल्ली दूर है', 'नीला चॉद', के साथ हिन्दी उपन्यास यात्रा मे उपस्थित है। 'नीलाचॉद' 11वी शदी मे काशी के राजनैतिक, सास्कृतिक एवं सामाजिक परिवेश मे उत्पन्न सघर्ष और व्यथा का चित्रण करता है। कीरत और श्री मॉ के चरित्रो के माध्यम से काशी के उदात्त मूल्यो को तथा शूद्रो की पीडा को मुखर करते हुए धार्मिक पाखडो, असगतियो, अन्तर्विरोधो का सकेत किया गया है। मिथकीय उपन्यास का एक अन्य रूप हिन्दी मे नरेन्द्र कोहली के माध्यम से आया। इन्होने रामकथा का आधुनिकीकरण करते हुए 'दीक्षा', 'अवसर', 'सघर्ष की ओर' उपन्यास लिखे। राम को एव समस्त परिवेश को मानवीय धरातल देने एवं यथार्थ और वैज्ञानिक बनाने के प्रयास मे कोहली ने मिथकीय वातावरण एव अलौकिकता को नि:शेष करने का प्रयास किया है और अनेक अद्भुत घटनाओ को बुद्धिसम्मत रूप देने का प्रयास किया है। परिणामत: सास्कृतिक घटनाओं को राजनीतिक, समाजशास्त्रीय रूप मिला है। कहीं राक्षस पूजीपति वर्ग के प्रतीक है और राम तथा उनकी वानर सेना मजदूर वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली सेना बन जाती है। कही आधुनिक युग की सस्थाओ, कार्यक्रमो, उद्योगो और बहसो को रामायणकाल मे ले जाया गया है। लेकिन यह निश्चय स्वीकार करना पडेगा कि रामायण एव महाभारत को आधार बनाकर लिखे बहुत सारे उपन्यासो मे नरेन्द्र कोहली की रचनाये शीर्षस्थ स्थान पर आती है। डॉ० भगवान सिह ने 'अपने-अपने राम' मे राम विषयक सदर्भो का देवीकरण पूर्णत नि:शेष कर राजनीतिक यथार्थ का असली चेहरा दिखने का प्रयास किया है, जो रेखाकित करने योग्य है। मिथकीय दुनियॉ का निषेध करने वाली यह रचना है।

उपन्यास मे इतिहास एक ही तरह से नही आता। 'जिन्दगीनामा', 'मय्यादास की माडी', 'महाभोज', 'कालकथा ' अपने-अपने राम', 'कलिकथा वाया वाइपास', मे 'पाहीघर', 'सात आसमान', हमारा शहर उस बरस' और 'सोन बरसा' मे वह अलग-अलग तरह से अलग-अलग रूपो मे आता है। 'उन्माद मे

इतिहास प्रच्छन्न रूप मे है— सिर्फ इस अर्थ मे है कि जब भी साम्प्रदायिकता के रूपो - प्रकारो का विश्लेषण किया जायेगा, साम्प्रदायिकता का इतिहास याद आयेगा, वे परिस्थितियाँ याद आयेगी जिनमे राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ, विश्व हिन्दू परिषद, शिवसेना, बजरग दल जैसे सगठन बने और एक तरह के Fundamentalıst Rehetorıc या बडबोली आक्रामकता के बल पर ताकतवर और सत्ता के सहयोगी बने।[1] साम्प्रदायिकता उन्माद है तो केवल वैयक्तिक स्तर पर नही, सामूहिक स्तर पर भी। इसी उन्माद का एक अन्य विमर्श 'कितने पाकिस्तान' के रूप मे उपस्थित है जो अपनी कथा ढाँचा एव शिल्प सगठन की दृष्टि से 21 वी सदी की उपन्यास यात्रा की विशिष्ट पहचान है। कमलेश्वर लिखते है, ' कोई भी सस्कृति पाकिस्तानो के निर्माण के लिए जगह नही देती। सस्कृति अनुदार नही उदार होती है वह मरण का उत्सव नही मनाती, वह जीवन के उत्सव की अनवरत श्रृखला है इसी सामाजिक सस्कृति की जरूरत हमे है क्यो कि वह जीवन का सम्मान करती है।' कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' इतिहास और सस्कृति की इसी गहरी समझ का विराट फलक बनकर आया है। मनुष्य के वर्तमान, समसामयिक चिन्ताओ को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे विश्लेषित करता यह उपन्यास न केवल राष्ट्रीय सन्दर्भों तक ही अपने को सीमित रखता है अपितु पूरे जहान की राजनीतिक, सामाजार्थिक ज्वलत समस्याओ से जूझता सही अर्थो में पाठक को एक ग्लोबल गाँव-समाज का सदस्य बना देता है। 'कितने पाकिस्तान' में अतीत, इतिहास, परपरा का इस्तेमाल इस रूप मे किया गया है कि वह हमारे वर्तमान के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नो और समस्याओ को समझने की एक नयी दिशा और चितन पद्धति दे सके। उपन्यास का नायक, जो हिन्दी उपन्यास के नायकत्व से अलग है, अदीबे आलिया ही 'मनुष्य की सबसे बडी धरोहर' 'बेलौस, बेखौफ आवाज' की रक्षा करने मे समर्थ है। इंसानियत की यही आवाज अदीब की आवाज बनकर सारी दुनिया के सास्कृतिक इतिहास मे उन विलगाववादी तत्त्वो को तलाशती है जो 'पाकिस्तानो' की निर्मिति मे अपनी भूमिका निभाते रहे है। 'उन्माद' के रतन आबिदा की प्रेमकथा के समान यहाँ भी सलमा और अदीब की प्रेमकथा का प्रसग अनुस्यूत है। यह प्रेम न केवल हिन्दू-मुस्लिम के बीच की दीवार को गिराता है, अपितु हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रूप मे जाने जाते मुल्को की सीमा को भी अमान्य करता है— उनका एक ही रिश्ता है मानवीयता का।

---

1 कथाक्रम-6 जुलाई 92, डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव का लेख

9 वे एव 10 वे दशक ने हिन्दी उपन्यास की अनेक रूढियो को तोडा है। न केवल भाषा एव शिल्प के स्तर पर बल्कि कहना चाहिये हिन्दी उपन्यास की जमीन छद्म आधुनिकता, व्यक्तिवाद, मार्क्सवादी लेखन की अति क्रान्तिकारिता के शोर से दूर होकर जीवन और समाज के व्यापक परिवेश को स्पर्श कर रही है। इस दृष्टि से मनोहर श्याम जोशी का 'कुरू-कुरू स्वाहा' के बाद प्रकाशित' कसप प्रेमकथाओ की दुनियॉ में नई दस्तक है। मै इसे कथ्य एवं शिल्प के स्तर पर एक युगान्तकारी उपलब्धि मानता हूँ। किस्सागोई आधुनिक युग मे विरल होती गयी है और कला के स्तर पर सम्भावना रहित मान ली गयी है। जोशी जी ने इसी तत्त्व को नयी क्षमता के साथ सर्जनात्मक इस्तेमाल किया है। 'सम्बन्धो की जीवित तात्कालिकता मे मिथकीय स्मृतियो, सस्कारो को अकित करते हुए निकटता और दूरी का खास सन्तुलन साधते हुए जोशी ने एक ऐसी कथा भाषा उपलब्ध की है जिसके लिए शिल्प सजग लेखक ईर्ष्या करेगे। गम्भीर और अगम्भीर रोमाण्टिक और भदेस का ऐसा सगठन कम लेखको के यहॉ दिखाई देता है। वर्तमान को मिथक पुराण मे और मिथक पुराण को वर्तमान मे बदलने की प्रक्रिया जोशी की कथा प्रक्रिया का जरूरी पहलू है।'[1] कसप मध्यवर्गीय घरेलू जीवन मे घटित प्रेम कहानी है, जिसकी नायिका बेबी हिन्दी कथा साहित्य के अविस्मरणीय चरित्रो में गिनी जायेगी। डी० डी० का लाटापन व्यक्तित्व के रूप में अनोखा अनुभव है। 'सूखा बरगद' की व्याख्या अगर साम्प्रदायिकता की समस्या से अलग हटकर की जाये तो यह विशुद्ध प्रेम का उपन्यास है जिसकी परिणति अलगाव में होती है। 'सूखा बरगद' की रशीदा हिन्दू युवक विजय से प्रेम करती है जबकि रशीदा का भाई विजय की बहन की ओर आकृष्ट होता है। इस उपन्यास ने पहली बार प्रेम के विखण्डन के कारणो मे सामाजिक कारणों को जिम्मेदार ठहराया है। यह सामाजिक कारण है— साम्प्रदायिकता का नया उभार जो न केवल समाज को तोड़ रहा है बल्कि प्रेम जैसी कोमल भावनाओ को भी कुचल रहा है। 'सूखा बरगद' मे प्रेम की जो ट्रेजडी बयान की गई है वह हमारे समय की सबसे बड़ी चुनौती भरी ट्रेजडी है। प्रेम की मीमासा एव खोज 'मुझे चॉद चाहिये' मे भी है जो वर्षा वशिष्ठ की 'सघर्ष गाथा' के रूप मे उपस्थित है, किन्तु विनोद कुमार शुक्ल का 'दीवार मे एक खिडकी रहती थी' इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसने न केवल हिन्दी कथा क्षेत्र मे दाम्पत्य प्रेम की नीव डाली है, बल्कि दूसरी ओर कथा लेखन में कविता और उपन्यास (गद्य) के बीच सदियों से खड़ी भेद की नकली

---

1 उपन्यास का पुर्नजन्म— प्रो० परमानन्द श्रीवास्तव

दीवार को ढहा दिया है। विनोद कुमार शुक्ल ऐसे कथाकार है, जो परकीया प्रधान प्रेम से विमुख होकर पत्नी को ही 'प्रेयसी' का दर्जा देते है। पत्नी सोनसी का जितना रसमय और विस्मयकारी वृत्तान्त इस उपन्यास मे दिखाई देता है वह इतना परिचित, किन्तु अपरिचित प्रेम का इलाका है, जो इस शताब्दी के कथा लेखन मे एक आश्चर्य लोक की तरह है। प्रकृति और स्त्री के सौन्दर्य को मिलाकर इस उपन्यास में प्रेम की ऐसी अनजान खिडकी खोली गई है जो हमारे कथा क्षेत्र मे सदियो से बन्द थी। इसलिए हिन्दी उपन्यास की प्रेम दुनियॉ का यह एक नया अध्याय है। विष्णु खरे ने इस उपन्यास के अनुकथन मे स्पष्ट किया है, 'इस उपन्यास मे कोई महान घटना, कोई विराट सघर्ष, कोई युग सत्य, कोई उद्देश्य या सन्देश नहीं है। कथानक कस्बाई महाविद्यालय के गणित के व्याख्याता रघुवर प्रसाद और उनकी नवविवाहिता सोनसी के आस पास बुना गया है। परिवेश निम्नमध्यवर्गीय है जहा पास-पडोस, परिवार, महाविद्यालय उसके छात्र, कर्मचारी और रोजमर्रा के जीवन के ब्यौरे अपने पूरे बिस्तार मे मौजूद है। यहॉ न नायक है, न खलनायक, बस जीवन और उसकी जीवन्तता है। लोक और उनका जीवन, सादा और निरीह है लेकिन चमत्कार की गुजाइश और प्रतीक्षा बनी रहती है।' [1] कहना न होगा कि यह अपने आप मे एक उपलब्धि है, क्योकि इससे पहले हिन्दी उपन्यास मे निम्न मध्यवर्गीय जीवन या तो हताशा और ऊब का स्रोत रहा है, या ब्लैक ह्यूमर का। इसीलिए मधु बी० जोशी इसे 'समकालीन वैष्णव पाठ' कहते है। रबीन्द्र त्रिपाठी के अनुसार, 'यो तो पहले भी कई उपन्यासो को कवित्वपूर्ण या काव्यात्मक कहा गया है लेकिन 'दीवार मे एक खिडकी रहती थी' की काव्यात्मकता भिन्न किस्म की है। दूसरे उपन्यासों को जब काव्यात्मक कहा गया तो उसका मतलब मोटे तौर पर भाषा का काव्यात्मक होना रहा है। लेकिन विनोद कुमार शुक्ल के इस उपन्यास की काव्यात्मकता सिर्फ भाषा के स्तर पर नही है, बल्कि पूरे 'विजन' के स्तर पर है।' 'दीवार मे एक खिडकी रहती थी' हमारे अनुभव करने के ढग को बदल देती है। हम अपने आस पास को नये तरीकों से देखने लगते है उसमे वह देखने की कोशिश करते हैं, जो अब तक 'अनदीखा' था, पर वहॉ मौजूद था। अमूर्तन के स्तर पर कविता यही करती है। इसी अर्थ मे यह उपन्यास काव्यात्मक है।

इस दौर के उपन्यासो मे एक नया स्वर स्त्री के परम्परागत ढॉचे को तोडकर नयी-नयी चेतना व स्फूर्ति प्रदान करता है, जो उसे सतीत्व व देवीत्व के कटघरे से निकालकर उसे इन्सान के रूप मे देखने

---

1 हस, मार्च 1999

समझने का यत्न करता है। 'अब वह केवल खिलौना नही केवल रमणी भी नही, मात्र सगिनी भी नही, अधिकाधिक व्यक्ति होती जा रही है।'[1] नारी लेखिकाओ ने भी परम्परागत नारी चिन्ताओ और प्रश्नो से मुक्त होकर उपन्यास साहित्य को नयी भूमि दी है, जो राजनीति, मानवीय सम्बन्ध, सामाजिक व्यवस्था, स्त्री नियति और शोषण, स्त्री-पुरूष सम्बन्ध जैसे अन्य अनेक प्रश्नो से निर्मित हुई हैं। इनमे कृष्णा सोबती अग्रगण्य है, जिन्होने महिला लेखन को सम्पूर्ण लेखन मे परिवर्तित कर दिया है। मन्नू भण्डारी की उपन्यास यात्रा महिला लेखन को नये स्तर पर प्रतिष्ठित करता है। प्रेम व जीवन के सवेगात्मक पक्षो पर सफलता पूर्वक प्रतिष्ठित लेखन के बाद मन्नू ने 'महाभोज' लिखकर हिन्दी उपन्यास को समाज के व्यापक व ज्वलतसत्य से जोड दिया। आपातकाल के तत्काल बाद की परिस्थितियो और राजनीति के अर्थहीन होती जाती परिस्थितियो के बीच जनमानस की यातना, सघर्ष और उसके स्वप्न भग को जितनी सजीदगी एव ओजस्विता के साथ इन्होने अकित किया है, वह अन्यतम है। इस यात्रा को राजी सेठ ने 'तत्सम' से आगे बढाया है। 'निष्कवच' मे उन्होने मूल रूप से विस्थापित युवा पीढी की मानसिकता को विश्लेषित करने की कोशिश की है। उषा प्रियबदा, ममता कालिया, प्रभाखेतान, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग, अलका सरावगी, साराराय, गीताजली श्री अपनी औपन्यासिक यात्रा के माध्यम से जन-जीवन मे सार्थक हस्तक्षेप के साथ उपस्थित हैं। 20 वीं सदी का अतिम दशक अगर इसलिए याद किया जाये कि उसमे हिन्दी महिला उपन्यास लेखन ने अपनी सम्पूर्ण दृष्टि पा ली है तो कोई आश्चर्य नही होगा।

---

1 अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन, पृ० 6

परिशिष्ट

परिशिष्ट

निबंध एव आलोचना साहित्य

अधूरे साक्षात्कार नेमिचन्द्र जैन

अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या प्रो रामस्वरूप चतुर्वेदी

अज्ञेय . सम्पादक-विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

आधुनिक हिन्दी उपन्यासो मे प्रेम की परिकल्पना . विजय मोहन सिह

आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ बच्चन सिंह

आप का बन्टी : मन्नू भडारी

उपन्यास का पुनर्जन्म : प्रो परमानन्द श्रीवास्तव

उपन्यास की शर्त : जगदीश नारायण श्रीवास्तव

उपन्यास स्थिति और गति : चन्द्रकान्त वादिबडेकर

गोदान . मुन्शी प्रेमचन्द

गोदान का महत्व . सम्पादक-डॉ सत्य प्रकाश मिश्र

गोदान . नया परिप्रेक्ष्य डॉ गोपाल राय

गोदान . सम्पादक-राजेश्वर गुरू

जिन्दगी नामा : कृष्ण सोबती

झूठा सच : यशपाल, सस्करण 1960

नया सिनेमा : विनोद भारद्वाज

नयी कविता का आत्म-सघर्ष तथा अन्य निबन्ध	:	मुक्तिबोध
निराला का काव्य	:	डॉ जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव
निराला की साहित्य साधना भाग-दो	:	डॉ राम विलास शर्मा
नौवे दशक के हिन्दी उपन्यास		डॉ रामविनोद सिह
प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास, दूसरा भाग		डॉ चमन लाल
प्रेमचन्द और उनका युग		डॉ रामविलास शर्मा
भाषा और सवेदना		डॉ रामस्वरूप चतुर्वेदी
मैला ऑचल	:	फणीश्वर नाथ रेणु
वाणभट्ट की आत्मकथा		आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
शेखर : एक जीवनी विविध आयाम	:	सम्पादक-डॉ राम कमल राय
समकालीन हिन्दी उपन्यास	:	डॉ राम विनोद सिंह
समकालीन नाटककार	:	प्रो (श्रीमती) गिरीश रस्तोगी
साहित्य तत्व और आलोचना	.	सम्पादक-कुमुद शर्मा
साहित्यिक निबन्ध	·	डॉ त्रिभुवन सिह
साहित्य ओर इतिहास दृष्टि	:	प्रो मैनेजर पाण्डेय
साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका		प्रो मैनेजर पाण्डेय
हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास	.	रामस्वरूप चतुर्वेदी
हिन्दी साहित्य का इतिहास	:	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी का गद्य-साहित्य	:	डॉ रामचन्द्र तिवारी
हिन्दी साहित्य का इतिहास	:	सम्पादक-डॉ नगेन्द्र

हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद : निर्मला जैन एव नित्यानन्द तिवारी

हिन्दी उपन्यास का विकास : मधुरेश

हिन्दी कहानी का विकास : मधुरेश

हिन्दी के आचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प-विधि : डॉ आदर्श सक्सेना

आज का हिदी उपन्यास हिदी उपन्यास · हिन्दी कहानी एक नयी दृष्टि डॉ इन्द्रनाथ मदान

हिन्दी उपन्यासो का शिल्पगत विकास डॉ उपा सक्सेना

हिन्दी उपन्यास की शिल्प-विधि का विकास . डॉ (श्रीमती) ओम शुक्ल

जैनेन्द्र के उपन्यासो का शिल्प ओमप्रकाश शर्मा

शैली . करुणापति त्रिपठी

स्वातंत्रशेत्तर हिन्दी उपन्यास : डॉ कान्ति वर्मा

फणीश्वरनाथ रेणु की उपन्यास कला—बसुमती : कुसुम सोफट

सौन्दर्य-शास्त्र के तत्त्व डॉ कुमार विमल

हिन्दी उपन्यास की शिल्प-विधि का विकास · डॉ कृष्णा नाग

हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन डॉ गणेशन

हिन्दी कथा साहित्य : गगाप्रसाद पाण्डेय

सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप गुलाब राय

उपन्यास का शिल्प : डॉ. गोपाल राय

शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त : डॉ गोविन्द त्रिगुणायत

हिन्दी की गद्य शैली का विवेचन हिन्दी डॉ जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

कहानी का रचना-विधान

साहित्य का श्रेय और प्रेय . जैनेन्द्र कुमार

आधुनिक हिन्दी गद्य और गद्यकार : डॉ जेकब पी जार्ज

हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग : डॉ त्रिभुवन सिंह

हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद

साहित्य और सस्कृति : डॉ देवराज

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और . डॉ देवराज उपाध्याय

मनोविज्ञान कथा के तत्त्व

नयी कहानी . सन्दर्भ और प्रकृति डॉ देवीशकर अवस्थी (सपादक)

विचार और अनुभूति : डॉ नगेन्द्र

भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका . डॉ नगेन्द्र

विचार और विश्लेषण

आधुनिक साहित्य : डॉ नन्द दुलारे वाजपेयी

कविता के नये प्रतिमान : डॉ. नामवर सिंह

कहानी : नयी कहानी

हिन्दी के आचलिक उपन्यास · प्रकाश वाजपेयी

हिन्दी उपन्यास मे कथा-शिल्प का विकास : डॉ प्रतापनारायण टण्डन

हिन्दी उपन्यास-शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य : डॉ प्रेम भटनागर

कुछ विचार : प्रेमचन्द

भारतीय साहित्य-शास्त्र . प बलदेव उपाध्याय

हिन्दी गद्य के विविध साहित्य रूपो का उद्‌भव और विकास : डॉ बलवन्त लक्ष्मण कोतविर्रे

हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण : डॉ महेन्द्र चतुर्वेदी

हिन्दी उपन्यास मे चरित्र-चित्रण का विकास : डॉ रणवीर राग्रा

हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा . डॉ रामदरश मिश्र

काव्यलोक' (द्वितीय उद्योत) प रामदहिन मिश्र

हिन्दी के आचलिक उपन्यास राधेश्याम कौशिक

उपन्यास और लोक जीवन रैल्फ फाक्स

हिन्दी कहानियो की शिल्प-विधि का विकास . डॉ लक्ष्मीनारायण लाल

बीसवी शताब्दी हिन्दी साहित्य : नये सदर्भ : डॉ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

साहित्यालोचन : डॉ श्यामसुन्दर दास

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यो का शिल्प-विकास : डॉ श्यामनन्दन किशोर

आधुनिक परिवेश और नवलेखन : डॉ शिवप्रसाद सिंह

हिन्दी उपन्यास . ऐतिहासिक अध्ययन : डॉ शिवनारायण श्रीवास्तव

हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष . शिवनन्दन सिह चौहान

हिन्दी साहित्य सर्वस्व प सीताराम चतुर्वेदी

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासो कर शिल्प-विधि . डॉ सत्यपाल चुघ

हिन्दी उपन्यास : डॉ सुषमा धवन

समीक्षा के सिद्धान्त : डॉ सत्येन्द्र

हिन्दी उपन्यास साहित्य का शास्त्रीय विवेचन : डॉ श्रीनारायण अग्निहोत्री

विचार और वितर्क : डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचलिक उपन्यास : सवेदना और शिल्प : डॉ ज्ञानचन्द गुप्त

साहित्य : तत्व और आलोचना : डॉ रामविलास शर्मा

प्रेमचन्द के श्रेष्ठ निबन्ध : डॉ सत्य प्रकाश मिश्र

बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबन्ध : डॉ सत्य प्रकाश मिश्र

प्रसाद के सम्पूर्ण उपन्यास : स० सत्य प्रकाश मिश्र

प्रेमचन्द्र और उनका युग · रामविलास शर्मा

आधुनिक परिवेश और नवलेखन . डॉ शिवप्रसाद सिह

एक दुनिया समानातर . राजेन्द्र यादव

आचलिकता और आधुनिक परिवेश डॉ शिवप्रसाद सिह

प्रेमचन्द्र पूर्व हिन्दी उपन्यास : के प्रकाश

प्रेमचन्द्र पूर्व हिन्दी उपन्यास : डॉ ज्ञानचन्द्र जैन

गोदान का महत्त्व : डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र

आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता : नवल किशोर

प्रेमचन्द्र विरास का सवाल : शिवकुमार मिश्र

शेखर · एक जीवनी स रामकमल राय

शेखर : एक जीवनी · गोपाल राय

यह पथ बन्धु था : एक अध्ययन : डॉ सत्य प्रकाश मिश्र

अग्रेजी उपन्यास का विकास और उसकी रचना पद्धति : श्री नारायण मिश्र

अमृतलाल नागर का उपन्यास साहित्य . श्री प्रकाश चन्द्र मिश्र

आज का हिन्दी साहित्य . श्री प्रकाशचन्द गुप्त

आज की हिन्दी उपन्यास : डॉ इन्द्रनाथ मदान

आधुनिक हिन्दी उपन्यास : सम्मा डॉ नरेन्द्र मोहन

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास : बाबू लाल आच्छा
इतिहास के दो ललित अध्याय

आचलिक उपन्यास . सवेदना और शिल्प . डॉ ज्ञानचन्द गुप्त

आधुनिकता के सन्दर्भ मे आज का . डॉ अतुलवीर अरोडा
हिन्दी उपन्यास

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य : डॉ देवराज उपाध्याय
और मनोविज्ञान

आधुनिक साहित्य : प नददुलारे वाजपेयी

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और : डॉ बेचन
चरित्र विकास

आस्था और सौन्दर्य . डॉ रामविलास शर्मा

आस्था के प्रहरी · डॉ सत्यपाल चुघ

उपन्यास का शिल्प डॉ गोपाल राय

उपन्यास के तत्त्व : ई एम फास्टर

उपन्यास : सिद्धान्त और सरचना : डॉ रवीन्द्र कुमार जैन

ऐतिहासिक उपन्यासकार : : डॉ. रामदरश मिश्र
वृन्दावन लाल वर्मा

ऐतिहासिक उपन्यास : प्रकृति ओर स्वरूप : डॉ गोविन्द जी

कथा के तत्त्व : डॉ देवराज उपाध्याय

कामायनी के अध्ययन की समस्याए : डॉ नगेन्द्र

कलम का सिपाही : श्री अमृत राय

क्योकि समय एक शब्द है। : डॉ रमेश कुन्तल मेघ

गोदान गवेषणा स कपितदेव सिह,

पदम्नारायण निशातकेतु

चिन्तन के क्षण : डॉ विजयेन्द्र स्नातक

तुला और तारे · डॉ सावित्री सिन्हा

नए उपन्यास : स्वरूप और तत्त्व : डॉ रामगोपाल शर्मा

नया साहित्य : नये प्रश्न : आचायै नन्ददुलारे वाजपेयी

विमर्श और निष्कर्ष : डॉ सरनामसिंह शर्मा

विवेक के रंग : राजेन्द्र यादव

शेखर एक जीवनी : मूल्याकन : डॉ गोपालराय

समकालीन हिन्दी साहित्य · आलोचना डॉ बच्चन सिह

को चुनौती

स्वातत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चतना : डॉ ज्ञानचन्द गुप्त

साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य . डॉ रघुवंश

सृष्टि की दृष्टि : डॉ शलभ

हिन्दी उपन्यास : डॉ सुषमा धवन

हिन्दी उपन्यास : डॉ शिवनारायण श्रीवास्तव

हिन्दी उपन्यास . एक अन्तर्यात्रा : डॉ रामदरश मिश्र

हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख : डॉ इन्द्रनाथ मदान

हिन्दी उपन्यास कला : डॉ प्रतापनारायण टण्डन

हिन्दी उपन्यास पहचान और परख . डॉ सुरेश सिन्हा

हिन्दी उपन्यास उपलब्धिया डॉ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

हिन्दी उपन्यास युग चेतना और पाठकीय सवेदना डॉ मुकुन्द द्विवेदी

हिन्दी महाकाव्य : स्वरूप और विकास · डॉ शम्भूनाथ सिह

हिन्दी उपन्यास साहित्य : ब्रजरत्नदास

हिन्दी कथा–साहित्य : पदुम्लाल पुन्नालाल बख्शी

हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तिया : डॉ शशिभूषण सिहल

हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण : डॉ महेन्द्र चतुर्वेदी

हिन्दी उपन्यास : डॉ सुरेश सिन्हा

हिन्दी उपन्यास . स डॉ सुषमा प्रियदर्शिनी

हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन . डॉ गणेशन

हिन्दी उपन्यास . एक नयी दृष्टि : डॉ इन्द्रनाथ मदान

हिन्दी उपन्यासो का शिल्पगत विकास · डॉ उषा सक्सेना

हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और समीक्षा : डॉ मक्खनलाल शर्मा

हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास : स डॉ नगेन्द्र

हिन्दी उपन्यास : शिल्प और विधान : डॉ त्रिभुवन सिह

हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : डॉ त्रिभुवन सिंह

हिन्दी उपन्यास मे चरित्र चित्रण का विकास : डॉ रणवीर राग्रा

हिन्दी कथा साहित्य · गगा प्रसाद पाडेय

हिन्दी उपन्यास . बीसवी शताब्दी : प नन्ददुलारे वाजपेयी

हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य डॉ गोविन्दराम शर्मा

हिन्दी नवलेखन श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी

हिन्दी उपन्यास विवेचन . डॉ सत्येन्द्र

हिन्दी उपन्यास—शिल्प बदलते परिप्रेक्ष्य : डॉ प्रेम भटनागर

प्रेमचन्द के उपन्यासों का शिल्प विधान : डॉ कमल किशोर गोयनका

प्रेमचन्द (आज के सदर्भ में) डॉ गगाप्रसाद विमल

प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास : डॉ कैलाश प्रकाश

प्राचीन साहित्य : रवीन्द्रनाथ टैगोर

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासो की शिल्प-विधि : डॉ सत्यपाल चुघ

प्रेमचन्द चिन्तन और कला . डॉ इन्द्रनाथ मदान

प्रेमचन्द डॉ प्रतापनारायण टण्डन

प्रेमचन्द : डॉ रामविलास शर्मा

अज्ञेय साहित्य . प्रयोग और मूल्याकन : डॉ केदार शर्मा

अज्ञेय का कथा साहित्य ओम प्रभाकर

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान : डॉ देवराज

आधुनिक हिन्दी उपन्यास, उद्‌भव और विकास : डॉ. बेचन

आधुनिक हिन्दी उपन्यास : डॉ नरेन्द्र मोहन (स)

आधुनिक हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव : डॉ हरिकृष्ण पुरोहित

आधुनिक साहित्य का विकास : डॉ कृष्ण लाल

आधुनिक हिन्दी उपन्यास . भीष्म साहनी (स)

आज का भारतीय साहित्य : उपेन्द्रनाथ अश्क (स)

आस्था के प्रहरी सत्यपाल चुघ

असज का हिन्दी उपन्यास . इद्रनाथ मदान

आज का हिन्दी साहित्य सवेदना और दृष्टि डॉ रामदरश मिश्र

आत्मनेपद अज्ञेय

उपन्यास, सिद्धान्त और सरचना : रवीन्द्रकुमार जैन

जैनेन्द्र के उपन्यासो का मनोवैज्ञानिक अध्ययन : डॉ देवराज उपाध्याय

जयवर्धन की पहचान : डॉ रामदरश मिश्र (स)

द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

नागार्जुन जीवन और साहित्य : डॉ प्रकाश चन्द्र भट्ट

प्रगतिवाद और हिन्दी उपन्यास : डॉ प्रभाषचन्द्र शर्मा 'मेहता'

प्रकीर्णिका · नददुलारे वाजपेयी

बीसवी शताब्दी हिन्दी साहित्य : नये सन्दर्भ · डॉ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास . उपलब्धि और सीमाएँ . सावित्री शर्मा

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासो मे युग चेतना : डॉ बैजनाथ प्रसाद शुक्ल

भारतीय सस्कृति : गुलाबराय

भारतीय संस्कृति : प्रो शिवदत्त ज्ञानी

भारतीय सस्कृति और उनका इतिहास डॉ सत्यकेतु विद्यालकार

मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल . डॉ पारसनाथ मिश्र

मानव मूल्य और साहित्य . डॉ धर्मवीर भारती

विचार और वितर्क डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी

विश्व इतिहास की झलक . पडित जवाहरलाल नेहरू

विवेक के रग : डॉ देवीशकर

राहुल साकृत्यायन का कथा साहित्य · डॉ प्रभाकर मिर

सस्कृति के चार अध्याय : दिनकर

सस्कृति का दार्शनिक विवेचन : डॉ देवराज

संस्कृति—एक चितन : पडित देवेन्द्र मुनि शास्त्री

समीक्षात्मक निबन्ध : डॉ विजयेन्द्र स्नातर्क

स्वतंत्रता और सस्कृति : डॉ राजेन्द्रप्रसाद

सृजन की मनोभूमि : डॉ रणवीर राग्रा

साहित्यानुशीलन : शिवदान सिह चौहान

साहित्यधारा प्रकाशचन्द्र गुप्त

साहित्य, शिक्षा और सस्कृति : डॉ राजेन्द्र प्रसाद

साहित्य सहचर : डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी

स्वातत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मूल्य सक्रमण : डॉ हेमेन्द्र पानेरी

हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना : डॉ कुँवरपाल सिह

हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव . डॉ भारतभूषण अग्रवाल

हिन्दी उपन्यास पहचान और परख : डॉ इंद्रनाथ मदान (सं)

हिन्दी के राजनैतिक उपन्यासो का अनुशीलन डॉ वृजभूषण सिंह

हिन्दी उपन्यास . सृजन और सिद्धान्त . डॉ नरेन्द्र कोहली

हिन्दी उपन्यासो का मनोवैज्ञानिक मूल्याकन . आचार्य ब्रह्मनारायण शर्मा

हिन्दी उपन्यास . शिवनारायण श्रीवास्तव

हिन्दी उपन्यास : डॉ सुषमा धवन

हिन्दी साहित्य · पिछला दशक : प्रतापनारायण टडन

हिन्दी का सामायिक साहित्य : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

हिन्दी उपन्यास—एक सर्वेक्षण : महेन्द्र चतुर्वेदी

हिन्दी उपन्यास में कथाशिल्प का विकास : प्रतापनारायण टडन

हिन्दी उपरूास : शशिभूषण सिंहल

हिन्दी उपन्यास—शिल्प और प्रयोग : डॉ त्रिभुवन सिह

हिन्दी के आचलिक उपन्यास : प्रकाश वाजपेयी

हिन्दी के आचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प-विधि : डॉ आदर्श सक्सेना

हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ . लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

हिन्दी उपन्यास . सुषमा प्रियदर्शिनी (स)

उपन्यास साहित्य

अजय की डायरी	:	डॉ देवराज
अपने-अपने अजनबी	.	अज्ञेय
अलग-अलग वैतरणी	:	शिव प्रसाद सिह
अन्तराल	:	मोहन राकेश
अन्धेरे बन्द कमरे	:	मोहन राकेश
अमिता	.	यशपाल
अमृत और विष	.	अमृतलाल नागर
अनन्तर	:	जैनेन्द्र कुमार
आपका बटी	:	मन्नू भडारी
आधा गॉव	:	राही मासूम रजा
उग्रतारा		नागार्जुन
उखडे हुए लोग	:	राजेन्द्र यादव
उसका घर	.	मेहरुन्निसा परवेज
ऋतुचक्र	:	इलाचन्द्र जोशी
एक और अजनबी	.	सुरेश सिन्हा
कसप	:	मनोहर श्याम जोशी
कुभीपाक	:	नागार्जुन
जहाज का पछी	:	इलाचन्द्र जोशी
जयवर्धन	:	जैनेन्द्र कुमार
जिप्सी (त्याग का भोग)		इलाचन्द्र जोशी

जो		प्रभाकर माचवे
जिन्दगीनामा	:	कृष्णासोबती
झूठा सच		यशपाल
वे दिन		निर्मल वर्मा
शहर मे घूमता आईना		उपेन्द्र नाथ अश्क
सत्ती मेभा का चौरा	.	भैरव प्रसाद गुप्त
टूटते बिखरते लोग	:	योगेश गुप्त कुमार
डाकबॅगला	:	कमलेश्वर
तीस चालीस पचास	:	डॉ प्रभाकर माचवे
दर्द के पैबन्द		डॉ प्रकार माचवे
दिगबरी	.	सूर्यकुमार जोशी
द्वाभा	.	डॉ प्रभाकर माचवे
दिवोदास	:	राहुल साकृत्यायन
दूसरी तरफ	:	महेन्द्र भल्ला
धूपछॉही रग	:	गिरीश अस्थाना
न आने वाला कल	:	मोहन राकेश
नई पौध	.	नागार्जुन
नदी के द्वीप	:	अज्ञेय
बलचनमा	.	नागार्जुन
बाबा बटेसरनाथ	:	नागार्जुन
बेघर		ममता कालिया

बूँद और समुद्र		अमृत लाल नागर
बीज	.	अमृतराय
भूले बिसरे चित्र	.	भगवती चरण वर्मा
मछली मरी हुई	:	राजकमल चौधरी
मैला ऑचल	·	फणीश्वरनाथ रेणु
मनुष्य के रूप	:	यशपाल
मुक्तिपथ	.	इलाचन्द्र जोशी
यह पथ बन्धु था		नरेश मेहता
रागदरबारी	.	श्रीलाल शुक्ल
रुकोगी नही राधिका?		उपा प्रियवदा
लाल पीली जमीन	.	गोविन्द मिश्र
तमस		भीष्म साहनी
रात का रिपोर्टर	:	निर्मल वर्मा
ठाई घर	:	गिरिराज किशोर
पाहीघर	:	कमलाकान्त त्रिपाठी
बेदखल	:	कमलाकान्त त्रिपाठी
चाक, अल्मा कबूतरी, झूला नट	:	मैत्रेयी पुष्पा
सात आसमान	:	असगर वजाहत
उन्माद	:	भगवना सिह
सेवासदन, रगभूमि, गोदान, प्रेमाश्रम, गबन	·	प्रेमचन्द्र
परीक्षा गुरु		लाल श्रीनिवास दास

देवरानी जेठानी की कहानी		प गौरीदत्त
भाग्यवती	.	श्रद्धाराम फिल्लौरी
नूतन ब्रह्मचारी	:	बालकृष्ण भट्ट
सौ अजान एक सुजान	:	बालकृष्ण भट्ट
सौन्दर्योपासक	:	ब्रजनन्दन सहाय
श्यामास्वप्न	·	ठाकुर जगमोहन सिह
प्रणयिनी परिणय	:	किशोरी लाल गोस्वामी
हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी	:	किशोरी लाल गोस्वामी
लवगलता वा आदर्श बाला		किशोरी लाल गोस्वामी
तारा वा छात्रकुल कमलिनी		किशोरी लाल गोस्वामी
सुलताना राजियाबेगम व रगमहल मे हलाहल	.	किशोरी लाला गोस्वामी
चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता सन्तति	:	देवकीनदन खत्री
गिरती दीवारे	:	उपेन्द्रनाथ अश्क
धूर्त रसिक लाल	:	लज्जाराम शर्मा
आदर्श दम्पत्ति	:	लज्जाराम शर्मा
बिगडे का सुधार अथवा सती सुखदेवी	:	लज्जाराम शर्मा
विपत्ति की कसौटी	:	मेहता लज्जाराम शर्मा
अगूठी का नगीना	:	मेहता लज्जाराम शर्मा
लाल कुँवर वा शाही रगमहल	.	किशोरी लाल गोस्वामी
ठेठ हिन्दी का ठाठ	:	अयोध्या सिह उपाध्याय 'हरिऔध'
अधखिला फूल	·	अयोध्या सिह उपाध्याय 'हरिऔध'

गेरुआ बाबा		गोपाल राम गहमरी
देहाती दुनियॉ	·	शिवपूजन सहाय
गोद, अतिम आकाक्षा, नारी		सियाराम शरण गुप्त
ककाल, तितली	:	जयशकर प्रसाद
त्यागपत्र		जैनेन्द्र
शेखर : एक जीवनी		अज्ञेय
पुनर्जन्म वा सौतिया दाह	.	किशोरी लाल गोस्वामी
डूब, पार		वीरेन्द्र जैन
मुखडा क्या देखे		अब्दुल विस्मिल्लाह
झीनी झीनी बीनी चदरिया		अब्दुल विस्मिल्लाह
पहला गिरमिटिया, ढाई घर	:	गिरिराज किशोर
कलिकथा : वाया वाइपास	:	अलका सरावगी
कालकथा	:	कामतानाथ
कितने पाकिस्तान	:	कमलेश्वर
मुशी रायजादा	:	लक्ष्मीकान्त वर्मा
दीवार मे एक खिड़की रहती थी	:	विनोद कुमार शुक्ल
उस चिडिया के नाम	:	पकज विष्ट
मुझे चॉद चाहिये	·	सुरेन्द्र वर्मा
अतिम अरण्य		निर्मल वर्मा

ENGLISH LITERATURE

Title	Author
Aspects of Nvel	E M Foster
A Study of History	Arnold Toyanbee
Discovery of India	Jawaharlal Nehru
Existentialism	Albert Camus
Essay in Metaphysics Existence and Being	Martin Heidgger
East and West Some Reflections	Dr Radhakrishnan
Essential Features of Indian Culture	Sardar M M Panikkar
Glories of India	Dr P K Acharya
Guide to Modern thought	C E M Joad
Notes Towards the Definition of Culture	T S Eliot
Novel and the People	Rol Phox
Our Hertitage	Dr Radhakrishnan
Primitive Culture	E B Tylor
Study in European Realism	Lakacs George
Tendencis of the Modern Novel	Hugh Walpole and others
The Crisis of India	Ronald segal
The Crisis of Faith	Dr Radhakrishnan
To the Youth of India	Vivekananda
What is Literature?	Jean Paul Satre
An Introduction to the English Novel	Arnold Kettle
Epic & Romance	W P Ker
War and Peace (Hindi Translation)	Tolstoy
History of the Adventures of Joseph Andrews (Perface only)	Henry Feilding
History of Tom Jones (Perface only)	Henry Feilding

पत्र-पत्रिकाएँ

1 आलोचना

2 समीक्षा

3 हिन्दी वार्षिकी

4 कल्पना

5 धर्मयुग

6 समालोचक

7 माध्यम

8 उत्कर्ष

9 सचेतना

10 विवेचना (सकलन, खण्ड 2)

11 साहित्य-सदेश

12 हस

13 आजकल

14 साहित्य अमृत

15 समकालीन साहित्य

16 कथ्य रूप

17 कथा क्रम

18 कथा

19 साक्षात्कार

20 समीक्षा

21 वागर्थ

22् पप प्रतिपल

23 पहल

24 अभिप्राय

25 सहचर

26 दस्तावेज

27 नारग

28 साखी

29 इन्द्रपस्थ भारती

30 कहानी

31 हिन्दुस्तानी

32 समकालीन सृजन

33 तद्भव

34 बहुवचन

कोश

हिन्दी साहित्य कोश दोनो भाग

बृहत हिन्दी कोश—प्रधान स डॉ धीरेन्द्र वर्मा।

मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खड)—स डॉ नगेन्द्र।

हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास (षोडष भाग)—स राहुल साकृत्यान और कृष्णदेव उपाध्याय।